

# THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

[WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC](http://WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC)

---

## FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

**If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.**

**-The TFIC Team.**



श्री जवाहर किरणावली—किरण-११, १२.

# सम्यक्त्वपराक्रम

भाग—४, ५

प्रवचनकार

पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा.

संपादक

श्री पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, व्यायतीर्थ

प्रकाशक

श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर

( बीकानेर, राजस्थान )

प्रकाशक :

मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति  
भीनासर ( बीकानेर, राजस्थान )

द्वितीय संस्करण

मई, १९७३.

प्रति—११००

मूल्य: तीन रुपये पचहत्तर पैसे.

मुद्रक:

जैन आर्ट प्रेस

( श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित )  
रांगडी मोहल्ला, बीकानेर.



## प्रकाशकीय

‘सम्यक्त्वपराक्रम’ पाच भागो मे जवाहर किरणावली किरण ८, ९, १०, ११, १२ के रूप मे पहले प्रकाशित हुआ था । उक्त भागो मे पहले तीन भाग अप्राप्य हो जाने और पाठको की माग को ध्यान मे रखकर पुन उनके द्वितीय संस्करण प्रकाशित किये जा चुके हैं तथा चौथे और पाचवें भागो के भी अप्राप्य हो जाने से इन दोनों भागो को संयुक्त रूप मे पुन. प्रकाशित कर रहे हैं ।

सम्यक्त्वपराक्रम उत्तराध्ययन सूत्र का सर्वोत्कृष्ट अध्ययन है । इसमे आध्यात्मिक विकास का सजीव उपाय बताया गया है । पूज्य जवाहराचार्य ने अपने प्रवचनों के द्वारा इस अध्ययन की सरल से सरलतम व्याख्या कर आशय को समझने के लिये विशेष सुविधाजनक बना दिया है । जिससे साधारण-से साधारण पाठक अध्ययन की विशेषताओं को सरलता से समझ सकता है ।

धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकुवरवाई मालू बीकानेर ने श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य प्रकाशन के लिये धन-राशि प्रदान की थी । बहिनश्री की भावना के अनुसार समिति की ओर से साहित्य-प्रकाशन का कार्य चल रहा है । इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण का प्रकाशन भी बहिनश्री की ओर से प्राप्त राशि से किया जा रहा है । सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिये बहिनश्री की अनन्यनिष्ठा चिर-स्मरणीय रहेगी ।

यद्यपि आजकल कागज, छपाई आदि का रान काकी बढ़ गया है और समय को देखते हुए भविष्य में और बढ़ते जाने की सम्भावना है । लेकिन समिति अपनी निर्धारित नीति के अनुसार लागत मूल्य पर साहित्य-प्रकाशन का कार्य कर रही है ।

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन मघ और उगके द्वारा संचालित जैन आर्ट प्रेस का प्रकाशन कार्य में पूरा सहयोग प्राप्त है । जिससे समिति द्वारा अनेक अप्राप्य किरणावलियों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं और प्रकाशित हो रहे हैं । एतदर्थ समिति की ओर से धन्यवाद देते हैं ।

निवेदक

**चंपालाल बांठिया**

मन्त्री-श्री जवाहर साहित्य समिति  
भीनासर (बीकानेर-राजस्थान)

✽ विषयानुक्रमणिका ✽

पैंतीसवां बोल — आहारप्रत्याख्यान	...	१
छत्तीसवां बोल — कषायप्रत्याख्यान	...	१३
सैंतीसवां बोल — योगप्रत्याख्यान	...	२६
अड़तीसवां बोल — शरीरप्रत्याख्यान	...	३६
उनचालीसवां बोल — सहायप्रत्याख्यान	...	५१
चालीसवां बोल — भक्तप्रत्याख्यान	...	६३
एकतालीसवां बोल — सद्भाव प्रत्याख्यान	...	७६
बयालीसवां बोल — प्रतिरूपता	...	८३
तेतालीसवां बोल — सेवा	...	१११
चवालीसवां बोल — सर्वगुणसपन्नता	...	१२३
पैतालीसवां बोल — वीतरागता	...	१३०
छयालीसवां बोल — क्षमा	...	१३६
सैंतालीसवां बोल — अलोभवृत्ति	...	१६७
अड़तालीसवां बोल — ऋजुता	...	१७६



# सम्पत्त्वपराक्रम पांचवे भाग की

## ❧ विषयानुक्रमणिका ❧

उनचासवां बोल-- मृदुता	...	१८३
पचासवां बोल-- भावनग्य	...	२००
इष्यावनवा बोल-- करणगत्य	...	२२२
वावनवा बोल-- योगनग्य	...	२२७
तिरेपनवां बोल-- मनांगुप्ति	...	२३७
चौपनवा बोल-- वचनगुप्ति	...	२४६
पचपनवां बोल-- कायगुप्ति	...	२५३
छप्पनवा बोल-- मन-समाधि	...	२५८
सत्तावनवा बोल-- वचन-समाधि	...	२६८
अट्ठावनवा बोल-- काय-समाधि	...	२७०
उनसठवां बोल-- ज्ञानसम्पन्नता	...	२७७
साठवा बोल-- दर्शनसम्पन्नता	...	२८६
एकसठवां बोल-- चारित्र्यसम्पन्नता	...	२८८
बासठ से छांसठवा बोल-- इन्द्रिय-निग्रह	...	३०२
सड़सठवां बोल-- शोधविजय	...	३१४
अडसठवां बोल - मानविजय	...	३२३
उनहत्तरवा बोल - मायाविजय	...	३३५
सत्तरवां बोल - लोभविजय	...	३४३
एकत्तरवां बोल-- राग द्वेष-मिथ्यादर्शनविजय	...	३५१
वहत्तर-तेहत्तरवां बोल-- शैलेयी तथा निष्कर्मता	...	३६५
उपसहार	...	३७५



# साम्यकत्वपराक्रम

## चतुर्थ-पंचम भाग



चतुर्थ भाग

[ १ से १६० ]



पंचम भाग

[ १६१ से ३८३ ]



# चौतीसवां बोल

## आहारप्रत्याख्यान

वस्तुतः- अरत्मा और परमात्मा एक है । आत्मा में ज्ञान की किसी प्रकार की कमी नहीं है, परन्तु उसके ज्ञान पर आवरण आया हुआ है । वह ज्ञानावरण क्रिया के बिना दूर नहीं हो सकता । इसीलिए शास्त्र में उसे क्रिया द्वारा नष्ट करने का उपदेश दिया गया है ।

चौतीसवे बोल में उपाधि के त्याग के विषय में कहा जा चुका है । जो व्यक्ति उपाधि या उपाधि का त्याग करता है वह अपनी शक्ति के अनुसार आहार का त्याग करता है । अतः गौतम स्वामी अब भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न--आहारपचक्खाणेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर -- आहारपचक्खाणेणं जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दइ, जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता जीवे आहार-  
मवरेणं न संकिलिस्सइ ॥ ३५ ॥

## २-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! आहार का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—आहार का त्याग करने से आत्मा जीवन की लालसा नष्ट हो जाने के कारण आहार के अभाव में खेद नहीं पाता ।

### व्याख्यान

यह सूत्रपाठ बहुत सारपूर्ण है । इसमें महत्वपूर्ण बोधपाठ मौजूद है । शास्त्र का प्रत्येक वाक्य अर्थसूचक है । यहाँ लाभ पर विचार करना है कि आहार का त्याग करने से जीव को क्या होता है ?

यह शरीर आहार पर ही टिका हुआ है । यह सही है कि शरीर को टिकाये रखने के लिए और-और वस्तुएं भी सहायक हैं, परन्तु उनमें प्रधानता आहार की ही है । मकान या वस्त्रों के अभाव में जीवन कायम रह सकता है । अफ्रीका के एक प्रदेश के विषय में सुना जाता है कि वहाँ के निवासी वस्त्र नहीं पहनते, नग्न ही रहते हैं । जब वस्त्र ही नहीं पहने जाते तो आभूषण पहनने का प्रयत्न ही उपस्थित नहीं होता । यह बात सभी समझते हैं कि मनुष्य मकान और कपड़ों के बिना भी जीवित रह सकता । मगर तुमने कभी सुना है कि आहार के बिना भी कोई प्राणी जीवित रह सकता है ? वास्तव में जीवन कायम रखने के लिए आहार की अनिवार्य आवश्यकता है और इसी कारण प्राण की व्याख्या करते हुए अन्नमयप्राण कह गया है ।



जब शरीर आत्मा से भिन्न है, इस प्रकार का भेदज्ञान होता है और जब वैराग्य की उत्पत्ति होती है, तब शारीरिक परतन्त्रता दूर करने के लिए और आत्मा को शरीर-बन्धन से मुक्त करने के लिए धर्मात्मा पुरुष आहार का त्याग करते हैं। आहार के इस त्याग से जीव को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से किया है।

आहार का त्याग करना सरल नहीं है। शरीर-आत्मा का भेदज्ञान, स्व-पर की पहिचान तथा उत्कृष्ट वैराग्य जब उत्पन्न होता है, तभी आहार का त्याग किया जा सकता है। इन प्रकार आहार का त्याग करने वाला जीवन की आशा ही त्याग देता है।

जीवन की आशा त्याग देने से होने वाला लाभ, शास्त्र में आये हुए एक कथन का उल्लेख करके समझाना है। भृगु पुरोहित के दोनो पुत्रों ने अपने पिता को जीव की स्थिति बतलाते हुए कहा था -

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,

इमं च मे किञ्चमिमं अकिञ्चं।

त एथमेवं लालप्पमाण,

हारा हरन्ति इति कहं पमाए ॥

यह मेरा है, यह मेरा नहीं है, यह काम मुझे करना है, यह काम मुझे नहीं करना है, इस प्रकार की घटना ससार में दिन-रात चलती रहती है। जीवन छोटा और काम बहुत हैं। ऐसी स्थिति में कोई भी पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार अपना काम पूरा नहीं कर सकता। आज दिन तक ऐसा नहीं हुआ कि किसी ने ससार के सब काम

पूरे कर दिये हों और वह कृतकृत्य हो गया हो । ऐसा ही भी नहीं सकता । प्रत्येक जीव को यही तृष्णा लगी रहनी है कि मैंने अमुक-अमुक काम तो कर लिए हैं मगर अब अमुक काम करने शेष हैं ! इस तृष्णा का पूर्ति कभी होती ही नहीं । उदाहरणार्थ—कठ के आभूषण तैयार हुए कि हाथ के आभूषणों की बात चलने लगती है और हाथ के आभूषण भी कदाचित् तैयार हो गए तो पैरों के गहने तैयार करने की इच्छा हो जाती है । इसी प्रकार चादी के आभूषण हो तो सोने के और सोने के हो तो हीरा-माणिक के जेवर गढ़वाने की लालसा बढ़ती ही जाती है । इस तरह ससार में तृष्णा का कहीं अन्त नहीं आता, वह तो उत्तरो-त्तर बढ़ती ही जाती है । परन्तु जब आत्मा में शरीर-आत्मा का भेदविज्ञान प्रकट होता है, तब आत्मा इन सब वस्तुओं का त्याग कर देता है और तृष्णा को जीतकर सतीपामृत का पान करता है । आत्मा जब सतुष्ट बनती है तभी उसे शांति का अनुभव होता है, अन्यथा यह आत्मा तृष्णा नदी में ब्रता और गोते खाता हुआ दुःख उठाता है । पर भेदज्ञानी आत्मा ससार की बहुमूल्य समझी जाने वाली वस्तुओं को भी तुच्छ समझकर उनका त्याग कर देता है ।

पुत्रोहित-पुत्र कहते हैं—पिताजी, इस प्रकार सासारिक कार्य तो बहुत हैं और उन कार्यों के लिए हाय-हाय भी बहुत करनी पड़ती है । परन्तु जिसके आधार पर यह सब काम किये जाते हैं वह आयुष्य भी प्रतिक्षण क्षीण होना जाता है । जब आयुष्य ही क्षीण हो जाता है तो सासारिक कार्य पूर्ण किस प्रकार होंगे ? कोई नहीं जानता, आयु कब पूर्ण

हो जायेगी ? महान् पुरुषों को भी पता नहीं होता कि कल क्या होने वाला है ? फिर भी समार मे प्राणीमात्र को सासारिक कार्यों की हाय-हाय लगी रहती है । कहने का आशय यह है ससार-सबधी लालसा बढती ही चली जाती है और जो बढती हो चली जातो है, वह पूर्ण कैसे हो सकती है ? लालसा की पूर्ति तो तभी समभव है, जब उसकी मर्यादा बाध ली जाये और उस मर्यादा के अनुसार आशा पूरी करने के लिए आयुष्य भी हो लालसाको वृद्धि करते रहने से वह पूरी नहीं हो सकती । आशा की पूर्ति तो लालसा का त्याग करने से ही होती है । आहार का त्याग करने वाला आशा-लालसा का त्याग कर देता है । वस्तुतः जो व्यक्ति आशा-लालसा का त्याग करने के लिए ही आहार का त्याग करता है, उसी व्यक्ति का आहार-त्याग उचित कहा जा सकता है ।

इस प्रकार आशा का त्याग करने के लिए, जो व्यक्ति आहार का त्याग करता है, उसे आहार-त्याग करने से किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय मे गौतम स्वामी ने भगवान से प्रश्न किया है । गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान ने कहा—आशालता का उच्छेद करने के लिए आहार का त्याग करने वाला सर्वप्रथम तो जीवन-जीने की लालसा त्याग देता है । वह विचारता है कि शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है । इस प्रकार भेदविज्ञान पैदा होने से वह आहारत्याग के साथ जीवित रहने की आशा का भी त्याग कर देता है । वह अनशनव्रत स्वीकार कर लेता है ।

अनशनव्रत दो प्रकार का है—इत्वरिक अनशन और

## ६-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

यावज्जीवन अनशन । यावज्जीवन अनशन तो कोई विरला ही करता है, परन्तु इत्वरिक अनशन का अभ्यासी पुरुष यावज्जीवन अनशन करने का साहस कर लेता है । इत्वरिक अनशन करना एक प्रकार से यावज्जीवन अनशन करने का अभ्यास करना ही है ।

कुछ लोगो का कहना है—'जैन आहार का त्याग करते हैं, यह भी एक प्रकार की हिंसा है । आहार का त्याग करना या मरना दोनों बातें समान हैं । आहार के बिना शरीर टिक नहीं सकता । कड़कड़ाती भूख लगने पर अगर भोजन नहीं खाया जाता तो उस समय शरीर का रक्त मांस खाया जाता है । इस प्रकार आहार का त्याग करना आत्महत्या करने के समान है ।

गीता के एक श्लोक का अर्थ करते हुए भी कुछ लोग इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करते हैं । मगर ऐसा कहने वाले लोग भूल करते हैं । आहार-त्याग करना अथवा उपवास करना जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक है । अनेक लोग इस समय भी उपवास का महत्व समझ कर उसे प्राकृतिक औषध के रूप में स्वीकार करते हैं । उपवास करने से शरीर का रक्त-मांस नहीं खाया जाता । उपवास करने से शरीर कृश अवश्य होता है, मगर उससे शरीर को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती । शरीर कृश होने से शारीरिक शक्ति का ह्रास नहीं हो जाता । आजकल वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा दूध सुखा लिया जाता है और उसका ठोस पदार्थ बना लिया जाता है । उसे पानी में मिलाने से फिर वह दूध बन जाता है । जैसे उस दूध में की शक्ति नष्ट नहीं होती उसी प्रकार उपवास करने से शरीर के कृश हो

जाने पर भी उसकी शक्ति का नाश नहीं होता । इसके विपरित्त यदि उपवास विधिपूर्वक किया जाये और उपवास समाप्त होने पर शीघ्र ही आहार की वृद्धि न की जाये तो शरीर की कृशता के दूर हो जाने के साथ ही साथ शरीर के रोग भी समूल नष्ट हो जाएंगे । यह बात कपोलकल्पित नहीं, अनुभूत है । जिसे इस कथन में सदेह हो वह अपना वजन करके कम से कम एक दिन का उपवास कर देखे और दूसरे दिन फिर वजन करे । उसे विश्वास हो जायेगा कि उपवास करने से किसी भी प्रकार शारीरिक शक्ति क्षीण नहीं होती ।

उपवास से शरीर कृश हो जाता है और रोग से भी शरीर कृश हो जाता है । मगर दोनों प्रकार की कृशता में बहुत अन्तर है । लोग उपवास के अभ्यासी नहीं, दवा के अभ्यासी हैं और इसी कारण उन्हें उपवास करने से शरीर के निर्बल, निस्तेज और कृश हो जाने की भ्रान्ति बनी हुई है । वास्तव में उपवास तो शरीर को स्वस्थ बनाने की एक अमोघ प्राकृतिक औषध है । अगर इस प्राकृतिक औषध का महीने में छह बार सेवन किया जाये तो शरीर में किसी प्रकार का रोग ही न रहने पाए और न डाक्टर की शरण में जाना पड़े । मगर जब हम उपवास करने का उपदेश देते हैं तो तुम हमारे कथन की उपेक्षा करते हो और जब बीमार पड़ते हो और डाक्टर ६-७ दिन के लिए लघन-उपवास करने की सलाह देता है तब इच्छा या अनिच्छा से भी तुम्हें उपवास करने के लिए मजबूर होना पड़ता है । अगर प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति के नियमों का बराबर पालन करे और स्वेच्छापूर्वक प्रतिमास ४-६ उपवास करने की

आदत डाले तो शरीर रोगी न बने और और न डाक्टर की शरण लेना पड़े ।

सिर्फ शरीर को स्वस्थ रखने के उद्देश्य में किये जाने वाले उपवास परिपूर्ण नहीं कहे जा सकते । ऐसे उपवास से शारीरिक लाभ होता है परन्तु सच्चा उपवास तो वही है जो आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए किया गया हो । उपवास की व्याख्या करते हुए कहा गया है—‘उप समीपे वसतीति उपवासः ।’ अर्थात् आत्मा को परमात्मा के समीप पहुँचाने के लिए आत्मध्यान करना और आत्मचिन्तन करने के लिए आहार का त्याग करके जीने की आशा का भी त्याग कर देना ही सच्चा उपवास है । उपवास तो परमात्मा के पास पहुँचने का एक मार्ग है । इस प्रकार सच्चा उपवास करने से शरीर-स्वास्थ्य का आनुषंगिक लाभ तो होगा ही, परन्तु उपवास का असली प्रयोजन-परमात्मा के निकट पहुँचना भी सिद्ध होगा । जैसे पतिहारी अपने घर के लिए बड़े में पानी भर लाती है और इस कारण वह शकुनवती भी कहलाती है, उसी प्रकार परमात्मा के शरण में जाने के लिए किये गए उपवास से आत्मिक लाभ के साथ शारीरिक लाभ भी होता है ।

उपवास करने से परमात्मा के शरण में किस प्रकार जा सकते हैं तथा परमात्मा के शरण में जाने के लिए आत्मा को क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में गीता में कहा हैः—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

अर्थात् निराहार रहने से विषयरूपी पक्षी तो उड़

जाता है परन्तु विषयों की वासना नहीं मिटती । विषयों की जो वासना उपवास करने पर भी शेष रह जाती है, उस वासना का उच्छेद करने के लिए परमात्मा का शरण ग्रहण करना आवश्यक है । उपवास करने से विषय तो दूर हो जाते हैं परन्तु विघ्नरूप जो वासना बाकी रह जाती है वह परमात्मा के शरण में जाकर दूर की जा सकती है । तपश्चरण द्वारा विषयेच्छा भी समूल नष्ट की जा सकती है और इसीलिए बाह्य तथा आभ्यन्तर तपश्चरण किया जाता है । बाह्य तपश्चरण से विषय निवृत्त हो जाते हैं और आभ्यन्तर तप द्वारा अर्थात् परमात्मा का शरण ग्रहण करने से विषयो की वासना भी मिट जाती है और चित्त की शुद्धि भी हो जाती है ।

आज के लोग दवा के ऐसे अभ्यासी बन गए हैं कि दवा के नाम पर वे अखाद्य और असेव्य पदार्थ भी खा जाते और सेवन करते हैं । इस प्रकार की भ्रष्ट दवा से बचने के लिए तथा अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए उपवास करना शारीरिक और आत्मिक विकास की दृष्टि में अत्यावश्यक है । तपश्चरण करने वाला भ्रष्ट दवा के सेवन से बच सकता है और अपने अन्तःकरण को भी शुद्ध कर सकता है ।

कोई-कोई लोग उपवास के नाम पर खान पान में ही मशगूल रहते हैं । कल उपवास करना है, ऐसा विचार करके कुछ लोग हलुवा आदि गरिष्ठ पदार्थों से पहले ही पेट भर लेते हैं । जैनशास्त्रों का कथन है कि उपवास की यह विधि नहीं है । धारणा और पारणा के दिन एक ही बार भोजन करने से चतुर्थभक्त उपवास होता है । अर्थात् धारणा के

## १०-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

दिन एक बार का भोजन त्यागने से, पारणा के दिन एक बार का भोजन त्यागने से और उपवास के दिन दो बार का भोजन त्यागने से ही चतुर्थभक्त उपवास कहलाता है । खान पान की लालसा रोककर विधिपूर्वक उपवास करने वाला अनेक गुना लाभ प्राप्त करता है ।

हम तुम सब लोगो को सुख का ही मार्ग बतलाते हैं और कहते हैं कि सुख कुछ बाहर से नहीं आता । सुख कहा से आता है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददाति कुबुद्धिरेषा ॥

अर्थात्—अविवेकी लोग ही कहते हैं कि दूसरे ने हमें सुख या दुःख दिया है । ज्ञानीजनो का कहना है कि दूसरा न सुख दे सकता है और न दुःख ही देसकता है । तुम भी शायद यह समझते हो कि दूसरो ने हमें अमुक दुःख दिया है, परन्तु अगर तुम अपना मन शान्त और पवित्र रखो तो कदापि नहीं कह सकोगे कि कोई दूसरा हमें सुख-दुःख देता है । मन को शान्त और पवित्र रखने से दुःख पैदा ही नहीं होता । अतएव अपना मन शान्त और पवित्र बनाने के लिए परमात्मा तथा तपश्चरण का शरण ग्रहण करो । अपनी आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता और हर्त्ता है, ऐसा मानने से दुःख भी सुख में परिणत हो जाता है । केतुमती ने अजना को मातृगृह भेज दिया था और मायके वालों ने भी अपने घर न रखकर जंगल में भेज दिया था । परन्तु अजना ने जंगल में भी यही माना कि सास ने मुझ पर कितनी बड़ी कृपा की कि मुझे जंगल में भेज दिया और मुझे जंगल में महात्मा के दर्शन का लाभ हुआ ! इस प्रकार अजना ने अपने दुःख को भी सुख रूप में परिणत कर लिया । क्या



तुम भी सकट के समय शान्ति धारण करते हो? तुम अजना का नाम स्मरण करते हो, परन्तु अजना का नाम स्मरण किसलिए करते हो इसका भी विचार करो और मन को शान्त तथा पवित्र रखने का प्रयत्न करो ।

यहा 'मोरबी' के दीवान साहब कहते थे कि चार महीनो तक व्याख्यान सुनने के बाद भी हम लोग तो जैसे के तैसे ही रहेंगे । क्या दीवान साहब का कथन सही है ? तुम कैसे भी रहो, इस विषय मे मुझे किसी प्रकार का दुर्भाव नही लाना चाहिए । मुझे यह भी विचार नही करना चाहिए कि मैंने इतना उपदेश दिया मगर परिणाम कुछ भी न आया । मुझे तो यह विचारना चाहिए कि मैं जो कुछ करता हूँ, अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिए ही करता हूँ । दूसरा कोई सुधरे या न सुधरे, इस झगड़ मे मुझे नही पडना चाहिए । इस प्रकार विचार कर मुझे तो ऐसा प्रयत्न करना है कि मेरी आत्मा को सुख-शान्ति मिले ! शास्त्र मे दो प्रकार के निमित्त कारण बतलाये हैं पुष्ट और अपुष्ट । जो निमित्त कारण केवल सबध जोडते हैं वे पुष्ट कहलाते हैं और जो सम्बन्ध जोडते भी है और तोडते भी हैं, वे अपुष्ट निमित्तकारण कहलाते हैं । पुष्ट निमित्तकारण सबध जोडता है, तोडता नही है । जैसे फूल तेल को फुलेल तो बना देता है मगर उसके चिकनेपन को नष्ट नही करता । अत तेल फुलेल होने पर भी पहले की भांति जल सकता है । अपुष्ट कारण चाक को घुमाने वाले डंडे के समान होता है । वह घडा बनाता भी है और घड़े को नष्ट भी कर सकता है ।

साधु दूसरो के दिल को जोडने वाला होना चाहिए,

## १२-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

तोड़ने वाला नहीं । अर्थात् साधु को किसी का दिल नहीं दुखाना चाहिए । साधु दूसरे का सुधार भले चाहे, मगर उसका दिल दुखाकर नहीं, त्यागधर्म का उपदेश देकर, उसे समझा-बुझाकर उसके जीवनसुधार का प्रयत्न करना चाहिए । साधु जो कुछ करे, कर्म की निर्जरा के लिए करे । इसी में स्व-पर का लाभ है । त्याग एक ऐसी वस्तु है कि जिससे हानि होने का कुछ भी भय नहीं है । त्याग से कल्याण ही होता है । त्यागमार्ग कल्याण का मार्ग है ।



# दुत्तोसवां बोल

## कषायप्रत्याख्यान



शास्त्र कहता है—आत्मन् ! तुझमें अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है । तू उसका उपयोग नहीं करता, यह तेरी भूल है । तू अपने शक्ति-सामर्थ्य को काम में ले । आत्मा के सामर्थ्य को विकसित करने के लिए त्याग करने की आवश्यकता रहती है । त्याग के विषय में ही यहाँ विचार चल रहा है । गौतम स्वामी अब कषाय के त्याग के विषय में प्रश्न करते हैं—

### मूलपाठ

प्रश्न—कषायपच्चक्खाणेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—कषायपच्चक्खाणेण वीयरगभावं जणयइ, वीयरगभावपडिवप्पे वि यणं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कषाय का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर--कषाय के त्याग से वीतराग भाव उत्पन्न होता है और वीतराग भाव को प्राप्त जीव के लिए दुःख और सुख समान बन जाते हैं ।

### व्याख्यान

कषाय-त्याग के विषय में विचार करने से पहले यह विचारणीय है कि आहारप्रत्याख्यान के बाद कषायप्रत्याख्यान के विषय में प्रश्न क्यों किया गया है ? आहार-प्रत्याख्यान के साथ कषायप्रत्याख्यान का क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि सभोगप्रत्याख्यान, उपविप्रत्याख्यान और आहारप्रत्याख्यान नभी सफल होते हैं, जब कषाय का त्याग कर दिया जाय । कषाय का त्याग किये बिना ऊपर के सभी त्याग सफल सिद्ध नहीं होते । सभोग, उपवि और अ'हार आदि का त्याग भी कषाय का त्याग करने के उद्देश्य में ही किया जाता है ।

सभोग में रहने से किसी को कुछ कहने और सुनने का प्रसंग आ जाता है । इसमें वचने के लिए संभोग का त्याग किया जाता है । उपवि रखने में सदैव यह भय बना रहता है कि कोई उसे ले न जाये, इस भय से मुक्त होने के लिए उपवि त्याग किया जाता है । आहार के लिए अनेक प्रकार के क्रूर कर्म भी करने पड़ते हैं और अनेक प्रकार की उपाधियाँ भी बहोरनी पड़ती हैं । इनसे छुटकारा पाने के लिए आहार का त्याग किया जाता है । परन्तु जब तक कषाय का त्याग नहीं किया जाता तब तक यह सब त्याग निष्फल है अथवा अल्प फलदायी ही सिद्ध होता है ।

कषाय का त्याग करने पर भी अगर सभोग, उपवि

और आहार आदि का त्याग सफल होता तो कुटुम्बक्लेश के कारण घर का त्याग कर देने वाले लोग भी सभोग के त्यागी कहलाते । इसी प्रकार बहुत से लोगो के पास किसी प्रकार की उपधि नहीं होती तो क्या वे उपधि के त्यागी माने जा सकते हैं ? क्या उन्हें साधुओ की श्रेणी में रखकर वदन-नम-कार किया जा सकता है ? नहीं । पशु निरुपधि होने पर भी उपधि के त्यागी नहीं कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने ज्ञानपूर्वक उपधि का त्याग नहीं किया है । इसी प्रकार दुष्काल के समय बहुत से लोग अन्न के अभाव में मर जाते हैं । क्या उन्हें आहार का त्यागी कहा जा सकता है ? नहीं । क्योंकि उनके पास आहार नहीं है और उन्हें अनिच्छापूर्वक आहार का त्याग करना पड़ता है । अगर उन्हें आहार उपलब्ध होता तो वेस्वेच्छापूर्वक उसका त्याग करने के लिए तैयार नहीं थे । कहने का आशय यह है कि सभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग कषाय का त्याग करने के लिए ही किया जाता है । कषाय के त्यागी बने बिना सभोग, उपधि और आहार आदि का त्याग सफल नहीं हो सकता ।

कषाय का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि कषाय का त्याग करने से सभोग, उपधि और आहार का त्याग सफल होता है तथा जीवन में वीतरागभावना उत्पन्न होती है ।

कषाय के त्याग से किस प्रकार वीतरागभावना उत्पन्न होती है, इस विषय पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि कषाय क्या है और किसलिए

उसका त्याग किया जाता है ?

जिससे ससार की वृद्धि होती है वह कषाय है । अर्थात् राग और द्वेष, जो कर्मबीज हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ जो ससारवृद्धि के कारण हैं, उन्हें कषाय कहते हैं । जिन मलीन परिणामों द्वारा नरक आदि की प्राप्ति या वृद्धि होती है, वह मलीन परिणाम भी कषाय है । संक्षेप में, जिस चित्तवृत्ति द्वारा ससार की वृद्धि हो वह कषाय है ।

शास्त्रकारों ने कषाय का स्वरूप बतलाते हुए कहा है-

कोहो य माणो य अनिगहीया,  
माया य लोहो य पवडढमाणा ।  
चत्तारि एए कसिणा कसाया,  
सिचंति मूलाइं पुणवभवस्स ॥

अर्थात्- पुनर्जन्म की जड़ को सीचने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं । क्रोध और मान का निग्रह करना कठिन है और माया तथा लोभवृत्ति बढ़ती जाने वाली है अर्थात् माया तथा लोभ का कहीं अन्त नहीं है । यह हमेशा बढ़ते ही चले जाते हैं । यह कषाय ससारवृद्धि करने वाले हैं , अतः त्याज्य ही हैं ।

कषाय की वृद्धि होने के कारण नरक आदि नीच गतियों में तथा ससारचक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है । कषाय जीवात्मा को कर्मबन्धन से विशेष बद्ध करती है । कषाय के कारण कर्मबन्धन से छुटकारा नहीं मिलता । राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है और कषाय से कर्मबन्धन मजबूत होता है । ससारचक्र में से छूटने के लिए, पुनर्भव के फंसे से मुक्त होने के लिए तथा कर्मबन्धन को ढीला करने

के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है ।

कषाय की तीव्रता के कारण ही नरक आदि नीच गतियों में जाना पड़ता है । नरक कहीं बाहर से नहीं आता । वह तो अपने ही परिणामों में है । कितने ही लोग दुःख माथे पर आ जाने के समय हाय-तोबा मारने लगते हैं । वे यह नहीं सोचते कि दुःख कहाँ से और कैसे आया है ? दुःख न बाहर से आते हैं और न आये ही है । वे तो अपने ही मलीन परिणामों की उपज हैं । मलीन परिणामों का त्याग करना ससार पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है । साथ ही मलीन परिणामों के अधीन होना ससार के अधीन होने के समान है । अतएव जल्दी से जल्दी कषाय का त्याग करना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय में यह बात अंकित कर रखनी चाहिए कि—‘कषाय की बढ़ो-लत ही हमारा स्वाधीन आत्मा पराधीनता में पड़ा है । आत्मा को स्वाधीन बनाने के कषायशत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहिए ।’

जो स्थान और कारण कषाय उत्पन्न करने वाला है वही स्थान और कारण कषाय को जीतने वाला भी है । यह बात स्पष्ट करने के लिए श्री उत्तराध्ययनसूत्र में आया हुआ एक उदाहरण तुम्हें सुनाता हूँ ।

एक बार एक क्षत्रिय ने दूसरे क्षत्रिय को जान से मार डाला । मृत क्षत्रिय की पत्नी उस समय गर्भवती थी । वह क्षत्रिय-पत्नी विचार करने लगी—मेरे पति मे थोड़ी बहुत कायरता थी, तभी तो उनकी अकालमृत्यु हुई । वे वीर होते तो अकाल में मृत्यु न होती । क्षत्रियपत्नी की इस वीर भावना का प्रभाव उसके गर्भस्थ पुत्र पर पड़ा ।

## १८-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

आगे चल कर वह पुत्र वीर क्षत्रिय बना ।

माता अपने बालक को जैसा चाहे वैसा बना सकती है और चाहे तो कायर भी बना सकती है । साधारणतया सिंह का बालक सिंह ही बन सकता है और सूअर का बालक सूअर ही बनता है । उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता परन्तु मनुष्य को इच्छानुसार वीर या कायर बनाया जा सकता है ।

क्षत्रियपत्नी ने अपने बालक को वीरोचित्त शिक्षा देकर वीर क्षत्रिय बनाया । क्षत्रियपुत्र वीर होने के कारण राजा का कृपापात्र बन गया ।

एक दिन राजा ने क्षत्रियपुत्र की वीरता की परीक्षा लेने का विचार किया । राजा ने सोचा—शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए क्षत्रियपुत्र को भेजने से एक पथ दो काज होंगे । एक तो शत्रुवश में आ जायेगा, दूसरे क्षत्रिय-पुत्र की वीरता की परीक्षा भी हो जायगी ।

इस प्रकार विचार कर राजा ने क्षत्रियपुत्र को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए सेना के साथ भेज दिया । क्षत्रियपुत्र वीर था । वह तैयार होकर शत्रु को जीतने के लिए रवाना हुआ । उसने शत्रु की सेना को अपनी वीरता का परिचय दिया, परास्त किया और शत्रु राजा को जीवित ही कैद करके राजा के सामने उपस्थित किया । राजा क्षत्रियपुत्र का पराक्रम देख बहुत ही प्रसन्न हुआ । उसने उचित पुरस्कार देकर उसका सत्कार किया । सारे गाँव में क्षत्रियपुत्र की वीरता की प्रशंसा होने लगी । जनता ने भी उसका सम्मान किया । क्षत्रियपुत्र प्रसन्न होता हुआ अपने घर जाने के लिए निकला । रास्ते में वह विचार करने



लगा—आज मेरी माता मेरी पराक्रमगाथा सुनकर अवश्य प्रसन्न होगी । घर पहुँचते ही वह सीधा माता को प्रणाम करने और उसका आशीर्वाद लेनै गया । परजब वह माता के पास पहुँचा तो उसने देखा—माता रुष्ट है और पीठ देकर बैठी है । माता को रुष्ट और क्रुद्ध देखकर पुत्र विचार करने लगा—मुझमें ऐसा कौन-सा अपराध बन गया है कि माता रुष्ट और क्रुद्ध हुई है ?

आजकल का पुत्र होता तो माता को मनचाहा सुना देता । परन्तु उस क्षत्रियपुत्र को तो पहले से ही वीरोचित शिक्षा दी गई थी कि. -

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।

अर्थात् -माता देवतुल्य है, पिता देवतुल्य है और आचार्य देवतुल्य है । अतएव माता, पिता और आचार्य की आज्ञा की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए ।

यह सुशिक्षा मिलने के कारण क्षत्रियपुत्र ने नम्रता—पूर्वक माता से कहा—माँ, मुझ से ऐसा क्या अपराध बन गया है कि आप मुझ पर इतनी क्रुद्ध हैं ? मेरा अपराध मुझे बताइए, जिससे मैं उसके लिए आपसे क्षमायाचना कर सकूँ ।

माता बोली—जिसका पितृहन्ता शत्रु मौजूद है उसने यदि दूसरे शत्रु को जीता भी तो इससे क्या हुआ ?

क्षत्रियपुत्र ने चकित होकर पूछा—क्या मेरे पिता का घात करने वाला शत्रु अभी तक जीवित है ?

माता—हा, वह अभी तक जीवित है ?

क्षत्रियपुत्र—ऐसा है तो अभी तक मुझे बताया क्यों नहीं ?

माता—मैं तुम्हारे पराक्रम की जाँच कर रही थी ।

अब मुझे विश्वास हो गया है कि तू वीरपुत्र है । जब तू दूसरे शत्रु को परास्त कर चुका है तब अपने पिता का घात करने वाले शत्रु को भी अवश्य परास्त कर सकेगा । तेरा सामर्थ्य देखे बिना शत्रु के साथ भिड़ जाने की वान मैं कैसे कहती ?

क्षत्रियपुत्र माता का कथन सुन और उत्तेजित हो कहने लगा—माताजी ! मैं अभी शत्रु को पराजित करने जाता हूँ । अपने पिता के वैर का बदला लिये बिना मैं हर्गिज नहीं लौटूँगा । इतना कह कर वह चल दिया ।

दूसरी ओर क्षत्रियपुत्र के पिता की हत्या करने वाले क्षत्रिय ने सुना—जिसे मैंने मार डाला था, उसका वार क्षत्रियपुत्र क्रुद्ध होकर अपने पिता का वैर भजाने के लिए मेरे साथ लड़ाई करने आ रहा है । यह सुनकर उस क्षत्रिय ने विचार किया—वह वीर बड़ा वीर है और उसके शरण में चला जाना ही हितकर है । इसी में मेरा कल्याण है । इस तरह विचार करके वह क्षत्रियपुत्र के सामने गया और उसके अघीन हो गया । क्षत्रियपुत्र उस पितृघातक शत्रु को लेकर अपनी माता के पास आया । उसने माता से कहा इसी क्षत्रिय ने मेरे पिता की हत्या की है । इसे पकड़ कर तुम्हारे पास ले आया हूँ । अब जो तुम कहो वही दंड इसे दिया जाय ।

माता ने अपने पुत्र से कहा—इसी से पूछ देख कि इसके अपराध का इसे क्या दंड मिलना चाहिए ?

पुत्र ने शत्रु से पूछा—वोचो अपने पिता के वैर का बदला तुमसे किस प्रकार लिया जाये ?

शत्रु ने उत्तर दिया—तुम अपने पिता के वैर का बदला उसी प्रकार लो, जिस प्रकार शरण में आये हुए मनुष्य से

लिया जाता है ।

क्षत्रियपुत्र की माना सच्ची क्षत्रियाणी थी । उसका हृदय तुच्छ नहीं विशाल था । माता ने पुत्र से कहा—  
बेटा, अब इसे शत्रु नहीं भाई समझ ।

जब वह शरण में आ गया है, तो शरणागत से बदला लेना सर्वथा अनुचित है । शरण में आया हुआ कितना ही बड़ा अपराधी क्यों न हो, फिर भी भाई के समान ही है । अतएव यह तेरा शत्रु नहीं, भाई के समान ही है । मैं प्रभी भोजन बनाती हूँ । तुम दोनों भाई साथ बैठ कर आनन्द-पूर्वक जीमो । तुम सगे भाइयों का तरह साथ-साथ जीमो और प्रेमपूर्वक रहो । मैं यहाँ देखना चाहती हूँ ।

माता का कथन सुनकर पुत्र ने कहा—माताजी ! तुम पितृघातक शत्रु को भी भाई बनाने की कहती हो, सो तो ठीक है, परन्तु मेरे हृदय में जो क्रोधाग्नि जल रही है, उसे मैं किस प्रकार शान्त करूँ ?

माता ने उत्तर दिया—पुत्र ! किसी मनुष्य पर क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करने में कोई वीरता नहीं है । क्रोध पर ही क्रोध उतार कर क्रोध शान्त करना अथवा क्रोध पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची वीरता है । भगवान् महावीर ने तो कहा है—‘उवसमेण हणे कोह ।’ अर्थात् उपशम-शान्ति से क्रोध को जीतना चाहिए । इसी प्रकार बौद्धशास्त्र में भी कहा है—

न हि वेरेण वेराणि समन्तीध कुदाचन ।

अवेरेण वेराणि एस धम्मो सनन्तनो ॥

अर्थात् इस ससार में वैर से वैर कदापि शान्त नहीं

होता । अवैर-प्रेम से ही वैर शान्त होता है । प्रेम से वैर शान्त करना ही सनातन धर्म है ।

असली खूबी तो शान्ति क्षमा से क्रोध को शान्त करने में ही है । क्रोध भयकर शत्रु है । इस शत्रु को क्षमा से जीतना ही सच्ची वीरता है । नमीराज ने भी इन्द्र से कहा था

जो सहस्सं सहस्साण संगामे दुज्जए जिणे ।

एगे जिणेज्ज अण्णाण एस सो परमो जयो ॥

—उत्तराध्ययन, ६

तात्पर्य यह है कि जो पुरुष क्रोध को अक्रोध से जीतता है, वही सच्चा वीर है । इसी प्रकार जो कषाय पर विजय प्राप्त करता है, वही सच्चा वीर है । कषायों पर विजय प्राप्त करने में ही वीरता है ।

माता का आदेश पाकर पुत्र ने प्रसन्नतापूर्वक अपने पितृहन्ता शत्रु को गले लगाया । दोनों ने सगे भाइयों की तरह साथ साथ भोजन किया ।

कहने का आशय यह है कि जो स्थान कषाय उत्पन्न करने का है, वही स्थान कषाय जीतने का भी है । वे वास्तव में वीर पुरुष हैं जो अपने शत्रुओं को भी मित्र बना लेते हैं । सच्ची वीरता तो इसी में है कि क्रोध को अक्रोध-शान्ति-क्षमा से जीता जाये और शत्रुओं को भी मित्र बना लिया जाये । शत्रुता जब मित्रता के रूप में परिणत हो जाती होगी तब कैसा अनिर्वचनीय आनन्द आता होगा !

यह तो शास्त्र की बात हुई । इतिहास में भी ऐसे उल्लेख देखने-जानने को मिलते हैं । उदयपुर के पृथ्वीराजजी

और उनके काका सूरजमलजी दिन भर एक दूसरे के साथ युद्ध करते थे और शाम के समय दोनों एक साथ बैठ कर भोजन करते थे और फिर युद्ध के लगे हुए एक दूसरे के धावों पर पट्टी बांधते थे । परन्तु आजकल तो लोगो के मन इतने अधिक सकुचित तथा मलीन हो गये हैं कि साधारण-सी बात में भी क्लेश करने लगते हैं ।

कषाय को जीतने का सरल मार्ग यह है कि वैरी को भी अपना हितैषी समझ लिया जाये । शत्रु भी मित्र की भाँति हमारा उपकार करता है, ऐसा समझकर उसके प्रति सद्भाव प्रकट करने चाहिए । पैर में चुभे हुए काटे को निकालने के लिए सुई चुभोनी पड़ती है या डाक्टर ऑपरे-शन करता है तो क्या उन पर नाराजगी प्रकट करनी चाहिए ? नहीं । लोग यही मानते हैं कि डाक्टर हमारा हित करता है । जिस प्रकार डाक्टर पीडा पहुँचाने पर भी हितैषी माना जाता है उसी प्रकार तुम्हारा वैरी भी तुम्हारा हित करता है । ऐसा मानो और उसके प्रति वैरभाव न रखो तो तुम अवश्य ही कषाय को जीत सकोगे । कषाय को जीतने से आत्मकल्याण होगा ।

कषाय को जीतने से क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है—कषाय को जीतने से जीवात्मा वीतरागभाव प्राप्त करता है । अतएव जो जितने अश में कषाय को जीतता है वह उतने ही अश में वीतरागभाव उत्पन्न करता है । हा, यह स्मरण रखना चाहिए कि विवेकपूर्वक कषाय को जीतने से ही फल की प्राप्ति होती है । कषाय जीतने के बहाने जीवन में कायरता न आ जाए, इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए ।

कायर कषाय को नहीं जीत सकता । 'कमजोर गुस्सा बहुत' लोकोक्ति तो प्रसिद्ध ही है । शक्ति होने पर भी क्षमा धारण करने में ही वीरता है । शक्तिहीन क्षमा कायरता का रूप धारण कर लेती है । इसीलिए कहा गया है—'दाणं दरिद्रस्स खमा पभुस्स ।' अर्थात् दरिद्रावस्था में दिया गया दान और प्रभुता होने पर की गई क्षमा विशेष महत्वपूर्ण है । अशक्ति के कारण क्रोध को दबा रखना और मन ही मन दुर्भाव रखना तथा खोटे सकल्प-विकल्प करना कषाय जीतने का सच्चा मार्ग नहीं है ।

कितने ही लोग कषाय को न जीतने पर भी कह देते हैं कि हमने कषाय जीत ली है और हमारे भीतर वीतराग-भाव विद्यमान है । ऐसा कहने वालों की परीक्षा करने की, शास्त्र में एक युक्ति बतलाई है । वह युक्ति यह है कि जिन्होंने कषाय पर विजय प्राप्त कर ली होती है, उनके लिए सुख और दुःख एक सरीखे हो जाते हैं । कषायविजयी का धर्म बतलाते हुए मृगा माता ने मृगापुत्र से कहा था.—

लाभालाभ सुह दुक्ख जीवियं मरण तहा ।

समं निदापसंसासु तहा माणावमाणओ ॥

अर्थात्—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, तथा मान-अपमान वगैरह में जो समभाव रखता है, वही सच्चा कषाय-विजयी मुनि है ।

जिस प्रकार साधुओं को समानभाव रखने का उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार श्रमणोपासको भी यह उपदेश जीवन में उतारना है ।

कहने का आशय यह है कि श्रमणोपासको को भी

श्रमणों के समान सुख और दुःख में, लाभ और अलाभ में तथा निन्दा और प्रशंसा में समभाव-समानवृत्ति रखने का अभ्यास करना चाहिए। समानवृत्ति कषाय-विजय की चाबी है। सामायिक आदि छह आवश्यक भी कषाय पर विजय प्राप्त करने के लिए ही प्रतिदिन किये जाते हैं। तुम श्रमणोपासक हो अर्थात् समभाव के उपासक हो। अतएव समानभाव का अभ्यास करो और कषाय जीतने का प्रयत्न करो। इसी में तुम्हारा कल्याण है।

कषाय को जीतने से वीतरागभाव प्रगट होता है। वीतरागमार्ग जिन भगवान् का मार्ग है। जैन का अर्थ भी 'विजेता' होता है। रागद्वेष और कषाय पर विजय प्राप्त करने वाला ही सच्चा जैन है और वही वीतराग के मार्ग पर चलने वाला है। जो नाम से जैन है उसे काम से भी बनना चाहिए। जिस मनुष्य के जीवन में सच्चा जैनत्व प्रकट होता है, वह अपने कषययुक्त जीवन को निष्कषाय बना लेता है और अन्त में सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होता है। कषायों पर विजय प्राप्त करने में सच्चा जैनत्व छिपा है। यह जैनत्व ही जैन-जीवन है और जैन-जीवन जीने में ही कल्याण है।

# सैंतीसवां बोल

## योगप्रयाख्यान

---

जीवात्मा के गुणों का विकास क्रमपूर्वक होता है, शास्त्र का वर्णन भी क्रमपूर्वक है। जब आत्मा अपने गुणों का विकास करके तेरहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है, तब आत्मा में कषाय नहीं रहता किन्तु योग बना रहता है। ईर्यापथिकी की क्रिया तेरहवें गुणस्थान में होती है, यद्यपि वह सूक्ष्म होती है। जो योग तेरहवें गुणस्थान में भी रहता है, वह क्या है ? और उस योग का त्याग करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं —

### मूलपाठ

प्रश्न—जोगपच्चाक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—जोगपच्चक्खाणेणं अजोसत्तं जणयइ अजोगी  
ण जीवे नव कम्मं न बधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥३७॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! योग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है।



उत्तर—योग (मन, वचन और काय के व्यापार) का त्याग करने से जीव अयोगी (मन, वचन, काय के व्यापार से रहित) होता है, और ऐसा अयोगी जीव नवीन कर्मों का बंध नहीं करता और पहले बांधे हुए कर्मों कर्मों को सर्वथा दूर कर देता है ।

## व्याख्यान

इस सारगर्भित सूत्र पर विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीव और कर्म का आपस में क्या सम्बन्ध है ? और इस सम्बन्ध का विच्छेद करके जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है ? योग कर्मबन्ध का प्रधान कारण है अतः यह विचार कर लेना आवश्यक है ।

कुछ लोगो का कहना है कि जब जीव और कर्म का प्रबन्ध 'अनादिकाल' से है तो फिर जीव कर्मबन्धन से किस प्रकार विमुक्त हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्म अनादिकाल से नहीं है । कर्म बदलते रहते हैं, अतः कर्मों का धारावाहिक प्रवाह ही अनादिकाल से चला आ रहा है । जैसे नदी का धारा-प्रवाह चल रहा है । इस जलधारा में पानी बद्ध होकर नहीं रहता, बदलता रहता है । फिर भीतर-ऊपर पानी आता-जाता रहने के कारण धारा प्रवाह भग नहीं होता । इसी प्रकार कर्म भी जाते-आते रहते हैं, फिर भी कर्मों का प्रवाह भग नहीं होता, और इसी कारण कर्म अनादिकालीन कहलाते हैं । परन्तु वास्तव में कोई भी एक कर्म अनादिकालीन नहीं होता । कर्मों के इस चलते हुए प्रवाह को अगर रोक दिया जाये तो कर्मों का आगमन रुक जाता है । जैसे ऊपर से आने

वाले नदी के पानी को रोक दिया जाये तो नदी का धारा-प्रवाह बन्द हो जाता है , उसी प्रकार यदि आते हुए कर्मों को रोक दिया जाये तो कर्मों का धारावाहिक प्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्म क्षीण भी हो जाते हैं । इस प्रकार कर्मों के आस्रव को बन्द करने से कर्मों का धारा-प्रवाह भी बन्द हो जाता है और कर्मों का अन्त हो जाने से जीवात्मा कर्मरहित बन जाता है ।

शास्त्र कहते हैं—आते कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित बन जाता है । जीवात्मा को कर्मरहित बनाने के लिए पहले सम्यक्त्व द्वारा मिथ्यात्व को रोकने की आवश्यकता है, अत्रत को व्रत-प्रत्याख्यान द्वारा रोकने की आवश्यकता है । इसी प्रकार प्रमाद को अप्रमाद से तथा कषायों को क्षमा आदि से रोक देना आवश्यक है । कषायों को रोक दिया जाये तो सिर्फ योग ही शेष रह जाता है । इस योग का निरोध करने से जीव कर्मरहित बन जाता है ।

आज तात्त्विकज्ञान की बहुत ही कमी दिखाई देती है । मगर जीवन में तात्त्विकज्ञान की खास आवश्यकता है । आज बहुत से लोगो को तो चौदह गुणस्थानों के नाम तक नहीं आते । किन्तु जीव और कर्म का सम्बन्ध जानने के लिए तत्त्वज्ञान की और उस तत्त्वज्ञान को जीवन में सक्रिय रूप देने की अत्यन्त आवश्यकता है ।

जीव को कर्मरहित बनाने के लिए कषाय का सर्वथा क्षय करना आवश्यक है । परन्तु कषाय का सर्वथा क्षय तो बारहवें गुणस्थान में होता है और उसके बाद जीवात्मा तेरहवें गुणस्थान में जाता है । बारहवें गुणस्थान की स्थिति

अन्तमुहूर्त की है और तेरहवे गुणस्थान की स्थिति जघन्य अन्तमुहूर्त की और उत्कृष्ट कुछ कम करोड पूर्व की है । इस तेरहवे गुणस्थान में पहुचने पर भी योग बाकी रह जाता है । अतएव गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा कि योग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा — जो जीव योग का त्याग करता है, वह अयोगी होता है । जीव अयोगी हुए बाद नवीन कर्म नहीं बाधता और पुराने कर्मों का नाश करता है ।

योग के त्याग पर विचार करें इससे पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि योग क्या है और योग का त्याग किसलिए आवश्यक है ?

शास्त्रीय भाषा में योग का लक्षण कहा है —

**कायवाङ्मनःकर्म योगः ।**

अर्थात्—मन, वचन और काय के व्यापार को योग कहते हैं ।

‘योग’ शब्द युजि योगे धातु से निष्पन्न हुआ है । ग्रन्थों में योग के पांच भेद बतलाये गये हैं—१-क्षिप्तवृत्ति, २-मूढवृत्ति, ३-विक्षिप्तवृत्ति, ४-एकाग्रवृत्ति, और ५-निरोधवृत्ति ।

जिसमें रागद्वेष के कारण चंचलता रहती है और जिसमें रजोगुण की प्रधानता रहती है, उसमें क्षिप्तवृत्ति रहती है ।

जो ऊपर से शान्त मालूम होता है पर वास्तव में

### ३०-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

शान्त नहीं है उसे मूढ कहते हैं। इस प्रकार जिसमें आलस्य, निद्रा आदि की तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है, उसमें मूढवृत्ति होती है।

जिस अवस्था में संतोगुण का प्रकाश तो हो परन्तु उस प्रकाश पर रजोगुण और तमोगुण की छाया बार-बार पड़ती रहती हो, वह विक्षिप्त अवस्था कहलाती है।

इस प्रकार क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति और विक्षिप्तवृत्ति द्वारा आत्मा का विकास नहीं होता। आत्मा का विकास करने के लिए आत्मा को एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति का अभ्यास करने की आवश्यकता है।

एकाग्रवृत्ति कैसी होती है इसे समझाने के लिए दीपक का उदाहरण दिया गया है। निश्चल दीपक की शिखा स्थिर होने के कारण डगमगाती नजर नहीं आती। परन्तु वह शिखा प्रकाश की अपेक्षा स्थिर दिखाई देने पर भी पुद्गल की दृष्टि से तो अस्थिर ही है। उस शिखा के परमाणु निरन्तर बदलते रहते हैं। दीपक का तेल समाप्त हो जाता है, यही शिखा के बदलते रहने का प्रमाण है। ज्ञानीजनों का कथन है कि एकाग्रवस्था में शिखा की भांति स्थिरता जान पड़ती है तथापि उस अवस्था में भी थोड़ी चंचलता रहती ही है। एकाग्रवस्था में थोड़ी-बहुत जो चंचलता रहती है, वह निरोधवृत्ति से ही दूर हो सकती है। निरोधवृत्ति में समाधिभाव रहता है। इस प्रकार एकाग्रवृत्ति और निरोधवृत्ति आत्मा को निश्चल बनाती है और इन दो वृत्तियों द्वारा मन, वचन तथा काय का व्यापार बंद किया जाता है। तभी आत्मा समाधिभाव प्राप्त

कर सकता है ।

तेरहवे गुणस्थान तक एकाग्रवृत्ति रहती है । पाँचवीं निरुद्धावस्था या निरोधवृत्ति चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने के बाद आती है । यह वृत्ति थोड़े समय तक ही रहती है । श्रीभगवत्सूत्र और उवचाईसूत्र में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के नाम से गभीर विचार किया गया है ।

कहने का आशय यह है कि जब आत्मा अपने गुणों का विकास करके तेरहवें गुणस्थान से चौदहवे गुणस्थान में पहुँचना है, तब उस अवस्था में आत्मा यदि मन, वचन तथा काय के योग का त्याग कर दे तो आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—योग का त्याग करने से आत्मा अयोगी बनता है और अयोगी होने के बाद वह पुराने कर्मों का नाश करता है तथा नवीन कर्मों का बंध नहीं करता । इस प्रकार आत्मा जब अयोगी बनता है तब ईर्ष्यापथिक क्रिया द्वारा लगने वाले कर्म भी बंद हो जाते हैं और भवोपग्राही चार कर्म अर्थात् आयुर्कर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और वेदनीयकर्म भी नष्ट हो जाते हैं । इन चार कर्मों के नष्ट होते ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है ।

यह तो योगनिरोध अथवा योग का त्याग करने से होने वाले लाभ की बात हुई । मगर यह विचार करना आवश्यक है कि हमें करना क्या चाहिए ? योग का निरोध करने की शक्ति न हो तो क्षिप्तवृत्ति, मूढवृत्ति तथा विक्षिप्तवृत्ति को तो दूर करने का क्रमशः प्रयत्न करना ही चाहिए ।

कई लोग विक्षिप्तावस्था में आनन्द मानते हैं और नाटक, सिनेमा देखकर अपने जीवन को घन्य मानते हैं । परन्तु ज्ञानीजन कहते हैं कि नाटक-सिनेमा आदि में वास्तविक आनन्द नहीं है । यह तो विक्षिप्त अवस्था है । कितने ही पढ़े-लिखे लोग भी विक्षिप्तावस्था में लीन रहते हैं । धन आदि के उपार्जन में धर्मकर्म को भी भूल जाते हैं । अगर शिक्षित लोग भी आत्मधर्म को न समझें तो उनका शिक्षण किस काम का ? सच्ची विद्या तो वही है जिसके द्वारा मनुष्य बधन से मुक्त हो जाये । शिक्षा का सच्चा फल तो आत्मा को उन्नत बनाने में तथा एकाग्रता और निरुद्धावस्था प्राप्त करना ही है । चंचल चित्त का निरोध करने में शिक्षा का सदुपयोग किया जाये तो ठीक है, वर्ना शिक्षा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

मनुष्य और पशु का अन्तर तो स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु कई बार मनुष्य, पशु से भी अधिक पतित बन जाता है । जो मनुष्य सिर्फ खान-पान में ही रचा-पचा रहता है और जरा भी धर्मकर्म नहीं करता, वह मनुष्य पशु से भी अधिक पतित कहा जा सकता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि हम मिष्ट तथा विशिष्ट भोजन करने के कारण मनुष्य हैं ! इस कथन के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि भोजन तो पशु भी करता है, पर उसमें सार-असार का विवेक नहीं होता । मनुष्यसमाज विवेकज्ञान के कारण ही पशुओं और पक्षियों से ऊँचा है । मनुष्य मिष्ट और विशिष्ट भोजन करके फूला नहीं समाता परन्तु वह जो भोजन करता है उस भोजन के निर्माण का

विज्ञान उसमें नहीं है। मधुमक्खियो में मधु उत्पन्न करने का जो विज्ञान है, वह मनुष्यो में कहाँ है? मधुमक्खियां फूलों में से रस ले-लेकर जैसा मधु तैयार करती है, वैसा मधु क्या मनुष्य तैयार कर सकता है? मधुमक्खियां मधु पैदा करना भी जानती हैं और मधु का संग्रह करना भी जानती हैं। सर्वप्रथम मधुमक्खियाँ छत्ता बनाती हैं और उसमें बराबर के खाने बनाकर थोड़ा-सा मोम लगाती हैं और फिर उसमें मधु भरती हैं। मधुमक्खियो की यह कला मनुष्य के विज्ञान को भी लज्जित कर देती है। मधुमक्खियां छत्ता बनाने में कुशल कारीगर के समान कला का उपयोग करती हैं और अपनी कुशल कारीगरी का परिचय देती हैं। इसके अतिरिक्त वे मिल-जुल कर काम करती हैं। उनकी कार्यव्यवस्था बड़ी सुन्दर होती है। मधुमक्खियो की एकता, सुघडता, कार्यव्यवस्था और तन्मयता आदि गुण मनुष्य-समाज को सीखने योग्य हैं।

कहने का आशय यह है कि मनुष्य को प्रत्येक काम विवेकपूर्वक करना चाहिए। जो मनुष्य विवेकज्ञान का उपयोग न करके सिर्फ खाने पीने में, नाटक-सिनेमा देखने में तथा सासारिक सुख भोगने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझ बैठता है, उसमें और पशु में कुछ अन्तर नहीं। मनुष्यो और पशुओ में धर्म तथा विवेकज्ञान का ही अन्तर है। अगर मनुष्यो में विवेकज्ञान न हो और धर्मवृद्धि न हो तो उनमें और पशुओ में कुछ अन्तर नहीं। विवेकहीन मनुष्य की अपेक्षा तो मधुमक्खिया चतुर हैं। कहना चाहिए कि विवेकहीन पुरुष से उद्यमशील मधुमक्खिया अनेक गुणा अच्छी हैं। इन मक्खियो के उद्योगमय जीवन से एक शिक्षा

तो अवश्य ग्रहण करने योग्य है । यह शिक्षा जीवन को उद्यमशील बनाने की है । कहा भी है: —

माखी होए मध कीधुं, न खाधुं न दान दीधुं ।  
लूटनारे लूटी लीधुंरे, पामर प्राणी चेतें तो चेतावुं तोने रे ॥

मधुमक्खिया मेहनत करके मधु तैयार करती है और उसका संग्रह करती हैं । वे न स्वयं मधु खाती हैं और न किसी को देती ही हैं । फिर क्या उनका बनाया मधु पड़ा रहता है ? नहीं । लुटेरे लोग आते हैं और उनके परिश्रम-पूर्वक तैयार किये मधु को लूट ले जाते हैं ।

बहुत से लोग प्रसन्नता के साथ मधु खाते हैं परन्तु उन्हें यह पता नहीं होता कि मधु आता कहा से है ? वे तो मधुमक्खियों के परिश्रम से संगृहीत मधु लूट कर अपने शरीर को हृष्टपुष्ट बनाते हैं । किन्तु जिस प्रकार वे दूसरों की चीज लूटकर खाते हैं, उसी प्रकार दूसरे लोग उन्हें नहीं लूट ले जाएंगे, इसका क्या विश्वास है ? कहा भी है—

काल वैताल की धाक तिहुं लोक में,  
देव दानव घरे रोल घाले ।

अर्थात् कराल काल सब के मस्तक पर घूम रहा है । इस भयंकर काल के पजे में से कोई छूट नहीं सकता । इस प्रकार जब सभी लोग काल के गाल में फसे हैं तो फिर अभिमान किस बात का करते हैं ? अभिमान करने से आखिर पश्चात्ताप करने का ही अवसर आता है यह बात ध्यान में रखकर अभिमान का त्याग करना चाहिए और मानवशरीर का सदुपयोग करना चाहिए ।



मानव-जीवन अस्थिर है । आयु जल की हिलोर के समान चंचल है । कवि ने ठीक कहा है कि —

विद्युत लक्ष्मी प्रभुता पतंग आयुष्य ए तो जलना तरंग ।  
पुरन्दरीचाप अनग रग, शुं राचीए त्यां क्षणिक प्रसंग ॥

जीवन की ऐसी अस्थिरता मे मनुष्य का अभिमान करना मूर्खता ही है । मनुष्य अभिमान करके बहुत बार अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करता है । मान लो किसी मेढक को साप ने पकड़ लिया है । मेढक का आघा मुख साप के मुख मे है और आघा बाहर है । फिर भी वह मेढक अपना मुह फाड़कर मक्खियों का पकड़ना चाहता है । अगर तुम मेढक को ऐसा करते देखो तो उसे मूर्ख की पदवी देते देर नहीं करोगे । लेकिन तुम स्वयं कराल काल-सर्प के मुह में फसे हो, फिर भी अभिमान करते हो । यह मूर्खता नहीं तो क्या है ? मनुष्य को विवेकज्ञान मिला है । वह सार-असार, हित-अहित का विचार कर सकता है । अतएव तुम अपने विवेक का सदुपयोग करो । इसी मे कल्याण है ।



# अइतीसवां बोल

## शरीरप्रत्याख्यान

योग का प्रत्याख्यान करने से होने वाले लाभ का विचार किया जा चुका है । यहाँ शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में विचार करना है । गौतम स्वामी शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं ।

### मूलपाठ

प्रश्न - शरीरपञ्चवक्त्राणेण भते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर - शरीरपञ्चवक्त्राणेणं सिद्धातिसयगुणकित्तणं निव्वत्तेइ, सिद्धातिसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगगमुवगए परमसुही भवइ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! शरीर के प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ।

उत्तर - शरीर के प्रत्याख्यान ( त्याग ) से जीव सिद्ध के अतिशय ( उच्च ) गुणभाव को प्राप्त करता है और सिद्ध

के अतिशय गुण से सम्पन्न होकर वह जीवलोक के अग्रभाग में जाकर परम सुख प्राप्त करता है । अर्थात् सिद्ध (समस्त कर्मों से मुक्त) हो जाता है ।

## व्याख्यान

यहां एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है । वह यह है कि जब योग के त्याग के विषय में विचार किया जा चुका है और वहां स्पष्ट कर दिया गया है कि योग में मन, वचन और काय इन तीनों का समावेश होता है तो फिर यहां शरीर के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में अलग प्रश्न किस उद्देश्य से किया गया है ? इस विचारणीय प्रश्न का स्पष्ट उत्तर तो कोई महापुरुष ही दे सकता है । मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ ।

मेरी समझ में, जान पड़ता है ज्ञानीजनों ने शरीर और काययोग में अन्तर देखा है । इस बात का प्रमाण यह है कि शास्त्र में जहां दस प्राणों का उल्लेख किया गया है वहां इन्द्रियबल को प्राण तथा कायबल को भी प्राण माना गया है । परन्तु जब कायबल को प्राण कह दिया गया तो फिर इन्द्रियबल को अलग प्राण मानने की क्या आवश्यकता थी ? कायबल और इन्द्रियबल की गणना अलग-अलग की गई है इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञानीजनों ने इन्द्रियबल में और कायबल में अवश्य ही कोई अन्तर देखा तथा जाना है ।

इन्द्रिया दो प्रकार की होती हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय । द्रव्येन्द्रिय होने पर भी अगर भावेन्द्रिय न हो तो

द्रव्येन्द्रिय निरर्थक होती है। इस प्रकार ज्ञानीजनों ने इन्द्रियो में तथा काय में भिन्नता देखी है और इसी कारण योगप्रत्याख्यान के साथ ही शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में अलग प्रश्न किया है।

अब यह देखना है कि ज्ञानीजन इन्द्रियदमन करने का जो कथन करते हैं सो इसका अर्थ क्या है? इन्द्रिय-दमन करना अर्थात् क्या इन्द्रियो को नष्ट कर देना? 'इन्द्रिय-दमन करो' का अर्थ इन्द्रियो को नष्ट कर दो; ऐसा नहीं है। इन्द्रियो को दुष्प्रवृत्ति में से पृथक् करके सत्प्रवृत्ति में नियोजित करना इन्द्रियदमन का अर्थ है। जैसे घोड़े को दमन करने के लिये कहा जाता है। मगर इसका अर्थ यह नहीं कि घोड़े के पंर काट दिये जाए। इसका अर्थ यह होता है कि घोड़े को यह सिखाया जाये कि वह खराब चाल न चले। इसी प्रकार इन्द्रियो के दमन का अर्थ इन्द्रियो का नाश कर देना नहीं, वरन् इन्द्रियो को खराब मार्ग पर जाने से रोककर सत्प्रवृत्ति में नियोजित करना है।

कहने का आशय यह है कि शरीर और काययोग में ज्ञानियो ने थोड़ा अन्तर देखा है और इसी कारण योग-प्रत्याख्यान के प्रश्न के बाद शरीरप्रत्याख्यान के विषय में प्रश्न किया गया है।

शरीर की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'शीयंते इति शरीरम्।' अर्थात् जो प्रतिक्षण शीर्ण होता जाये, वह शरीर है। प्रतिक्षण पलटते रहना शरीर का स्वभाव है। आज के वैज्ञानिकों का भी कहना है कि बारह वर्ष में शरीर के समस्त परमाणु पलट जाते हैं। आज के वैज्ञानिक तो

चारह वर्ष में शरीर के परमाणुओं का पलट जाना कहते हैं, मगर ज्ञानीजन तो कहते हैं कि शरीर के परमाणु प्रति-क्षण पलटते रहते हैं । शरीर का यह परिवर्तन दो प्रकार से होता है - अनुकूल और प्रतिकूल । उदाहरणार्थ—एक ही प्रकार का भोजन कभी अनुकूल गुण पैदा करता है और कभी-कभी प्रतिकूल गुण उत्पन्न करता है । अगर भोजन करने में सावधानी रखी जाये तो भोजन शरीर को अनुकूल गुण देता है--लाभ पहुँचाता है, अन्यथा वही भोजन शरीर को हानिकारक हो जाता है । एक अनुभवी का कथन है कि भूख के कारण लोग इतने नहीं मरते, जितने अतिभोजन, अनिष्ट भोजन तथा अभक्ष्य भोजन के कारण मरते हैं । कितने ही लोग तप-उपवास तो कर लेते हैं परन्तु बाद में भोजन पर सयम रखना उनके लिए कठिन हो जाता है । भोजन के विषय में विवेक तथा सयम रखने वाले तथा रसा-स्वाद सम्बन्धी लोलुपता को जीतने वाले विरले ही दिखाई देते हैं । कुछ लोग ऐसे भी देखे जाते हैं जो तप करने के बाद भोजन करने में सावधानी नहीं रखते और जब परिणाम अच्छा नहीं आता तो कहते हैं कि तपश्चर्या से हानि हुई है । किन्तु यह बात हमेशा हृदय में जमा रखनी चाहिए कि तपश्चर्या से त्रिकाल में भी कभी हानि नहीं हो सकती । शरीर को जो हानि होती है, वह तपश्चर्या से नहीं, भोजन सम्बन्धी असावधानी के कारण ही होती है ।

शरीर और काय में अन्तर है और इसी कारण इन दोनों के विषय में अलग-अलग प्रश्न किया गया है । काय शक्तिविशेष को कहते हैं और इन्द्रिया तथा मन जिसमें रहता है अथवा जिसका व्यवहार इन्द्रियो और मन द्वारा चलता

है वह शरीर है । कितने ही लोग शरीर को क्षेत्र भी कहते हैं ज्ञानीजन कहते हैं--जब आत्मा शरीरहीन हो जाता है तब शरीर के साथ रहने वाले विकार भी नष्ट हो जाते हैं ।

ज्ञानीजन शरीर का प्रत्याख्यान करने के लिए कहते हैं । परन्तु यह विचार करना आवश्यक है कि शरीर का त्याग किस प्रकार करना चाहिए ? शरीर त्याग करने का अभिप्राय यहा यह नहीं है कि फासी लगाकर शरीर त्याग दिया जाये । ऐसा करने से तो आत्महत्या हो जायेगी । फासी लगा कर मर जाना शरीरप्रत्याख्यान करना नहीं है । प्रत्याख्यान शब्द प्रति+आ उपसर्ग लगाकर ख्या धातु से बना है । इस शब्द का अर्थ यह है कि किसी वस्तु का इस प्रकार त्याग करना कि त्यागी हुई वस्तु के प्रति फिर ममता ही न रह जाए । उदाहरणार्थ--घन का त्याग दो प्रकार से होता है । एक तो दान देने से घन का त्याग होता है, दूसरे किसी को उधार देने से भी त्याग होता है । दोनों प्रकार के इस त्याग में बहुत अन्तर है । दान में घन का जो त्याग किया गया है उसमें घन के प्रति ममत्व नहीं रहता, मगर उधार दिये घन के प्रति ममता बनी रहती है । दान आदि सत्कार्य में व्यय किये हुए घन के प्रति ममत्व न रहने के कारण घन का वह सच्चा त्याग है । उधार दिये हुए घन के पीछे और अधिक धन पाने की ममत्वबुद्धि रहती है । अतः वह सच्चा त्याग नहीं है । यह तो स्पष्टतः घनमोह है । जहा मोह-ममत्व होता है वहा त्याग या प्रत्याख्यान नहीं हो सकता । अतः शरीर सम्बन्धी मोह-ममता का त्याग करना ही शरीरप्रत्याख्यान कहलाता है । आखिरकार सभी को शरीर का त्याग करना पड़ता है । शरीर अस्थिर है ।

वह हमेशा टिका नहीं रहता । परन्तु जो आत्मा शरीर की अस्थिरता समझकर शरीर पर से मोह-ममता उतार देता है—शरीर का त्याग कर देता है वह निर्मोही शरीरत्यागी आत्मा; विदेही बनकर सिद्धत्व के गुण प्राप्त करता है और सिद्ध भगवान् की कोटि में पहुँच जाता है । निर्मोही बनकर शरीर का त्याग करने से सिद्धि प्राप्त होती है । शरीर-त्याग से जीव मुक्ति प्राप्त करने का अपूर्व लाभ पा लेता है ।

जब शरीर के त्याग के विषय में प्रश्न चल रहा है तो यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि शरीर क्या है ? और उसके कितने प्रकार हैं ?

जिसका स्वभाव ही जीर्णशीर्ण होने का है, वह शरीर है । शरीर के पाँच प्रकार हैं—(१) औदारिकशरीर (२) वैज्य शरीर (३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर (५) कार्मण शरीर । संक्षेप में शरीर दो प्रकार का है—सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर । सूक्ष्म में अर्थात् कार्मण शरीर में सभी संस्कार विद्यमान रहते हैं । जैसे एक सजीव बीज में सारा वृक्ष विद्यमान रहता है । बीज तो वृक्ष से पृथक् होकर नीचे गिर जाता है, फिर भी उस बीज में वृक्ष के सब संस्कार रहते ही हैं । वह बीज पृथ्वी, पानी आदि का संयोग मिलते ही विकसित हो जाता है और वह छोटा-सा बीज ही क्रमशः वृक्ष का रूप धारण करता है । इसी प्रकार ममता-पूर्वक शरीर का त्याग करने पर भी सूक्ष्म कार्मण शरीर आत्मा के साथ रहता है और उसमें जीव के सभी संस्कार विद्यमान रहते हैं और संयोग मिलते ही वे संस्कार वार-वारिक रूप धारण कर लेते हैं । जैसे वट वृक्ष का बीज प्रमाण

में तो बहुत ही छोटा होता है परन्तु उस छोटे-से बीज में ही विशल्लकाय वट वृक्ष के समस्त सस्कार विद्यमान रहते हैं । बाह्य दृष्टि से तो बीज में वट वृक्ष का स्वरूप दिखाई नहीं देता परन्तु पृथ्वी-पानी आदि का संयोग प्राप्त होते ही वह छोटा-सा बीज वट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है । इसी प्रकार कर्मण शरीर में भी जीव के सब सस्कार मौजूद रहते हैं ।

अगर कोई पूछे कि कर्मण शरीर कहा है और उसमें जीव के सब सस्कार कहा रहते हैं ? ऐसा पूछने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि जब अष्टस्पर्शी वड के बीज में रहे हुए वृक्ष के सस्कार दिखाई नहीं देते तो फिर चतुस्पर्शी कर्मण शरीर में जीव के सस्कार कैसे देखे जा सकते हैं ? अतएव कर्मण शरीर को प्रत्यक्ष देखने का दुराग्रह अनुचित है । इसके सिवाय, अपनी स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म कर्मण शरीर तो दिखाई भी नहीं दे सकता ।

कहा जा सकता है कि जब पुरातन कर्मसस्कार हमारे साथ ही हैं तो फिर उन कर्मसस्कारों को नष्ट करने का पुरुषार्थ करने क्या लाभ ? इसका उत्तर यह है कि सक्रमण हो सकता है । जैसे वृक्ष में सुधार हो सकता है, उसी प्रकार कर्मसस्कार भी बदले जा सकते हैं । पुण्य-पाप कर्म में भी सक्रमण हो सकता है । कर्म की रस और प्रकृति आदि का भी घात हो सकता है । बीज में अच्छी शक्ति मौजूद होने पर भी असावधानी रखने के कारण वह शक्ति नष्ट हो जाती है अथवा खराब हो जाती है; और इसके विपरीत बीज में अच्छी शक्ति न होने पर भी सावधानी के



कारण तथा प्रयत्न करने से बीज में अच्छी उत्पादन शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार अच्छे कर्म भी प्रमाद तथा असावधानी के कारण खराब कर्म बन जाते हैं और सावधानी तथा सत-र्कता के कारण खराब कर्म भी अच्छे कर्म बन जाते हैं। विज्ञान द्वारा वृक्षों का सुधार किस प्रकार हो सकता है, इस विषय में तुमने शायद सुना होगा। सुना है, गोभी का शाक पहले कटुक होता था, परन्तु वैज्ञानिक रीति से उसमें सशो-घन किया गया। तब कड़ुवा शाक भी मीठा बन गया। आम भी आजकल हर एक मौसम में मिलता है। इसका क्या कारण है? इसका कारण भी वैज्ञानिक सुधार ही है। जाम्बू में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु का उपक्रम होता है। वह उपक्रम दो प्रकार का है—परिक्रम अर्थात् सुधार और दूसरा वस्तुविनाश। यह दोनों प्रकार का उपक्रम द्विपद, चतुष्पद तथा अपद इन तीनों का होता है। वृक्ष अपद है अतः उसका भी उपक्रम होता है।

भारतवर्ष में आज वस्तुविनाश की ओर जितना लक्ष्य दिया जाता है, उतना परिक्रम-सुधार की ओर नहीं। इसके विपरीत विदेशी विद्वान विज्ञान द्वारा वस्तु का परिक्रम करते ही रहते हैं। सुना है, अमेरिका में ले जाई गई भारतीय गाय प्रतिदिन १६० रतल दूध देती है। मगर भारत में, भारत ही की गाय इतना दूध क्यों नहीं देती? इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीय लोगों का ध्यान वस्तु के परिक्रम की ओर गया ही नहीं है। आज विदेशियों ने जो वैज्ञानिक उन्नति की है, उसका मुख्य कारण यह है कि परिक्रम की ओर उनका लक्ष्य है। भारतीय अगर वैज्ञानिक ढंग से वस्तु का परिक्रम करें तो भारत भी उन्नत बन सकता है।

कहने का आशय यह है कि अन्य वस्तुओं की तरह कर्म का भी उपक्रम हो सकता है। अगर कर्म का उपक्रम न होता तो कोई मोक्ष में ही नहीं पहुँच सकता। कर्म नष्ट किये जा सकते हैं और इसलिए भगवान् ने कहा है—चौदहवें गुणस्थान में पहुँचकर आत्मा अशरीर बन कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

कुछ लोगो का कहना है कि सिद्ध होने के बाद आत्मा शून्यरूप हो जाता है। अर्थात् सिद्ध होने के पश्चात् आत्मा सिद्धगति में शून्य सरीखा हो जाता है। परन्तु यह बात भ्रमपूर्ण है। सिद्ध होने पर आत्मा पूर्णज्ञानी बन जाता है, और इन्द्रिय तथा शरीर न होने पर भी वह सिद्ध होकर रहता है। सिद्ध का स्वरूप कैसा होता है; यह बात श्री-आचारांगसूत्र में कही है:—

से न दीहे, न हस्से, न वट्टे, न तंसे, न चउरसे, न परिमडले, न कण्हे, न नीले, न लोहिए न हलिद्दे, न सुक्किले, न सुरभिगधे, न दुरभिगधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अं विले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थे, न पुरिसे, न अन्नहा परिन्ने सन्ने । उवमा न विज्जइ ।  
अरूवी सत्ता अपयस्य पयं नत्थि ॥

अर्थात्—आत्मा लम्बा नहीं, छोटा नहीं, गोल नहीं, तिकोना नहीं, चौकोर नहीं, मडलाकर नहीं, काला नहीं, नीला नहीं, लाल नहीं, पीला नहीं, सफेद नहीं, सुगन्धित नहीं, दुर्गन्धित नहीं, तिक्त नहीं, कटुक नहीं, कसैला नहीं, खट्टा नहीं, मीठा नहीं, कठोर नहीं, कोमल नहीं, भारी नहीं, हल्का नहीं, ठंडा नहीं, गर्म नहीं, रूखा नहीं, चुपड़ा नहीं,

रूक्ष नहीं, चिकना नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं । वह ज्ञाता है, विज्ञाता है । उसकी कोई उपमा नहीं है । वह अरूपी सत्ता है । वह अनिर्वचनीय है शब्दातीत है ।

भावार्थ यह है कि जिसमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्श की पर्याय नहीं होती, वह सिद्ध है । इससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वर्ण, रस, गंध तथा स्पर्श का सम्बन्ध शरीर के ही साथ है । अशरीर हो जाने के बाद वर्ण आदि का सम्बन्ध नहीं रहता ।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि सिद्धात्मा में अगर वर्ण आदि कुछ भी नहीं है तो वह किस प्रकार के है ? इस प्रश्नकर्त्ता से यह प्रश्न करना चाहिए कि जिस वस्तु में वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्श नहीं होते, वह वस्तु कैसी होती है ? इस प्रश्न का जो उत्तर हो, वही उत्तर प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का समझना चाहिए ।

उदयपुर में एक वकील के साथ मेरा वार्तालाप हुआ था । वकील आत्मा को प्रत्यक्ष बताने के लिये कहते थे । मैंने उनसे कहा—‘आप अंग्रेजी पढ़ें हैं ?’ उन्होंने उत्तर दिया ‘हां, मैं अंग्रेजी पढ़ा हूँ ।’ तब मैंने उनसे कहा—आप अपने मस्तिष्क में से अंग्रेजी निकालकर नहीं बना सकते तो फिर अरूपी आत्मा किस प्रकार बतलाया जा सकता है ? शास्त्र में आत्मा के विषय में कहा है—

तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया ।

अर्थात्—आत्मा की सिद्धि के लिए तर्क काम नहीं आते और बुद्धि की भी आत्मा तक पहुंच नहीं है ।

आत्मा बुद्धिगम्य नहीं हैं, इसी कारण उसके विषय में 'नेति नेति' कहा गया है। असल में पूर्ण वस्तु का वर्णन हो ही नहीं सकता। आज आत्मा का जो वर्णन मिलता है, वह अपूर्ण है। तिजोरी बड़ी होती है और चाबी छोटी सी। फिर भी इस छोटी-सी चाबी से तिजोरी खोली जा सकती है और उसमें रखा हुआ माल लिया जा सकता है, इसी प्रकार शास्त्र में आत्मा रूपो तिजोरी को चाबो रूप जो भी थोड़ा-सा वर्णन मिलता है, उस वर्णन रूपी चाबी से आत्मा रूपी तिजोरी को खोलो तो मालूम होगा कि आत्मा कैसा है ? और उसमें कैसी-कैसी शक्तियाँ छिपी हुई हैं ?

कहने का आशय यह है कि शरीर परवस्तु है और इसीलिए उसका प्रत्याख्यान किया जाता है। शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न है। यह भेदज्ञान हो जाये तो तुम भी राजा प्रदेशी की तरह अपना कल्याण कर सकते हो। प्रदेशी राजा भी आत्मा का स्वरूप नहीं जानता था। वह शरीर को ही आत्मा मान बैठा था और शरीरसुख को ही वास्तविक सुख समझता था। इस विपरीत मान्यता के कारण वह उन्मार्गगामी हो गया था। परन्तु चित्त प्रधान प्रदेशी राजा का मार्गदर्शक बना और उसे सन्मार्ग पर लाया। राजा प्रदेशी जब सन्मार्ग पर आरूढ़ हुआ अथवा यो कहो कि जब उसे आत्मा और शरीर की भिन्नता का ज्ञान हुआ तब उसने नरक को भी स्वर्ग बना लिया। मिथ्याभिमान के कारण अनेक जीव ससार सागर में गोते खा रहे हैं। मगर जब धर्मनौका का आश्रय मिलता है, तब धर्मनौका की सहायता से पतित आत्मा भी, ससार-सागर को पार

कर जाता है । प्रदेशी राजा भी ससार-सागर में गोते खा रहा था । परन्तु जब भगवान् केशीकुमार ने उसे धर्मनौका बताई और राजा ने उस नौका का आश्रय लिया, तो वह अधर्मी कहलाने वाला राजा भी धर्म-नौका का नाविक बन गया और ससारसागर को पार करने में समर्थ हुआ ।

तुम भी ससार-सागर में गोते खा रहे हो । अगर धर्मनौका का आश्रय लोगे तो एक दिन तुम भी ससार सागर पार कर सकोगे ।

गीता में कुरुक्षेत्र और धर्मक्षेत्र के विषय में उल्लेख किया गया है । गीता का रहस्य गम्भीर है । कुरुक्षेत्र का सामान्य अर्थ खराब क्षेत्र होता है । अर्थात् यह शरीर मल-मूत्र से भरा होने के कारण कुरुक्षेत्र है । इस कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाना चाहिए । अर्थात् आत्मा के उद्धार में शरीर का उपयोग करना चाहिए । कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र बनाने के लिए हमेशा युद्ध करना पड़ता है । जो शरीर का गुलाम नहीं है, ऐसा आध्यात्मिक योद्धा इस कुरुक्षेत्र में कैसे-कैसे आत्मिक साधनों से जीवनसंग्राम में अग्रसर होता है, इसके विषय में श्री उत्तराध्ययन के नौवें अध्याय से कहा है:—

सद्धं नगरं किञ्चा तवसंवरमगलं ।

खती निउणपागारं तिगुत्तं दुप्पसंघयं ॥

धणु परवकमं किञ्चा जीवं च इंरियं सया ।

धिइ च केयणं किञ्चा सच्चेण पलिसंथए ॥

तवनारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसगामो भवाओ परिमुच्चए ॥

नमि राजर्षि देवेन्द्र को बतला रहे हैं कि जीवन-संग्राम किस प्रकार खेलना चाहिए ! श्रद्धा रूपी नगर, सवर-सयम रूपी आगल, क्षमा रूपी सुन्दर प्राकार, तीन गुप्ति रूपी दुर्जय किला, पराक्रम रूपी घनुष, इर्यासमिति रूपी डोरी और धैर्य रूपी केतन बनाकर सत्य के द्वारा परिमथन करना चाहिए । क्योंकि तपश्चर्या रूपी बाणो से युक्त मुनिराज कर्म रूपी वस्त्र को भेदन करके संग्राम में विजयी होते हैं और ससार के बन्धनो से मुक्त हो जाते हैं ।

ऊपर वर्णित आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा अगर कर्म-शत्रुओ के साथ युद्ध किया जाये तो आध्यात्मिक शस्त्रो के सामने पाशविक शस्त्र निष्फल साबित होते हैं । इसमें तनिक भी सदेह नहीं है । आध्यात्मिक शक्ति के समक्ष पाशविक शक्ति सदैव परास्त होती है । आध्यात्मिक शक्ति देवी सपदा है और पाशविक शक्ति दानवी सपदा है । दैत्य हमेशा ही देवो से पराजित हुए हैं, ऐसा पौराणिक कथाओ में सुना जाता है । इसका रहस्य यही है कि दानवी शक्ति दैविक-आध्यात्मिक शक्ति के सामने परास्त हो जाती है । तुम भी आध्यात्मिक शस्त्रो द्वारा पाशविक शस्त्रो को पराजित करो । इसी में तुम्हारा कल्याण है अहिंसा क्षमा, तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक शस्त्र हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मत्सर आदि पाशविक शस्त्र हैं । आध्यात्मिक शस्त्र शक्ति-मैया ( माता ) के आयुध हैं और पाशविक शस्त्र पाशविक शक्ति के आयुध हैं । तुम आध्यात्मिक शस्त्र हाथ में लेकर जीवन-संग्राम में कर्म-शत्रुओ के साथ युद्ध खेलो और उन्हें परास्त करो । इसमें कल्याण है ।

जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण शरीर नाशवान् है और

आत्मा अजरामर होने के कारण अविनाशी है । आत्मा देही है, शरीर देह है । आत्मा देह रूपी गृह में निवास करता है । आत्मा शरीर का त्याग करना चाहे तो कर सकता है । शरीर में आसक्त रहने के कारण ही आत्मा को अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं । शरीर और आत्मा में क्या अन्तर है, यह बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था:—

वासंसि जीर्णानि यथा विहाय,  
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-  
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! तू शरीर को ही सर्वस्व मान बैठा है, परन्तु यह शरीर तो वस्त्र के समान है । जैसे फटे-पुराने वस्त्र को उतार कर नवीन वस्त्र धारण करने में आनन्द माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा ( देही ) भी शरीर रूपी वस्त्र का त्याग करके नवीन शरीर-वस्त्र धारण कर लेता है ।

तुम लोग शरीररूपी वस्त्र त्याग करते समय रुदन करते हो या प्रसन्न होते हो ? अगर तुम्हें यह ज्ञान हो जाये कि मैं आत्मा मरता नहीं, वरन् शरीररूपी वस्त्र बदल रहा हूँ, तो शरीर त्याग करते समय तुम्हें जरा भी दुःख नहीं होगा । जैसे ससार की और सम्पदाएँ आती-जाती रहती हैं उसी प्रकार शरीर भी बदलता रहता है । देह का नाश होता है, देही का नाश नहीं होता । देह का

## ५०-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

लालन-पालन चाहे जैसे किया जाये, आखिर उसका नाश अवश्य होता है । 'देह का नाश होता है, देही का नहीं' यह बात ध्यान में रखकर अनेक भक्तों ने तथा महात्माओं ने असह्य सकट सहन करके भी आनन्द का अनुभव किया था । अगर आत्मा को अपनी अजर-अमरता का भान हो जाये तो उसका कल्याण हुए बिना नहीं रह सकता ।





# उन्चालीसवां बोल

## सहायप्रयाख्यान

शरीर-प्रत्याख्यान के विषय में विचार किया जा चुका है । शरीर का त्याग करने के लिए आत्मा को परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनना चाहिए । अब इसी विषय में विचार करना है । स्वावलम्बी बनने के लिये और परावलम्बन का परित्याग करने के लिए दूसरे की सहायता का त्याग करना आवश्यक है । दूसरे की सहायता का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस विषय में गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं —

### मूलपाठ

प्रश्न--सहायपच्चक्खाणेणं भते । जीवे किं जणयइ ?

उत्तर--सहायपच्चक्खाणेण एगीभाव जणयइ एगी-  
भावमूए वि य ण जीवे एगग भावेमाणे अप्पभुक्के अप्पकलहे  
अप्पकसाए अप्पत्तुं तुमे सजमबहुले संवरबहुले समाहिए यावि  
भवइ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न--भगवन् ! सहायता का त्याग करने से जीव

को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सहायता का त्याग करने से जीवात्मा एक-त्वभाव को प्राप्त होता है और एकत्वभाव को प्राप्त जीव अल्पकषायी, अल्पक्लेशी तथा अल्पभापी होकर समय, सवर तथा समाधि में अधिक दृढ़ होता है ।

### व्याख्यान

सहाय का साधारण अर्थ है—मदद । किसी आत्मा में जब दूसरे के बल पर आश्रित न रहने की और अपने ही बल पर खड़े रहने की भावना उत्पन्न होती है तब वह आत्मा दूसरे की सहायता का त्याग करके स्वाश्रयी बनता है ।

इस सूत्र में परावलम्बन का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी गई है । यह शिक्षा साधु और श्रावक को ही ग्रहण करने योग्य नहीं वरन् आत्मकल्याण के प्रत्येक अभिलाषी के लिए यह समझने और ग्रहण करने योग्य है ।

भगवान् ने साधुओं के लिए कहा है—साधुओं को सदैव यह भावना करनी चाहिए कि मैं अपने ही बल पर आश्रित रहूँगा, दूसरों की सहायता नहीं लूँगा । साधुओं को यह भावना ही नहीं करना चाहिए बल्कि शक्ति का सचय करके भावना को सफल बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिए । कल्याण के इच्छुक साधु अपनी शक्ति देखकर दूसरों की सहायता का त्याग करते हैं और स्वावलम्बी बनते हैं ।

दूसरों की सहायता का त्याग करने से और स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय

में गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया है । इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—सहायता का त्याग करने से पहला लाभ तो एकाग्र भावना उत्पन्न होना है अर्थात् सहायत्याग से मन सकल्प-विकल्प का त्याग करके एकाग्र बन जाता है । स्वावलम्बी बन जाने से यह सकल्प-विकल्प मन में उत्पन्न नहीं होता कि कोई मुझे सहायता देगा या नहीं ? इस प्रकार मन एकाग्र सकल्प विकल्पहीन बनने से सहायता का त्यागी अपने आपको एकाकी-अकेला—अनुभव करने लगता है । तब वह दूसरों के साथ अधिक सभाषण नहीं करता और 'प्रमुक्त काम करना है, अमुक्त काम नहीं करना है' इस प्रकार की झझटों से छुटकारा पा लेता है । किसी प्रकार के बाहरी झझट में न पड़ने के कारण सहायत्यागी को किसी के साथ रगड़ा-भगड़ा (क्लेश) नहीं करना पड़ता । रगड़े-भगड़े न होने से उसमें कषायभाव पैदा नहीं होता । इस प्रकार सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने से जीवात्मा एकाग्रचित्त, एकाकी, अल्पभाषी, अल्प-क्लेशी तथा अल्पकषायी बनता है और सयम, सवर तथा समाधि में अधिक दृढ़ होता है । इस तरह एक सहायता के त्याग से आत्मा को अनेक लाभ होते हैं ।

यह मूल सूत्र पर विचार किया गया । अब यह विचार करना है कि इस सूत्र से हमें क्या सार लेना चाहिए ?

इस सूत्र का प्रधान स्वर यह है कि स्वावलम्बी बनो, परावलम्बी नहीं, स्वतन्त्र बनो, परतन्त्र नहीं । आज लोग स्वतन्त्रता—स्वतन्त्रता चिल्लाते हैं, मगर स्वतन्त्र बनने के सच्चे मार्ग पर नहीं चलते । स्वतन्त्र बनने के लिए सर्व

प्रथम स्वावलम्बी बनना आवश्यक है । स्वावलम्बी बने बिना कोई देश या समाज स्वतन्त्र नहीं बन सकता । आत्मा को भी कर्मबन्धनों से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने के लिए पर की सहायता त्याग कर स्वावलम्बी बनना आवश्यक है । जो मनुष्य स्वावलम्बी नहीं होता उसे पद-पद पर आपत्तियों का सामना करना पड़ता है ।

आज जितने सुखसाधन बढ़े हैं, उतने ही परतन्त्रता के बन्धन बढ़ गये हैं । आज जो साधन सुखसाधन कहलाते हैं, वे वास्तव में सुखदायी नहीं हैं । वे परतन्त्रता के बन्धन हैं । परतन्त्रता के इन बन्धनों को ढीला करने के लिए तथा कर्मबद्ध आत्मा को स्वाधीन बनाने के लिए दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनने की आवश्यकता है । सुखसाधनों की जो जितनी सहायता लेता है वह उतना ही परतन्त्र बनता है । उदाहरणार्थ—मान लो, किसी जगह जल्दी पहुँचने के लिए रेलवे का साधन मौजूद है । तो क्या इस साधन के कारण तुम परतन्त्र नहीं बने हो ? क्या रेल कभी तुम्हारी प्रतीक्षा करती है ? इसके विपरीत तुम्हें रेल की प्रतीक्षा करनी पड़ती है । अतएव रेल तुम्हारे अधीन नहीं, वरन् तुम्हीं रेल के अधीन हो । यही तो परतन्त्रता है ! जो लोग रेल का त्याग कर देते हैं वे रेल के अधीन नहीं हैं । इसी प्रकार ज्यो ज्यो और सुखसाधन बढ़े हैं त्यो-त्यो परतन्त्रता के बन्धन बढ़े हैं ।

परतन्त्रता में मानसिक स्थिति डावाडोल रहती है । स्वतन्त्र अवस्था में ही मन एकाग्र रह सकता है । अतः जो एकाग्रता के उपासक हैं, उन्हें दूसरो की सहायता का त्याग

करना ही चाहिए । दूसरो की सहायता लेने वाला पर-तन्त्रता के कारण तथा अपनी निर्बलता के कारण सहायता लेता है । अगर अपनी निर्बलता दूर कर दी जाये तो फिर किसी की सहायता लिए बिना भी काम चल सकता है । दूसरो से जितनी सहायता ली जायेगी, उतनी ही परतन्त्रता बढ़ेगी और एकाग्रता घटेगी । एकाग्रता भग होने से आत्मा के अनेक गुणों का नाश हो जाता है । अगर वृक्ष को बार-बार उखाड़ कर एक जगह से दूसरी जगह रोपा जाये तो क्या वह फल-फूल दे सकेगा ? नहीं । इसका प्रधान कारण यह है कि उस वृक्ष में एकाग्रता का गुण नहीं रह पाता । पालीयाद में बार-बार भूकम्प के धक्के लगने से लोग भय-भीत हो गये हैं और उनकी एकाग्रता भग हो गई है । जहा आधार में ही चंचलता हो वहा आधेय में एकाग्रता कैसे आ सकती है ? जैसे वृक्ष को बार बार एक जगह से दूसरी जगह उखाड़-उखाड़ कर रोपने से उसका फल-फूल देने का गुण नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सकल्प-विकल्प से बार-बार मन को चंचल करने से आत्मा की गुण-शक्ति घटती जाती है । जब तक मन की चंचलता दूर नहीं होती, तब तक आत्मा में सद्गुणों की स्थिरता भी नहीं रह सकती ।

कुछ लोगों का कहना है कि शास्त्र में जिन चमत्कारों का वर्णन निकला है, वे चमत्कार आज क्यों नहीं दिखाई देते ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में वर्णित चमत्कार तो सच्चे ही हैं मगर अपनी मन की चंचलता के कारण वे आज दिखाई नहीं दे सकते । आज लोगों के मन

## ५६—सम्यक्त्वपराक्रम (४)

मे कैसी चचलता आ गई है, इस बात का जरा विचार तो करो । तुम (श्रोता) लोग अभी यहा बैठे हो, पर तुममें से किसका मन कहा घूम रहा है, यह कौन कह सकता है ? मन में इतनी अधिक चचलता होने का कारण दूसरो की सहायता लेना ही है ।

तुम समझते हो कि हम रेल, तार, टेलीफोन वायु-यान आदि वैज्ञानिक सुख-साधनो की सहायता मिलने के कारण सुखी हैं । मगर इन सब सुख-साधनो के कारण तुम्हारे मन मे कितनी और किस प्रकार की चचलता बढ़ गई है, यह विचार तो करो । इन सुख-साधनो के कारण तुम अपने को सुखी मानते हो, परन्तु जिनके पास यह साधन नही है और जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक इन साधनो की सहायता लेने का त्याग कर दिया है, वे साधु क्या दुःखी हैं ? साधु सुखसाधनों की सहायता नही लेते । जो सच्चे साधु है और जो यह मानते है कि भगवान् ने हमारी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही हमें ऐसे साधनो की सहायता न लेने की आज्ञा दी है, वे साधु अपने आपको सब से ज्यादा सुखी मानते हैं ।

कदाचित्त किसी साधु के मन मे यह धारणा हो कि आजकल चमत्कार को नमस्कार किया जाता है । अतएव हमारे पास किसी प्रकार की लब्धि हो तो अच्छा है । हम उस लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखा सकेंगे । इस प्रकार विचार करने वाले साधु को सोचना चाहिए कि जब भगवान् ने हमें दूसरो की सहायता लेने का निषेध किया है तो फिर हम लब्धि का प्रयोग करके चमत्कार दिखला ही कैसे सकते हैं ? साधुओ को लब्धि का उपयोग चम-

त्कार दिखाने में नहीं करना चाहिए । इतना ही नहीं, वरन् किसी दूसरे की सहायता भी नहीं लेनी चाहिए ।

मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था—एक आदमी ने दूसरे से कहा—मुझे लब्धि प्राप्त हुई है और मैं उससे चमत्कार दिवा सकता हूँ । दूसरे ने उत्तर दिया—कुछ चमत्कार दिखाओ तो मालूम हो कि तुम्हे कैसी लब्धि प्राप्त हुई है । लब्धि वाले मनुष्य ने रास्ता चलते एक मदोन्मत्त हाथी को योग-शक्ति द्वारा जडवत् बना दिया । यह दृश्य देख कर दूसरा आदमी चकित रह गया । उसने एक तीसरे आदमी से यह आश्चर्यकथा कही । उसने दूसरे से कहा—बताओ तो सही, क्या आश्चर्य देखा है ? तब दूसरे आदमी ने कहा—अमुक आदमी ने अपनी योग-शक्ति के द्वारा रास्ता चलते मदोन्मत्त हाथी को जडवत् बना दिया । यह सुन कर तीसरे आदमी ने कहा इसमें इतना आश्चर्य करने की कौन-सी बात है ? यह काम तो एक दवा से भी हो सकता है । योगी ने योगसाधना करके भी अगर ऐसा चमत्कार दिखलाया तो योगसाधना का फल ही क्या हुआ ? हाथी को जडवत् बना देना कोई योग का चमत्कार नहीं है । दवा से भी यह काम हो सकता है और ऐसी मेरे पास भी है । नम यह दवा ले जाओ और किसी मदोन्मत्त हाथी को पूछ पर थोड़ी-सी लगा देना । फिर देखना इस दवा का क्या असर होता है । दूसरे आदमी ने उस दवा का हाथी पर प्रयोग कर देखा । उसे विश्वास हो गया कि हाथी को जडवत् बना देने की क्रिया तो दवा के द्वारा भी हो सकती है ।

तीसरे आदमी ने उससे कहा—दवा के प्रयोग से मदोन्मत्त हाथी भी जडवत् बन सकता है, यह विश्वास तुम्हे हो

## ५८-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

गया न ? अगर यही कार्य योगसाधना द्वारा किया जाये तो योग की सिद्धि क्या रही ? सच्चा योग तो मन को एकाग्र करके काबू में कर रखना है । अगर मन काबू में नहीं रहता तो समझना चाहिए कि वह योग ही सच्चा नहीं है । जो अपना मन एकाग्र करके काबू में रखता है, उस योगी के लिए ससार में ऐसा कोई कार्य नहीं, जो अशक्य हो । ऐसी कोई वस्तु नहीं जो उसके अधीन न हो, सच्चा योगी वही है जो साधनों का त्याग कर देता है । साधुओं ने ससार की सहायता का त्याग करके स्वतंत्र बनने के लिए ही ससार का त्याग किया है । मन को एकाग्र करने के लिए तथा आत्मा को त्रिविध ताप से बचाने के लिए पर की सहायता का त्याग करना आवश्यक है ।

आजकल साधुओं को भी जमाने की हवा लग गई है । इसी कारण उनमें यथोचित निष्चलता और निस्पृहता नजर नहीं आती । चित्त की चंचलता का कारण जमाना बदलना बतलाया जाता है, पर जमाना किसने बदल दिया है, इस बात का विचार नहीं किया जाता । दोष, चाहे जमाने को दिया जाये, चाहे कि-ी और के सिर मढ़ा जाये परन्तु साधुओं के लिए श्रेयस्कर यही है कि वे दूसरों की सहायता का त्याग करें ।

यह बात दूसरी है कि कभी सच्ची बात भी दबा दी जाती है और झूठी बात को भी महत्व मिल जाता है, मगर सच्चाई अन्त में सच्चाई ही सिद्ध होती है । अतः जमाने की किसी घुराई को जीवन में स्थान न देते हुए, दूसरों की सहायता त्याग कर, मन की चंचलता दूर करके,



एकाग्र भावना प्रगट करनी चाहिए । जब तक दूसरो की सहायता लेने की भावना रहेगी तब तक मन की चंचलता बढ़ती ही रहेगी । इसके विपरीत, सहायता लेने का जितना त्याग किया जायेगा और जितने परिमाण में स्वावलंबी होने का प्रयत्न किया जायेगा, उतना और उसी परिमाण में आत्मा स्वतन्त्र और स्वाधीन बनेगा । ज्ञानीजनों का कथन है कि साधनों का जितना त्याग किया जायेगा, त्याग उतना ही सफल होगा । सुख-साधनों का त्याग करने से बंधन ढीले होंगे और जीवन में निस्पृहता आएगी इससे विपरीत सुख-साधन में जितनी वृद्धि की जायेगी, उतने ही परिमाण में बंधन दृढ़ होंगे । परिणाम स्वरूप जीवन में परतन्त्रता का प्रवेश होगा ।

आज एक दूसरे पर जो आपेक्ष किये जाते हैं, उसका प्रधान कारण भी साधनों की वृद्धि है । सुख-साधनों की वृद्धि के साथ ससार में क्लेश की भी वृद्धि हुई है । लोगों को समाचार-पत्र पढ़ने का इतना चस्का है कि कुछ लोग भोजन किये बिना चाहे रह जायेंगे, पर समाचार-पत्र पढ़े बिना नहीं रह सकते । समाचार-पत्र पढ़ने से कलह बढ़ा है या घटा है ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट ही है कि समाचार-पत्रों के द्वारा कलह में वृद्धि हुई है और चंचलता भी बढ़ गई है ।

मन की एकाग्रता अत्यावश्यक है । मैं ऐकाग्र किये बिना शान्ति नहीं मिल सकती । अगर एक रात नींद न आये तो तब्ययत कितनी खराब हो जाती है ? निद्रा लेना मन की एकाग्रता का विकृत उदाहरण है । मगर निद्रा की

कितनी आवश्यकता है इस बात का विचार करो । जो व्यक्ति चंचलता छोड़कर निद्रा लेता है और इस प्रकार थोड़े समय के लिए तथा विकृत रूप से भी मन को एकाग्र रखना है, वह शरीर को स्वस्थ रख सकता है । जो मनुष्य काम-काज में ही लगा रहता है और यथासमय निद्रा नहीं लेता वह बीमार पड़ जाता है । जब विकृत रूप में भी मन को एकाग्र रखने से इतना अधिक लाभ होता है तो फिर सम्यक् प्रकार से मन को एकाग्र बनाने से कितना लाभ होता होगा ।

मन की एकाग्रता से आत्मा को अपूर्व लाभ होता है । लोग यह समझते हैं कि आनन्द कहीं बाहर से आता है, पर वास्तव में आनन्द बाहर की वस्तुओं में नहीं है । आत्मा में ही अखूट आनन्द भरा हुआ है । आत्मा अपने में से ही आनन्द उलब्ध करता है । मन को एकाग्र रखने से आत्मा में आनन्द का स्रोत बहने लगता है । किसी भी वस्तु में जो आनन्द दिखाई देता है, वह आनन्द इसी कारण आनन्द रूप मालूम होता है कि आत्मा में आनन्द भरा हुआ है । दुनिया की तमाम वस्तुएँ आत्मा के लिए ही हैं । आत्मा न हो तो इन वस्तुओं को कोई टके सेर भी न पूछे । वस्तुओं का मूल्य आकने वाला आत्मा ही है और इसीलिए कहा गया है—

न सर्वस्य कामाय प्रियं भवति,

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति ।'

उपनिषद्कार कहते हैं वस्तु को कोई वस्तु प्रिय नहीं है, आत्मा को ही वस्तु प्रिय लगती है । हीरा, माणिक, मोती वगैरह जो भी पदार्थ प्रिय मालूम होते हैं सो सब

आत्मा को ही प्रिय मालूम होते हैं । परन्तु आजकल तो ससार में उत्क्रम चल रहा है । जिस आत्मा को सभी वस्तुएं प्रिय लगती हैं वही आत्मा आज भुनाया जा रहा है और आत्मा की शक्तियों के विषय में कोई विचार ही नहीं किया जाता । आत्मा में ऐसी महान् शक्ति विद्यमान है कि उसे परतन्त्र रहने की आवश्यकता ही नहीं है । परन्तु आज आत्मा अपने भीतर विद्यमान महान् शक्ति को भूलकर परतन्त्र बन रहा है ।

कहा जा सकता है कि आजकल का तोतारटत ज्ञान भी आत्मा की परतन्त्रता का कारण है । इस ज्ञान की बदौलत आत्मा दूसरों की सहायता अधिक लेने लगा है और नतीजा यह हुआ है कि वह परतन्त्रता की बेड़ों में बध गया है । जंगल में रहने वाले पशुओं-पक्षियों को देखो । मालूम होगा कि वे मनुष्यों के समान दूसरों की सहायता नहीं लेते हैं । कहा जा सकता है कि अज्ञान होने के कारण वे दूसरों की सहायता नहीं लेते हैं । इसके उतर में कहा जा सकता है कि मनुष्य समाज में जो ज्ञान है वह क्या परतन्त्रता बढ़ाने के लिए है ? सच्चा ज्ञान तो वही है जो आत्मा को बधनों से मुक्त करता है । बधनों से मुक्त न करने वाला ज्ञान वास्तव में ज्ञान ही नहीं है । ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

‘सा विद्या या विमुक्तये ।

अर्थात् सच्ची विद्या वही है जो बधनों से मुक्त करती है ।

तुम लोग आज दूसरों की बहुत सहायता लेते हो, इस कारण तुम में भिखारीपन आ गया है । भिखारी को सुख कहा ? जब उसे कोई वस्तु नहीं मिलती तो वह दुखी होता है । शास्त्रकार भिखारी की प्रशंसा नहीं करते ।

भारत्र तो दूसरों की सहायता लेने वाले को भिखारी कहना है । सच्चा साहूकार वह है जो दूसरो से मिलने वाली सुलभ सहायता का भी परित्याग कर देता है ।

स्वतंत्रता चाहने और स्वतंत्रता पाने में बहुत अन्तर है । आज लोग स्वतंत्रता च हते हैं परन्तु उसे पाने के लिए प्रयत्न नहीं करते । स्वतंत्रता पाने के लिए स्वतंत्रता के मार्ग पर चलना आवश्यक है । स्वावलंबी बनना स्वतंत्रता प्राप्त करने का मुख्य मार्ग है । दूसरो की सहायता की लेश-मात्र भी अपेक्षा न रखना ही स्वावलम्बन है ।

प्रत्येक स्त्री या पुरुष स्वावलम्बन के मार्ग पर चल सकता है । स्वावलम्बन का राजमार्ग सभी के लिए खुला है । राजीमती स्त्री होने पर भी स्वावलम्बन के राजमार्ग पर चल कर आत्मा को स्वतंत्र बना सकती थी । यही नहीं, वरन् रथनेमि जैसे कर्त्तव्यभ्रष्ट योगी को भी स्वावलम्बन की शिक्षा देकर उसने आत्म-स्वतंत्रता के पथ पर अग्रसर किया था ।

स्वतंत्र व्यक्ति ही दूसरो को स्वतंत्रता का संदेश दे सकता है । परावलंबी पुरुष स्वतंत्रता का संदेश नहीं सुना सकता । स्वतंत्रता-देवी का प्रधान द्वार स्वावलम्बन है । स्वावलंबी बने बिना स्वतंत्र बनना संभव नहीं । इसीलिए भगवान् महावीर ने आत्मा को कर्म-बंधनो से मुक्त करने, स्वतंत्र बनाने के लिए स्वावलम्बन का आदर्श पाठ जगत के समक्ष उपस्थित किया था । इस स्वावलम्बन के आदर्श का अनुसरण करने में ही देश, समाज तथा धर्म का अभ्युत्थान तथा कल्याण है ।



# चालीसवां बोल

## भक्तप्रत्याख्यान

---

शास्त्र में आत्मकल्याण के अनेक मार्ग बतलाये गये हैं । उनमें से एक मार्ग दूसरो की सहायता का त्याग करके स्वावलम्बी बनना भी है । जो स्वावलम्बी बनना चाहता है वह शरीर के अधीन भी रहना पसन्द नहीं करता । जब स्वावलम्बी आत्मा शरीर की अधीनता भी पसन्द नहीं करता तब यह स्वाभाविक ही है कि वह शरीर को पुष्ट करने वाले भोजन का त्याग कर दे । प्राणान्त तक भोजन का त्याग करना अर्थात् अनशन धारण करना साधारण जनता को दुष्कर प्रतीत होगा परन्तु स्वावलम्बी आत्मा के लिए ऐसा करना दुष्कर नहीं सुकर होता है । भोजन का त्याग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं ।

### मूलपाठ

प्रश्न—भक्तपच्चवखाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—भक्तपच्चवखाणेण अणेगाइं भवसयाइ निरु भइ।४०।

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् । भोजन का प्रत्याख्यान करने से अर्थात् अनशन करके सथारा लेने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—भोजन का प्रत्याख्यान करने से जीव सैकड़ों भवों को काट डालता है अर्थात् जीव अल्पससारी बनता है ।

## व्याख्यान

भक्त का सीधा-सादा अर्थ है - भात । 'भाथा' या 'भातु' शब्द भी इसी से बना है । भक्त या भक्त का अर्थ भोजन है । यहाँ भोजन के विषय में ही प्रश्नोत्तर है । आहार के त्याग की बात सुनकर किसी को शका हो सकती है कि जैनधर्म तो दयाधर्म कहलाता है, फिर इस दयाधर्म में भोजन के त्याग की बात कहना कहा तक उचित है ? आहार का त्याग करना तो प्राणों का त्याग करना है । आहारत्याग द्वारा प्राणत्याग के लिए कहना अनुचित ही है । इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार का कथन है कि दूसरे की सहायता का त्याग करने वाला ही आहार का त्याग कर सकता है । जो पुरुष आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न समझता है और इस भेदज्ञान के कारण जिसने शरीर की सहायता का भी त्याग कर दिया है, वही भोजन का त्याग कर सकता है । शास्त्र में कहा है - अपच्छिममरण अर्थात् जब मरण समीप आ जाये तब सथारा अर्थात् अनशनव्रत धारण किया जा सकता है ।

मरण दो प्रकार से होता है—आयु के क्षय से और उपसर्ग से । मृत्यु किसी भी प्रकार से हो मगर कुत्ते की मौत मरना उचित नहीं । वीरतापूर्वक मृत्यु का आर्लिगन करना चाहिए । वीरतापूर्वक मृत्यु का आर्लिगन करने वाला भोजन के प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है । भोजन का त्याग करके जो मृत्यु को जीतता है, उसी का अपच्छि-ममरण होता है ।

यहां भक्तप्रत्याख्यान का अर्थ सम्पूर्ण अनशन करना है । भगवान् ने कहा कि भोजन का त्याग करने वाला ससार का छेद करता है । शास्त्र में भोजन के प्रत्याख्यान के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह निर्दयता का व्यवहार करने के लिए नहीं बल्कि आत्मा के कल्याण के लिए ही कहा गया है । जो व्यक्ति परकीय सहायता का त्याग करता है वही भोजन का त्याग कर सकता है । इस प्रकार आहार का त्याग न करना और आहार-पानी न मिलने के कारण विलाप करते-करते मरना, बारह प्रकार के बाल-मरणों में से एक बालमरण है । इस प्रकार का मरण, भोजन-पान के त्याग से होने वाला पण्डितमरण नहीं कहा जा सकता । हाँ, असमय में भोजन का त्याग नहीं किया जा सकता । यह तो सब काम कर चुकने के बाद किया जाने वाला काम है । अतएव यह विचार रखना अत्यावश्यक है कि सथारा कब करना और कराना चाहिए ।

सथारा करने का प्रयोजन क्या है ? इस विषय में शास्त्र में बहुत विचार किया गया है । शास्त्र में यह प्रश्न किया गया है कि हे भगवन् ! मरते समय क्या भूखा रहना

उचित है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है— यह स्थूलदृष्टि का कथन है । सूक्ष्मदृष्टि से तो मरते समय अनशन करना ही योग्य है । इस प्रकार कहकर भगवान् ने, सथारा क्यों और कब लिया जाता है, यह बात स्पष्ट करने के लिए भड़क चोर का उदाहरण दिया है । वह इस प्रकार है:—

शखपुर में एक चालाक चोर रहता था । वह इस चालाकी से लोगों के घर चोरी करता था कि यह पता लगाना तक कठिन हो जाता था कि चोरी कब और किस प्रकार हुई है ? चोरी के कारण प्रजा परेशान हो गई । प्रजा ने बहुत प्रयत्न किया मगर चोर का पता नहीं लगा । किसी के घर का ताला टूटा नहीं, दीवार में से घुस लगी नहीं, फिर भी घर में चोरी हो गई । इस चतुर चोर की चालाकी से प्रजा थक गई । आखिरकार प्रजा इकट्ठी होकर राजा के पास पहुची । शखपुर की प्रजा छोटी-छोटी बातों के लिए राजा के पास नहीं पहुचती थी । अतएव राजा समझ गया कि आज प्रजा पर कोई बड़ी मुसीबत आई दिखाई देती है । इसी कारण लोग मेरे पास आये हैं ।

राजा ने प्रजाजनों से पूछा—तुम्हें क्या कष्ट है, स्पष्ट कहो ।

प्रजा ने चोर द्वारा चारों ओर फैलाये हुए हाहाकार का वृत्तान्त आदि से अन्त तक कह सुनाया । राजा चोर की चालाकी की बात सुनकर आश्चर्यचकित हो कहने लगा—यह चोर वास्तव में कोई महान् चोर है । खोज करके जल्दी ही उसे पकड़ना चाहिए । चोर को पकड़कर मैं प्रजा



का दुःख दूर करने का यथासम्भव प्रयत्न करूंगा । अगर मैं सच्चा राजा हू तो अपने प्राणों को होम करके भी सात ही दिन में चोर को पकड़ लूंगा । इस प्रकार कहकर राजा ने प्रजा को आश्वासन दिया ।

आज ऐसे प्रजाप्रेमी नरेश बहुत कम नजर आते हैं जो प्रजा के दुःख को अपना दुःख समझकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं । प्रजाप्रिय राजा, प्रजा की रक्षा के लिए अपने प्राण भी निछावर कर देता है ।

राजा ने चोर को पकड़ने की प्रतिज्ञा की है यह बात चारों ओर नगर भर में फैल गई । मझक चोर ने भी राजा की प्रतिज्ञा की बात सुनी । वह विचार करने लगा—राजा ने प्राण का भोग देकर भी मुझे पकड़ने की प्रतिज्ञा की है । अब मेरा बचना कठिन है । फिर भी मुझे तो राजा के पजे से बचने का ही प्रयत्न करना चाहिए । वीर पुरुष का कर्तव्य है कि वह पराजित भले ही हो जाये मगर पुरुषार्थ का त्याग न करे । मुझे सावधानी के साथ काम करना चाहिए और पुरुषार्थ नहीं त्यागना चाहिए । पुरुषार्थ छोड़कर बैठ रहना कायरता है ।

चोर का पता लगाने के लिए राजा भेष बदलकर शहर में निकला । इधर चोर भी अपना भेष बदलकर यह देखने के लिए निकला कि देखे, राजा क्या करता है ? चोर पैर में पट्टी बांधकर, हाथ में लाठी लेकर, बीमार दरिद्र की तरह शहर में घूमने निकला । राजा ने मझक चोर को इस भेष में देखा । मझक चोर की आख देखते ही राजा मन में समझ गया कि चोर यही है । परन्तु जब तक प्रमाण

द्वारा अपराध साबित न हो जाये तब तक उसे दण्ड नहीं दिया जा सकता । दोनों एक दूसरे के सामने आये और आपस में पूछने लगे—‘तुम कौन हो ?’ किसी ने अपना परिचय नहीं दिया । अन्त में चोर ने कहा—‘मैं कौन हूँ, यह जानने की तुम्हें क्या आवश्यकता है ? तुम अपना काम करो, मैं अपना काम करता हूँ । चोर के इस कथन का आशय राजा ने यह समझा कि चोर ठीक ही कह रहा है कि ‘मैं चोर हूँ । चोरी करने जाता हूँ । तुम राजा हो तो मुझे पकड़ लो ।’

इस प्रकार विचार कर राजा वहाँ से चलता बना । जाते-जाते राजा ने यह भी निश्चय कर लिया कि चोर सामने के पहाड़ में रहता है और इस रास्ते से शहर में आता है ।

दूसरे दिन राजा ने भिखारी का भेष बनाया । वह उसी रास्ते पर चुपचाप बैठ गया, जिस रास्ते से चोर आया-जाया करता था । चोर भी भेष बदलकर शहर में आया । रात अन्धेरी थी । भिखारी के भेष में पड़े हुए राजा पर उसकी निगाह न पड़ी । अतः चोर के पैर में राजा की ठोकर लग गई । ठोकर लगते ही वह चिल्ला उठा । चोर ने पूछा—‘तू कौन है ?’

राजा ने कहा—‘मैं गरीब भिखारी हूँ । रहने को कहीं जगह नहीं । इसलिए यहाँ पड़ा हूँ ।’

चोर बड़ा ही चालाक था । समझ गया, यही राजा है । उसने सोचा—‘किसी भी उपाय से राजा को नष्ट किया जा सके तो फिर कोई आफत ही न रहे ।’

चोर बोला—क्या इस तरह रास्ते में पड़े रहने से तेरा दुख दूर हो जायेगा ?

राजा—इस तरह पड़े रहने से दुख दूर नहीं होगा । दुख तो तुम्हारे जैसे की सगति से दूर हो सकता है ।

चोर—तू मेरे साथ चल । मैं तेरा दुख दूर करूंगा ।

राजा ने चोर के साथ जाना कबूल किया । राजा साथ हो लिया । दोनों एक-दूसरे को मार डालने की घात में थे, इस कारण दोनों ही सावधान थे ।

चोर ने चोरी की । घन आदि की दो पेटियां भरी । फिर राजा से कहा—एक पेट्टी तू उठा ले । पर देखना, भाग मत जाना ।

राजा—नहीं, मैं भागूंगा क्यों ?

चोर—तो ठीक है । चल । आगे चल । मैं तेरे पीछे-पीछे चलता हूँ ।

राजा—तुम्हें कहा जाना है, सो मुझे मालूम नहीं । अतएव आगे तुम चलो । मैं पीछे-पीछे चलूंगा ।

चोर—ठीक है, तू पीछे ही चलना । मगर तू कहीं भाग न जाय, इसलिए तुझे रस्सी से बांध लेता हूँ ।

चोर ने राजा को रस्सी से बांध लिया । चोर आगे-आगे चलने लगा । राजा चोर नहीं था । फिर भी मझक चोर ने राजा को चोर की तरह बांध लिया ।

राजा को साथ लेकर चोर घर आया । मझक चोर ने अपनी लडकी को पास बुलाकर कहा—मैं एक आदमी को

साथ लाया हू । वह मेरे व्यवसाय में विघ्न डालता है । किसी उपाय से उसे मार डालना है ।

पुत्री ने कहा - आपकी आज्ञा के अनुसार सब काम हो जायगा ।

लडकी तब राजा के पास पहुची । बोली--भोजन तैयार है । जीमने चलो ।

राजा ने मन ही मन में कहा--भोजन करना तो चाहिए, मगर भोजन करते समय सावधान रहना होगा । इस समय मैं चोर के घर में हूँ ।

राजा ने लडकी से कहा--पहले तुम जीम लो । तुम्हारे जीमने के बाद मैं भोजन करूंगा । मैं भिखारी हूँ, फिर भी इतनी सम्यक्ता जानता हूँ । जब तक घर वाले न जीम लें, मैं कैसे जीम सकता हूँ ।

राजा की बात सुनकर लडकी समझ गई--यह भिखारी नहीं है । दरअसल भिखारी होता तो ऐसा न कहता, वरन् खाने बैठ जाता ।

चोर की कन्या ने राजा से कहा--अगर तुम सम्यक् हो तो भोजन से पहले स्नान करना चाहिए ।

राजा--अगर यह नियम है तो इसका पालन करना मेरा कर्त्तव्य है ।

चोरकन्या राजा को स्नान कराने के लिए कुएँ पर ले गई । चोरकन्या का यह नियम था कि वह जिसे स्नान कराने कुएँ पर ले जाती, उसके पैर पकड़ कर कुएँ में फेंक देती थी । राजा को कुएँ में डालने के लिए उसने राजा के

पैर पकड़े । पर राजा के सुलक्षण युक्त पैर देखकर वह सोचने लगी—यह तो कोई महापुरुष है । पैर के चिह्नों से मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का हाल मालूम हो जाता है । इस कथन के अनुसार चोरकन्या ने राजा के लक्षणयुक्त पैर देखकर विचार किया—यह कोई महान् पुरुष है । ऐसे महान् पुरुष को पिताजी मार डालना चाहते हैं, यह उचित नहीं है ।

चोरकन्या कहने लगी 'मेरे पिता अत्यन्त क्रूर हैं । वे तुम्हें मार डालना चाहते हैं । मैं तुम्हारे लक्षणयुक्त पैर देखकर समझ गई हूँ कि तुम राजा हो । मैं तुमसे यही कहना चाहती हूँ कि अगर अपने प्राण बचाना चाहते हो तो इस रास्ते से जल्दी भाग जाओ । वरना तुम्हारे प्राणों की खैर नहीं ।

राजा ने चोरकन्या की बात मान ली । वह उसके बताये मार्ग से भाग निकला । राजा जब दूर जा पहुँचा तो चोरकन्या ने मझक को आवाज दी । कहा—वह भिखारी तो भाग गया ।

भिखारी के भागने का समाचार पाते ही मझक की आखें लाल हो गईं । कक नामक पत्थर से बनाई गई तीखी तलवार लेकर वह राजा के पीछे दौड़ा । तलवार इतनी तीखी थी कि जिस चीज पर उसका प्रहार हुआ, तत्काल उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे ।

चोर ने दूर से ही राजा पर तलवार का प्रहार किया । मगर वह प्रहार पत्थर के खभे पर जा लगा । खभा टुकड़े-टुकड़े होकर गिर पड़ा । राजा बड़ी कठिनाई में बच सका ।

## ७२-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

चोर समझ गया—राजा बच गया है और खंभा टुकड़े-टुकड़े हो गया है ।

चोर निराश होकर घर लौट आया । उसने अपनी कन्या से कहा—राजा धोखा देकर भाग गया । वह अपने घर की छिपी बातें जान गया है । अब हमें बहुत होशियारी के साथ रहना चाहिए ।

चोरकन्या ने कहा—पिताजी ! जान पड़ता है, अब आपके पापों का घड़ा भर गया है ।

मझक ने क्रुद्ध होकर कहा—क्यों अपशकुन की बात मुँह से निकालती है ?

चोरकन्या—पाप का अन्त होने में बुराई क्या है, पिताजी !

लडकी की बात मझक को बहुत बुरी लगी । फिर भी वह मौन रहा ।

दूसरे दिन चोर व्यापारी बनकर गखपुर के बाजार में क्रय-विक्रय करने आया । इधर राजा भी वेष बदल कर चोर की फिराक में शहर में घूमने लगा । घूमता-घूमता राजा उसी दुकान पर आ पहुँचा, जहाँ चोर व्यापारी के रूप में क्रय-विक्रय कर रहा था । राजा, चोर व्यापारी को देखते ही पहचान गया । राजा ने पूछा—‘तुम क्या बेचने आये हो ?’ तुम्हारे पास क्या है ?

चोर - हमारे पास सभी कुछ है । तुम्हें क्या चाहिए ?

राजा—भाई, मुझे और कुछ नहीं चाहिए । सिर्फ तुम्हारी आवश्यकता है ।

चोर—मेरा क्या काम है ?

राजा—तुम चोर हो, इसीलिए तुम्हारी जरूरत है ।

चोर—मैं साहूकार हूँ । कौन मुझे चोर कहता है ?

राजा तुम्हारे चोर या साहूकार का अभी निर्णय हो जायगा । तुम्हारे चोर होने की खातिर मैंने तो पहले से ही कर रखी है ।

आखिरकार राजा ने चोर को पकड़ लिया । चोर विचार करने लगा—मुझे पकड़ने वाला कोई मामूली आदमी नहीं है । राजा ने मुझे पकड़ा है । मुझे सख्त सजा मिलेगी ।

राजा बोला—अब तुम पकड़े जा चुके हो । कहो अब तुम्हें क्या करना है ?

चोर बोला—जो आप कहे, वही करने को तैयार हूँ ।

राजा—सब से पहले तुम अपनी कन्या का मेरे साथ विवाह कर दो ।

चोर—ठीक है । यह कह कर उसने प्रसन्नतापूर्वक अपनी कन्या राजा को ब्याह दी ।

राजा ने चोरकन्या से कहा—तुमने मेरे शरीर की रक्षा की थी । अब यह शरीर मैं तुम्हारे सिपुर्द करता हूँ ।

चोरकन्या बोली—नाथ, आप उदार हैं, इसी से ऐसा कहते हैं । मैं तो वास्तव में चोर की कन्या हूँ । मैं आपके सन्मान के योग्य नहीं । आपने मेरा सन्मान करके मुझ पर उपकार किया है ।

राजा—अब तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी

चाहिए । तुम्हारे पिता अब मेरे ससुर हैं । मैं उनका भी सन्मान करूँगा और गौरव बढ़ाऊँगा ।

राजा ने मझूक चोर को प्रधान मन्त्री बना दिया । जब यह बात नगर में फैली तो सभी लोग राजा को धिक्कारने लगे । राजा इसके लिए तैयार था । वह जानता था कि पहलेपहल लोग मेरे इस कार्य से अप्रसन्न होंगे । मगर जब इसका नतीजा सुनेंगे तो प्रसन्न हुए बिना नहीं रहेंगे ।

राजा चोर-प्रधान को धमकाकर या समझा-बुझाकर चोरी के रत्न निकलवाता रहता था । उसके पास अभी कितने रत्न हैं, यह बात राजा चोरकन्या अर्थात् अपनी पत्नी से मालूम कर लेता और फिर उन्हें किसी उपाय से निकलवा लेता । इस प्रकार कभी धमकी देकर और कभी फुसलाकर राजा ने चोर-प्रधान के पास से सभी रत्न निकलवा लिए । जब उसके पास कुछ भी शेष न रहा तब राजा ने नगर-जनो को बुलाया और कहा — यह प्रधान नहीं, चोर है । चोर से सब रत्न निकलवाने के उद्देश्य से ही मैंने इसे प्रधान बनाया था । अब इसके पास कुछ बाकी नहीं रहा । अतएव चोरी करने के अपराध में इसे फासी की सजा दी जाती है ।

चोरी गये सब रत्न राजा ने वापस कर दिये । प्रजा-जन राजा की बुद्धिमत्ता और चतुराई की प्रशंसा करने लगे । राजा-प्रजा में प्रेम की वृद्धि हुई । राज्य का अच्छी तरह संचालन होने लगा ।

यह एक दृष्टान्त है । साधुजीवन पर यह दृष्टान्त दिया गया है । इस दृष्टान्त से क्या सार ग्रहण करना चाहिए,



यह विचारणीय है ।

साधु के लिए कहा गया है कि यह शरीर मंडूक चोर के समान है । बुद्धि शरीररूपी चोर की कन्या है । शरीर यद्यपि चोर के समान है, फिर भी अनेक रत्न इसके कब्जे में हैं । इस शरीर के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । हे मुनियो ! तुम्हारे शरीर में रहा हुआ आत्मा राजा है । शरीर चोर है और बुद्धि चोरकन्या है । मनुष्य में जैसी बुद्धि है, वैसी और प्राणियों में नहीं है । आत्मारूपी राजा शरीररूपी चोर के घर में आया है । आत्मारूपी राजा खान-पान के प्रलोभन में न पडकर बुद्धिरूपी चोरकन्या को पहले खिलाकर ही आप खाता है । अर्थात् शास्त्र में खान-पान सम्बन्धी जो विधि बतलाई गई है, बुद्धि द्वारा उसका निर्णय करने के बाद ही खाता है । इस प्रकार बुद्धि द्वारा निर्णय करके जो खाता है, वही आत्मारूपी राजा है । बुद्धिरूपी चोरकन्या आत्मा-राजा को पैर पकडकर कुएं में डाल देना चाहती है, पर आत्माराजा के लक्षणयुक्त चरण देखते ही वह उसे महान् समझकर बचा देती है । चरण का अर्थ पैर भी है और आचरण भी है । जब बुद्धि के हाथ चरण आता है और वह उसके अच्छे लक्षण देखती है, तब कहती है—ऐसे पुण्यात्मा को कूप में डूँपकना ठीक नहीं । इस प्रकार बुद्धिरूपी चोर-कन्या आत्माराजा को मुक्त होने का मार्ग बतलाती है और आत्माराजा उस मार्ग पर चलकर मुक्त हो जाता है । जब आत्मा-राजा ससार के पदार्थों का ममत्व तजकर भाग जाता है तो काम, क्रोध, मान, लोभरूपी चोर वासनावृत्ति की तलवार हाथ में ले आत्मा के पीछे दौड़ता है । वासनावृत्ति रूपी तलवार बहुत तीखी है । यह तलवार

जिस पर पड़ती है, उसका जीवन नष्ट हो जाता है ।

आत्मा राजा सावधान होने के कारण वासनावृत्ति रूपी तलवार के प्रहार से कुशलतापूर्वक बच गया और राज-महल में आकर चोर को पकड़ने का उपाय सोचने लगा । गहरा विचार करने के बाद राजा, चोर को भरबाजार में से पकड़ लाता है । चोर के पास से रत्न निकलवाने के लिए वह युक्ति से काम लेता है । वह सब से पहले बुद्धि-रूपी चोरकन्या के साथ लग्न-सम्बन्ध जोड़ता है और चोर को प्रधान बनाता है । तत्पश्चात् विविध उपायो द्वारा चोर के कब्जे में जो रत्न थे, उन्हें अपने अधिकार में करता है । राजा शरीर-चोर से रत्न निकलवाने के लिए ही उसे प्रधान बनाता है । चोर को प्रधान बनाने से प्रजा, राजा की निन्दा करने लगी थी उसी प्रकार कुछ लोग यह कहकर साधुओं की निन्दा करते हैं कि साधु हो जाने पर भी इन्हें खाने और कपड़ा पहनने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु साधु-आत्मा लोगों की निन्दा की परवाह न करके शरीर-चोर के कब्जे में से ज्ञान, दर्शन, चरित्र रूप रत्न लेने के लिए शरीर-चोर को आदर देते हैं । जब आत्मा को बुद्धि द्वारा मालूम होता है कि अब शरीर-चोर के पास एक भी रत्न शेष नहीं रहा तब साधु आत्मा शरीर-रूपी चोर को सथार-रूपी शूली पर चढ़ा देता है और आप स्वावलम्बी बन जाता है । स्वावलम्बी आत्मारूपी राजा ही प्रजा को स्वावलम्बी बना सकता है । जब तक नायक स्वयम्वावलम्बी नहीं बन जाता तब तक वह जनसमाज को कैसे स्वावलम्बी बना सकता है ?

इस कथा का सार यह है कि महावीर भगवन् ने भक्त (भोजन) के त्याग के विषय में जो कुछ कहा है, वह निर्दयता से नहीं वरन् आत्मा के कल्याण के लिए कहा है। पर सथारा करने और कराने में विवेक की खास आवश्यकता है। अगर सथारा करने-कराने में विवेक से काम न लिया जाये तो जैनधर्म का उद्योत नहीं होता। जब संसार के पदार्थों पर ममता नहीं रहती और सासारिक पदार्थों की जरा भी सहायता नहीं ली जाती, तभी भोजन का त्याग करके सथारा लिया जा सकता है। आत्मा की पूर्व तैयारी के बिना सथारा लिया जाये तो मृत्यु पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती। यही नहीं, वरन् आत्मा का घात होता है। सथारा तो मृत्यु को जीतने का एक श्रेष्ठ साधन है। मृत्यु को आह्वान करना साधारण आत्मा का काम नहीं। जो आत्मा ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य का बल पाकर बलिष्ठ और निर्भय बन चुका है, वही बलवान् आत्मा भोजन का त्याग करके मृत्यु का आह्वान कर सकता है। वही मृत्यु को जीत सकता है। शरीर का प्रत्याख्यान करने के साथ ही भोजन का प्रत्याख्यान किया जा सकता है।

भगवान् ने आत्मकल्याण करने के लिए जो कुछ कहा है, उसे निःशक होकर सत्य समझो और उसी ध्रुवसत्य के अनुसरण का प्रयत्न करो। आत्मकल्याण के लिए सर्वप्रथम स्थूल पाप का त्याग करो। स्थूल पाप का थोड़ा-सा त्याग करने पर सूक्ष्म पाप का भी त्याग कर सकोगे। स्थूल पाप त्यागे बिना सूक्ष्म पाप का त्याग नहीं हो सकता। यह बात स्पष्ट होने पर भी कितने ही लोग स्थूल पाप का त्याग



# एकतालीसवां बोल

## सद्भाव-प्रत्याख्यान



आहार-त्याग से होने वाले लाभ के विषय में प्रश्न करने के बाद अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से सद्भाव अर्थात् समस्त योगों का निरोध रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में प्रश्न करते हैं ।

### मूलपाठ

प्रश्न—सवभावपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सवभावपच्चक्खाणेणं अनियट्ठि जणयइ, अनियट्ठिपडिवस्से य अणंगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ, तजहावेयणिज्ज, आउय, नामं, गोयं; तस्रो पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्व दुक्खाणमन्त करइ ॥४१॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सद्भाव का अर्थात् समस्त योगों को रोकने रूप क्रिया मात्र का त्याग करने से जीवात्मा को क्या

लाभ होता है ?

उत्तर—वृत्ति मात्र का त्याग करने से जीवात्मा अनिवृत्तिकरण पाता है और अनिवृत्तिकरण को प्राप्त अनगार केवली होकर बाकी वचे हुए चार ( वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ) कर्मांशों को खपाता है और फिर सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर शान्त हो जाता है और सब दुखों का अन्त करता है ।

### व्याख्यान

इस प्रश्न पर ऊहापोह करते हुए टीकाकार कहते हैं यह प्रत्याख्यान सभी प्रत्याख्यानों में प्रधान है । यह प्रत्याख्यान अन्तिम अवस्था का है चरम सीमा का है । और प्रत्याख्यान तो एक बार करने के बाद फिर भी करने पड़ते हैं, परन्तु यह ऐसा प्रत्याख्यान है कि एक बार करने के बाद फिर कभी इसे करने की आवश्यकता ही नहीं होती । इसी कारण यह प्रत्याख्यान सब प्रत्याख्यानों में प्रधान स्थान रखता है ।

इस प्रत्याख्यान का नाम सद्भाव-प्रत्याख्यान है । सद्भाव का प्रचलित सामान्य अर्थ 'अच्छा भाव' होता है । परन्तु यहाँ यह प्रचलित अर्थ नहीं लिया गया है । यहाँ सद्भाव का अर्थ 'परमार्थभूत' किया गया है । जिस प्रत्याख्यान को एक बार स्वीकार कर लेने पर फिर दूसरी बार कभी कोई प्रत्याख्यान नहीं लेना पड़ता, उस परमार्थभूत प्रत्याख्यान को सद्भावप्रत्याख्यान कहा है । गौतम स्वामी ने इस सद्भावप्रत्याख्यान के विषय में ही प्रश्न किया है । सद्भाव—

प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में महावीर भगवान् ने कहा है—सद्भावप्रत्याख्यान करने से जीवात्मा अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है। जो अनिवृत्तिभाव प्राप्त करता है अर्थात् शुक्लध्यान की चौथी श्रेणी पाता है, वह शेष कर्मांशों अर्थात् वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म तथा गोत्रकर्म का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का अन्त करता है। वह अन्तकृत बन जाता है।

यह मूल प्रश्न का उत्तर है। अब इस उत्तर के विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता है। यह प्रश्न चौदहवें गुणस्थान से सम्बन्ध रखता है, अतएव बहुत गम्भीर है। परमार्थभूत-सद्भाव-प्रत्याख्यान करने के बाद और कोई प्रत्याख्यान करना शेष नहीं रहता। यह अन्तिम दशा का प्रश्न है। उदाहरणार्थ—कोई पुरुष पहाड़ पर चढ़ने लगा। चढ़ते चढ़ते वह अन्तिम शिखर तक पहुँच गया। इस अन्तिम शिखर तक पहुँच जाने वाले मनुष्य के विषय में यही कहा जा सकता है कि उसे जहाँ तक चढ़ना था, चढ़ चुका है। इस प्रकार शिखर पर चढ़ने वाला जब छोटी-छोटी टेकरियों को लाघ चुका तभी वह वहाँ पहुँच सका है। अब वह अन्तिम शिखर तक पहुँच गया है। अब उसे कुछ लाघना बाकी नहीं रहा। इसी प्रकार सद्भावप्रत्याख्यान भी चरम सीमा का प्रत्याख्यान है। मान लो, कोई मनुष्य अनाज का ढेर तोलता है। तोलते-तोलते जब कुछ बाकी नहीं रहता, सब तुल जाता है तब तोल की अन्तिम धारण को चरम धारण कहते हैं। इसी प्रकार जब एक के बाद दूसरा प्रत्याख्यान करते-करते त्याग चरम सीमा पर आता है तब सद्-

## ८२-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

भाव का प्रत्याख्यान किया जाता है । यह सद्भावप्रत्याख्यान करने के बाद किसी भी प्रकार का त्याग करना शेष नहीं रहता । बस यही त्याग अन्तिम त्याग होता है ।

भगवान् ने चौदह गुणस्थान बतलाये हैं । गुणस्थान अर्थात् आत्मिक गुणों का विकासक्रम । इन चौदह गुणस्थानों में से पहला गुणस्थान ( मिथ्यात्व ) तो सभी को भोगना पड़ता है अथवा सभी ने भोगा है और बहुत-से भोग रहे हैं, क्योंकि यह प्राथमिक भूमिका है । जीवात्मा जब इस प्राथमिक भूमिका का अतिक्रमण करता है तभी वह ऊर्ध्व-गामी बनता है ।

दूसरे गुणस्थान में जाने के विषय में शास्त्र में कहा गया है कि जीव पहले गुणस्थान से सीधा दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता । पहला गुणस्थान छूटते ही जीव प्रायः चौथे गुणस्थान में पहुँचता है । वहाँ सम्यग्दृष्टि हो जाता है । फिर सम्यक्त्व से गिरते समय दूसरे गुणस्थान में आता है । जैसे वमन होने के बाद मुँह में थोड़ी देर तक उस वस्तु का स्वाद रहता है, अथवा वृक्ष से गिरते समय फल थोड़ी देर तक बीच में रहता है, इसी प्रकार की सास्वादन अवस्था है । (सम्यक्त्व से भ्रष्ट होने के बाद और मिथ्यात्व-दशा में पहुँचने से पहले की अवस्था को दूसरा सास्वादन गुणस्थान कहते हैं ।)

तीसरा मिश्र गुणस्थान है । इस गुणस्थान में आने वाला जीव भेदभाव नहीं मानता । वह सबको समान समझता है । यद्यपि यह गुणस्थान दूसरे गुणस्थान से नम्बर में ऊँचा है, परन्तु इस गुणस्थान में मिश्र-सदिग्ध अवस्था



रहती है। शास्त्रकार मिश्र अवस्था को भी अज्ञानावस्था ही कहते हैं, क्योंकि तीसरे गुणस्थान वाला जीव सत्य-असत्य का विवेक नहीं कर सकता। जो पीला सो, सोना और जो सफेद सो दूध, ऐसा मानने से कभी धोखा खाने का अवसर आ जाता है। यह सच है कि सोना पीला होता है और दूध सफेद होता है, मगर सोना पीला होने के कारण सभी पीली वस्तुएं सोना नहीं कहला सकती। इसी प्रकार दूध सफेद होता है, एतावता सभी सफेद वस्तुएं दूध नहीं कही जा सकती। तीसरे गुणस्थान में जीव सब देवों, सब गुरुओं और सब घर्मों को समान समझता है, यही उसका अज्ञान है। सत्य और असत्य की परख न कर सकने का कारण उसका अज्ञान ही है। इसी अज्ञान के कारण तीसरे गुणस्थान की अवस्था अज्ञानावस्था कहलाती है।

जब आत्मा अपने गुण का थोड़ा-बहुत विकास करता है, तब वह चौथे गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में आने पर उसे हेय और उपादेय का विवेक हो जाता है। जब आत्मा को यह विवेक हो जाता है कि कौनसी वस्तु हेय अर्थात् त्यागने योग्य है, कौनसी वस्तु उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य है और कौन वस्तु उपेक्षा करने योग्य है, तभी शास्त्रकार उसे ज्ञानी कहते हैं। इस अवस्था में सम्यक्त्व जीव के ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षय नहीं हो जाता परन्तु दर्शनमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने से वह वस्तुस्वरूप को यथातथ्य जानने लगता है। फिर भी चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने से वह अपने ज्ञान को सक्रिय रूप नहीं दे सकता। सम्यग्दृष्टि जीव को देव, गुरु

श्रीर धर्म में कौन सत्य है, श्रीर कौन असत्य है ऐसी विवेकबुद्धि तो उत्पन्न हो जानी है परन्तु चारित्र्यमोहनीय के उदय के कारण वह अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं कर सकता ।

प्रश्न किया जा सकता है कि सभी बातों का निर्णय अगर बुद्धि द्वारा ही होता है तो फिर श्रद्धा की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि बुद्धि को सम रखना अर्थात् विवेकबुद्धि को प्रकट करना ही श्रद्धा है । श्री आचाराग सूत्र में भी कहा है—

‘समयं ति मन्त्रमाना एगया समया वा असमया वा समया होति ति उचिहाए । असमयं ति मन्त्रमाना एगया ममया वा असमया वा होति ति उचिहाए ।’

भावार्थ किसी मनुष्य में भले ही अविकृत बुद्धि न हो, फिर भी उसकी थोड़ी-थोड़ी बुद्धि भी अगर निष्पक्ष अर्थानुसम हो तो उस मनुष्य के लिए सभी वस्तुएँ सम बन जाती हैं । फिर भले ही कोई वस्तु विषम हो तो भी समबुद्धि वाले को सम वस्तु द्वारा मिथने वाला नाम मिल ही जाता है । उदाहरणार्थ - कोई साधु महाराज किसी के घर गोचरी के लिए गए । उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार आहार-पानी के विषय में निर्णय कर लिया । साधु महाराज समबुद्धिपूर्वक निर्दोष आहार-पानी लेते हैं । परन्तु कदाचित् आहार पानी दूषित होने पर भी साधु की समबुद्धि में वह निर्दोष मालूम हुआ हो और निर्दोष समझ कर ही उसे ग्रहण किया हो तो भी समबुद्धि के कारण साधु को दूषित आहार लेने का दोष नहीं लग सकता । यह ज्ञानी पुरुषों का कथन है । इसका कारण

यह है कि उप साधु में समभाव है और अपनी समबुद्धि से वह आहार को निर्दोष समझता है । अतएव उसे निर्दोष आहार का ही फल प्राप्त होता है । छद्मस्थ साधु अपनी बुद्धि के अनुसार ही किसी बात का निर्णय कर सकता है । वह आहार अगर सदोष है तो सर्वज्ञ की दृष्टि में है, साधु की दृष्टि में तो वह निर्दोष ही है । अतएव साधु को कोई दोष नहीं लग सकता ।

इसके विपरीत, कोई साधु गोचरी के लिए गया । उसने सोचा—'यदि आहारपानी के विषय में पूछताछ करूंगा और वह आहार-पानी दूषित ठहरेगा तो मैं उसे ले नहीं सकूंगा । परिणाम यह होगा कि मैं आहारपानी से वंचित रह जाऊंगा । अतएव पूछताछ न करना ही उचित है ।' इस प्रकार विषम बुद्धि वाले साधु के लिए निर्दोष आहार भी दूषित होता है ।

कहने का आशय यह है कि अगर अपना हृदय शुद्ध और बुद्धि सम हो तो विषम वस्तुओं का लाभ भी सम वस्तुओं जैसा और सम वस्तुओं जितना ही मिलता है । इ से विपरीत, हृदय अशुद्ध और बुद्धि विपरीत होगी तो सम वस्तुओं का परिणाम विषम वस्तुओं जैसा ही विपरीत होगा ।

उपर्युक्त कथन का आशय यह है कि अपनी बुद्धि सम रखनी चाहिए । प्रत्येक बात का समबुद्धिपूर्वक अर्थात् विवेक के साथ विचार करने से ही आत्मा को यथेष्ट लाभ मिलता है । ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि प्रत्येक बात तीन कारणों से की जाती है—एक आत्मोन्नति करने के लिए, दूसरे किसी के साथ व्यवहार करने के लिए और तीसरे वस्तुस्वरूप

समझने के लिए । ज्ञानी पुण्य आगे कहते हैं अगर वस्तु-  
स्वरूप समझना हो तो वह सात नयों द्वारा समझना चाहिए ।  
सात नयों द्वारा और सप्तभगी द्वारा ही वस्तु का ठीक-ठीक  
स्वरूप समझा जा सकता है । सात नयों द्वारा वस्तुस्वरूप  
किस प्रकार समझा जाता है, यह जानने के लिए विचार  
करो कि इस समय निगोद के जीव किस स्थिति में है ?  
जीव निगोद अवस्था में भले हो, मगर किसी अपेक्षा में  
सिद्ध कहा जा सकता है और चौदहवें गुणस्थान में स्थित  
आत्मा को अपेक्षाभेद में सगायी भी कहा जा सकता है ।  
इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का स्वरूप सात नयों द्वारा समझना  
चाहिए । आत्मकल्याण करने के लिए शब्दादिक नयों का  
अवलम्बन करना चाहिए और पारंपरिक व्यवहार के लिए  
शुद्ध व्यवहार से काम लेना चाहिए । साधारणतया आरोप  
और विकल्प में ही वस्तु का स्वरूप समझा जा सकता है,  
परन्तु वस्तु का आन्तरिक और बाह्य स्वरूप भवोभाति  
जानने के लिए सात नयों का ज्ञान प्राप्त कतना आवश्यक  
है । सात नय, सप्तभगी, निक्षेप आदि द्वारा वस्तुस्वरूप  
समझने का प्रयत्न करने पर भी वस्तुस्वरूप समझ में न  
आये तो हृदय में ऐसा विश्वास रखना चाहिए कि धीतराग  
जिन भगवान् ने जा कुछ भी कहा है, वह सत्य ही है ।  
इस प्रकार जिन भगवान् के वचन में श्रद्धा रखने से भग-  
वान् की आज्ञा का आराधक बना जा सकता है ।

कहने का आशय यह है कि आत्मकल्याण करने के  
लिए इस प्रकार विचार करना चाहिए कि—'भुक्त में अनन्त  
सामर्थ्य है । मगर उस सामर्थ्य पर कर्मों का आवरण आ  
जाने से वह प्रच्छन्न हो गई है । जब कर्म-आवरण दूर हो

जाएंगे तो आत्मा के-लिए कोई भी कार्य असंभव नहीं रह जायेगा ।' भक्तजन इस प्रकार विचार करके ही-परमात्मा की प्रार्थना करते हैं कि- 'हे प्रभो । तेरे नाम में बहुत महिमा छिपी है । एक बार भी अगर तेरे नाम का शब्द-नय द्वारा उच्चारण किया जाये और तेरे नाम पर अविचल श्रद्धा हो तो मेरी सग्रहनय की शक्ति भी एवभूत बन सकती है ।

सग्रहनय की शक्ति भी एवभूत बन सकती है, परन्तु उसके लिए प्रबल पुरुषार्थ और सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है । क्रमशः प्रयत्न और पुरुषार्थ करने से आत्मा में सग्रहनय की दृष्टि से रही हुई शक्ति भी एवभूत बन जाती है । कोई मनुष्य पहाड़ पर चढ़ने के लिए छलांग मारना चाहे तो वह नीचे गिरेगा, अगर सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ेगा तो पहाड़ के अन्तिम शिखर तक पहुँच जाएगा । इसी प्रकार क्रमपूर्वक आत्मा के गुणों का विकास करने से आत्मा चौदहवें गुणस्थान पर पहुँच सकता है ।

शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से सब आत्मा एक हैं । यद्यपि आत्माओं में विकसित, अविकसित और अर्धविकसित ऐसे भेद हैं, परन्तु शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से सब आत्माएँ एक हैं । उदाहरणार्थ मिट्टी से बड़ा, सुराही आदि अनेक बर्तन बनते हैं परन्तु मिट्टी की दृष्टि से तो भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले बर्तन भी समान ही हैं । इसी प्रकार आत्मतत्त्व की दृष्टि से सब आत्माएँ एक हैं । मिट्टी के भिन्न-भिन्न पदार्थ भी सग्रह की दृष्टि से—मिट्टी रूप से—एक हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भिन्न-भिन्न होने पर भी सग्रहनय की दृष्टि से एक हैं । यही बात दृष्टि में रखकर श्री स्यानागसूत्र में

कहा है—‘एगो आया ।’ अर्थात् आत्मा एक है । वेदान्त में भी इसी बात की पुष्टि की गई हैः—

**वाचारम्भणो विकारं मृत्तैकवसताम् ।**

अर्थात् घडा, सुराही आदि जो वचन बोले जाते हैं, वे मिट्टी के विकार होने के कारण ही बोले जाते हैं । वास्तव में तो यह सब भिन्न-भिन्न बर्तन मिट्टी से ही बने हैं ।

इसी प्रकार सिद्ध और ससारी आदि भेद विकार के कारण हैं । शुद्ध सग्रहनय की दृष्टि से तो वास्तव में सब आत्मा समान ही हैं ।

इस कथन के आधार पर हमें यह सोचना चाहिए कि हमें मिट्टी के समान ही रहना उचित है अथवा अपने जीवन को विशेष उन्नत बनाना चाहिए ? जब तक मिट्टी से घट नहीं बनता तब तक वह मिट्टी में तक पर धारण नहीं की जाती । यही नहीं, घडा बनने से पहले मिट्टी पैरो तले रौदी जाती है । पर जब मिट्टी से घडा बन जाता है तब वही मस्तक पर धारण की जाती है । इसी प्रकार आत्मा जब तक सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नहीं बनता तब तक वह ससार में ही भटकता रहता है । परन्तु जैसे मिट्टी कुभार के हाथ में पहुँचकर घट का रूपधारण करती है, फिर मस्तक पर धारण करने योग्य बन जाती है, उसी प्रकार जब आत्मा, परमात्मा के शरण में जाकर एवभूत बन जाता है अर्थात् त्याग चरम सीमा पर पहुँच जाता है तथा सम्पूर्णता प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन जाता है, तभी वह ससार की भ्रमणाओं से छुटकारा पाता है और भवभ्रमण से मुक्त होकर कृतकृत्य बन जाता है । सिद्धा—

वस्था में पहुचने के लिए ही सद्भाव प्रत्याख्यान किया जाता जाता है । भगवान् ने कहा है—सद्भाव-प्रत्याख्यान करने से जीवात्मा शेष कर्माँशो का नाश करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है और समस्त दुःखों का अन्त करके चरम सीमा पर पहुचता है ।

भगवान् ने जगत् के कल्याण के लिए जो कुछ कहा है उसे हृदय में स्थापित करके जीवन को सार्थक करने का प्रयत्न करना चाहिए । भगवदवली को जीवन में उतारने से ही आत्मकल्याण हो सकता है । विचार को आचार में लाना कल्याण का मार्ग है ।

सद्भावप्रत्याख्यान का अर्थ यथाभूत प्रत्याख्यान अर्थात् सच्चा त्याग है । सच्चा और अन्तिम त्याग तभी हो सकता है, जब ससार के समस्त बंधनों का त्याग करके शैलेशी अवस्था अर्थात् चौदहवे गुणस्थान की भावावस्था प्राप्त कर ली जाये । सद्भावप्रत्याख्यान के प्रश्न को दूसरे शब्दों में इस रूप में रखा जा सकता है कि चौदहवा गुणस्थान प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ? चौदहवें गुणस्थान की स्थिति पाँच लघु अक्षर अर्थात् अ, उ, इ, उ, ऋ, लृ उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय की है । यह अवस्था साव्यवहारिक सकर्ण नहीं है अर्थात् वाणी द्वारा नहीं कही जा सकती फिर भी गौतम स्वामी ने इस अवस्था के विषय में प्रश्न पूछा है । शास्त्र में प्रारम्भिक अवस्था के विषय में जैसे प्रश्न किया गया है उसी प्रकार अन्तिम अवस्था के विषय में भी किया गया है इस प्रश्न से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि मोक्ष के लिए चौदहवे गुणस्थान का भी त्याग करना पड़ता है । श्रीदश-

वैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में भी भगवान् से प्रश्न किया गया है कि—हे प्रभो ! जीव जब योग का निरोध करता है तब उसे क्या अवस्था प्राप्त होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है:—

जया जोगे निरुंभित्ता सैलेसि पडिधज्जइ ।

तया कम्म खवित्ताणं सिद्धि गच्छइ नीरओ ॥

जया कम्म खवित्ताणं सिद्धि गच्छइ नीरओ ।

तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासओ ॥

दश ४-२४-२५

अर्थात्—जब जीवात्मा योग का निरोध करता है तब शैलेशी अवस्था प्राप्त करता है और उसके बाद कर्मों का क्षय करके लोक के अग्रभाग पर पहुँचता तथा शाश्वत सिद्धि प्राप्त करता है । कर्मों का नाश होने पर जीवात्मा सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त हो जाता है ।

यही बात सद्भावप्रत्याख्यान सम्बन्धी इस प्रश्न के विषय में समझनी चाहिए । कुछ लोग कहते हैं कि सद्भाव का अर्थ अच्छे भाव और प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग है । तो क्या इस प्रश्न में अच्छे भाव का त्याग करना कहा गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं—चौदहवें गुणस्थान की शैलेशी अवस्था व्यवहार में स्वतः और निश्चय से करने से प्राप्त होती है । प्रत्येक क्रिया कर्त्ता के करने से ही होती है । कर्त्ता द्वारा विना किये कोई क्रिया नहीं हो सकती । परन्तु कुछ क्रियाएँ ऐसी होती हैं कि वे समझ में आ जाती हैं और कुछ क्रियाएँ समझ में नहीं आती । उदाहरणार्थ—पेट में गया हुआ दूध रसभाग और खलभाग में परिणत हो जाता है । यद्यपि यह परिणति आत्मा की शक्ति द्वारा ही होती है, परन्तु यह परिणति किस



प्रकार और कब हो गई, यह बात जल्दी समझ में नहीं आती। यह तो निश्चित है कि आत्मा की शक्ति के बिना शरीर में यह परिणमन हो ही नहीं सकता। अगर किसी मुर्दा शरीर में किसी उपाय द्वारा दूध पहुँचा दिया जाये तो क्या वह रसभाग और खलभाग में परिणत हो सकेगा ? नहीं। अतएव स्पष्ट है कि आत्मा की शक्ति के बिना शरीर में किसी प्रकार की परिणमनक्रिया नहीं हो सकती, उसी प्रकार जीव जब तेरहवें गुणस्थान में जाता है, तब सद्भाव-प्रत्याख्यान की स्थितिरूप परिणति भी व्यवहार से स्वतः ही होती है, परन्तु निश्चय से तो करने से ही होती है। यह प्रश्न भी अंतिम अवस्था से सम्बन्ध रखता है। सद्भाव का प्रत्याख्यान आत्मा के कल्याण के लिए की जाने वाली अंतिम क्रिया है। यह क्रिया कर चुकने पर फिर कोई भी क्रिया करना शेष नहीं रहता। यह बात हम लोग भले ही देख या जान सकते हो, परन्तु ज्ञानी महात्मा अवश्य देखते और जानते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से यह प्रश्न कर्त्ता को भी लागू पड़ता है। कोई बात कर्त्ता के विषय में होती है तो कोई भाव के विषय में। व्याकरण में कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग में अन्तर बतलाया गया है, मगर यह अन्तर सब को समझ में नहीं आ सकता। कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग का अन्तर बतलाने के लिए एक उदाहरण भी दिया गया है। जैसे—देवदत्त भोजन पकाता है। इस उदाहरण को दो प्रकार से कह सकते हैं। कर्तृप्रयोग में कहेंगे—देवदत्त भोजन पकाता है। भावप्रयोग में कहा जायगा—देवदत्त द्वारा भोजन पकाया जाता है। इस उदाहरण में कहने का आशय तो एक ही है, किन्तु एक ही आशय दो प्रकार से कहा जा सकता है।

इसी प्रकार सद्भावप्रत्याख्यान के प्रश्न में भी कर्तृप्रयोग और भावप्रयोग—दोनों का उपयोग हो सकता है । परन्तु यहाँ कर्तृप्रयोग का उपयोग किया गया है अर्थात् यह क्रिया भी आत्मा के करने से ही होती है । आत्मा न करे तो क्रिया हो कैसे ? यही बात बताने के लिए यह पूछा गया है कि सद्भाव-प्रत्याख्यान से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? यहाँ कर्तृप्रयोग किया गया है, परन्तु यह क्रिया व्यवहार में स्वतः ही होती है ।

कोई बात तुम्हारी समझ में न आये तो मुझसे पूछ सकते हो । मैं समझाने का प्रयत्न करूँगा । फिर भी अगर समझ में न आये तो सूत्र-सिद्धान्त पर विश्वास रखकर यही मानना चाहिए कि भगवान् की प्ररूपणा सत्य ही है । हम छद्मस्थ होने के कारण अमुक सत्य बात नहीं समझ पाते, यह हमारा दोष है ।



# ब्यालीसवां बोल

## प्रतिरूपता

सद्भावप्रत्याख्यान अन्तिम दशा का प्रश्न है । उसका विवेचन किया जा चुका है । यहाँ साधकदशा के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है । सभी प्रत्याख्यानो में व्यवहार मुख्य है, अतएव अब व्यवहार के विषय में प्रश्न किया जा रहा है । श्री गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

### मूलपाठ

प्रश्न—पडिरुवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पडिरुवयाए ण लाघवियं जणयइ, लहुभूए णं जीवे अण्णमत्ते, पागडालिगे पसत्थालिगे, विसुद्धसम्मत्ते सत्त-समिइसमत्ते, सठवपाण-भूय-जीव-सत्तेसु विससणिज्जरुवे अण्णडिलेहे जिइदिए विउलतवसमिइसमभाणए यावि भवइ । ४२।

### शब्दार्थ-

प्रश्न—भगवन् !-प्रतिरूपता (आदर्श—जिनकल्पी की बाह्य और आन्तरिक उपाधि से रहित दशा) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीव प्रतिरूपता से लघुता (निश्चिन्तता) पाना है और लघुशील जीव अप्रमत्त होता है । प्रशस्त तथा प्राकृतिक लिंग (तथा रूप का गुणयुक्त द्रव्यलिंग) धारण करता है तथा निर्मल सम्यक्त्वी और समिति सहित बनता है और सब जीवों का विश्वासपात्र, जितेन्द्रिय तथा विपुल तपश्चर्या से युक्त भी बनता है ।

### व्याख्यान

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले उसके शब्दार्थ पर विचार कर लेना उचित है । 'प्रतिरूपता' शब्द प्रति + रूपता इस प्रकार दो शब्दों के मेल से बना है । 'प्रति' का साधारण अर्थ अनुकरण करना होता है । यही रूप का अनुकरण समझना चाहिए । अतएव इस प्रश्न का अर्थ यह हुआ कि स्थविरकल्पी मुनि का वेश धारण कर लेने से जीव को क्या लाभ होता है ?

कल्प का अर्थ है—मर्यादा । मर्यादा भूमिका के अनुसार होती है । अर्थात् जो जैसा अधिकारी होता है, उसी के अनुसार उसकी मर्यादा होती है । अगर मर्यादा बधी न हो तो कर्त्ता का भी नाश होता है और कार्य का भी नाश होता है । इस कारण मर्यादा भूमिका के अनुसार ही बांधी जाती है और मर्यादा का ही दूसरा नाम कल्प है । श्रीभगवत्सूत्र नामक पाँचवें ब्रह्म में साधुओं के लिए मुख्यतः पाँच कल्प बतलाये गये हैं—(१) स्थितकल्प (२) अस्थितकल्प (३) स्थविरकल्प (४) जिनकल्प और (५) कल्पातीत ।

इन पाँच कल्पों का वर्णन अन्य अनेक सूत्रों में तथा ग्रंथों में किया गया है । कल्पसूत्र तो कल्प बतलाने के लिए

ही है । अधिक समय तक सूत्र का पाठ किया जा सके, इसलिए उस सूत्र में दूसरी बातों का भी वर्णन किया गया है, फिर कल्पसूत्र मुख्य रूप से कल्प बताने के लिए ही है । कल्प बताकर साधुओं से कहा गया है कि जैसी स्थिति और जैसी शक्ति हो, वैसे ही कल्प का पालन करो । ऐसा न हो कि शक्ति न होने पर भी कल्पातीत बन जाओ ! शक्ति के अनुसार ही कल्प-मर्यादा का पालन करना चाहिए । शक्ति के अभाव में कल्पातीत नहीं बना जा सकता ।

भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधुओं के लिए स्थितकल्प बतलाया गया है । जमे एक शेषकाल पूर्ण हो जाने के बाद उसी स्थान पर साधु को रुकना चाहिए या नहीं ? इस विषय में कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के शासन के साधु एक शेषकाल पूर्ण हो चुकने पर उसी स्थान पर नहीं रुक सकते । उसी स्थान पर अधिक ठहरना उनके लिए मर्यादा-विरुद्ध है । अगर इस प्रकार की कोई मर्यादा न बांधी गई होती तो बार-बार क्लेश होता और मर्यादा पालने वाले साधुओं का स्थान मर्यादा न पालने वाले साधु ले लेते । इस अव्यवस्था को हटाने के निमित्त साधुओं के लिए यह मर्यादा बतलाई गई है कि वे एक स्थान पर एक शेषकाल से अधिक न रुके । इसी प्रकार चातुर्मास के लिए भी मर्यादा बांधी गई है । शास्त्र में उत्तम, मध्यम और जघन्य, इस प्रकार तीन तरह के चातुर्मास कहे गये हैं । चातुर्मास-कल्प के विषय में बतलाया गया है कि साधु चातुर्मास के जितने दिन एक स्थान पर रहा हो, उसके दुगुने दिन दूसरी जगह व्यतीत करने के बाद ही उस स्थान पर आ सकता है । इससे पहले उस

स्थान पर नहीं आ सकता ।

कुछ लोगो का कहना है कि कल्पमर्यादा में क्या धरा है ? पर ऐसा कहने वाली को समझना चाहिए कि महा-पुरुषो ने जो कल्पमर्यादा बताई है, वह सहेतुक होने के कारण व्यर्थ नहीं है । मर्यादा बाधना व्यर्थ है, ऐसा कहने वाले मर्यादा का पालन न कर सकने के कारण उसे व्यर्थ कहते हैं । वास्तव में मर्यादा बाधना व्यर्थ नहीं है । मर्यादा बांधने में तो महान् उद्देश्य और आशय छिपा है ।

जैसे शेषकाल और चातुर्मास की मर्यादा बाधी गई है, उसी प्रकार वस्त्र, पात्र, भोजन, स्थान आदि की भी मर्यादा बतलाई है । यह मर्यादा भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर के साधुओ के लिए ही है । शेष तीर्थंकरो के साधुओ के लिए ऐसी मर्यादा नहीं है । इस कथन पर शका हो सकती है कि ऐसा होने का क्या कारण है ? यह तो एक प्रकार का पक्षपात जान पड़ता है । इस शका का समाधान यह है कि महापुरुषो ने किसी के साथ पक्षपात नहीं किया है । उन्होंने अपने ज्ञान मे देखकर आवश्यकता के अनुसार ही परिवर्तन किया है । आवश्यकता के अनुसार ही मर्यादा बाधना उचित है, यह बात एक लौकिक उदाहरण द्वारा समझाता हूं ।

एक सेठ के दो पुत्र थे । दोनों का विवाह हो गया था । एक पुत्रवधू सोच-समझकर काम करती और अपने काम की मर्यादा भी रखती है, मगर दूसरी ऊटपटांग काम करती है और किसी प्रकार की मर्यादा भी नहीं रखती है । इस दूसरी पुत्रवधू की अव्यवस्थित कार्यप्रणाली देखकर सेठ ने उसके लिए ऐसी मर्यादा बाध दी की वह अमुक रकम

से अधिक खर्च नहीं कर सकती । पहली पुत्रवधू पहले से ही सोच-समझकर मर्यादापूर्वक काम करती थी, अतएव उसे यह झूट दी गई कि वह इच्छानुसार खर्च कर सकती है । सेठ ने इस प्रकार मर्यादा बांधकर क्या कुछ अनुचित किया ? सेठ को एक पुत्रवधू के लिए मर्यादा बाधना आवश्यक प्रतीत हुआ तो उसने मर्यादा बांध दी और दूसरी के लिए मर्यादा बाधना आवश्यक प्रतीत नहीं हुआ तो मर्यादा नहीं बांधी । सेठ के हृदय में किसी के प्रति पक्षपात नहीं है फिर भी अगर उसे कोई पक्षपाती कहता है तो कहने वाले की भूल है ।

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने और भगवान् पार्श्वनाथ ने एक ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है, परन्तु दोनों ने अपने-अपने साधुओं के लिए आवश्यकतानुसार कल्पमर्यादा बांधी थी । भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओं को अस्थितकल्पी कहा गया है और भगवान् महावीर के साधु स्थितकल्पी कहलाते हैं । भगवान् पार्श्वनाथ ने और भगवान् महावीर ने काल आदि का विचार करके ही कल्पमर्यादा बांधी थी । मर्यादा बाधने में पक्षपात करने का कोई कारण न था ।

भगवान् ने जो मर्यादा बांधी है, उसका शक्ति के अनुसार अवश्य पालन करना चाहिए । अपने में शक्ति हो और वन में बिना वस्त्र धारण किये रहा जा सकता हो तो ऐसी अवस्था में जिनकल्पी रहना उचित है । अगर शक्ति न हो तो स्थविरकल्प का पालन करना चाहिए । स्थविरकल्प का सामान्य अर्थ यह है कि साधु स्वयं सयम में स्थिर रहे और दूसरों को भी सयम में स्थिर रखे । स्थविरकल्पी का आचार-विचार और आहार-विहार ही ऐसा होना चाहिए कि जिसमें वह स्वयं सयम में स्थिर रह सके और दूसरों

को भी समय में स्थिर रख सके ।

स्थविरकल्पी और जिनकल्पी में क्या अन्तर है ? यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयत्न करता हूँ । कल्पना कीजिए, एक गाय बछड़ा वाली है और दूसरी बिना बछड़े की है । कदाचित् बाघ दोनों पर हमला करे तो बिना बछड़े की गाय तो पूछ ऊँची उठाकर भाग जाती है, मगर बछड़ा वाली गाय को तो अपनी और अपने बछड़े की रक्षा करनी पड़ती है । वह गाय बाघ से अपने बछड़े की रक्षा करती है और जब बाघ दूर चला जाता है तो बछड़े को मुँह के आगे करके चलती है । बछड़े को साथ ले चलने के कारण गाय की गति धीमी हो जाना स्वाभाविक है । ऐसा होने पर भी यह ससार केवल बछड़ा वाली या केवल बिना बछड़े की गायों से ही नहीं चल सकता । ससार में दोनों प्रकार की गायों की आवश्यकता है । इसी प्रकार साधु तो जिनकल्पी भी हैं और स्थविरकल्पी भी है, मगर दोनों प्रकार के इन साधुओं में एक जिनकल्पी सिर्फ अपनी ही आत्मा का कल्याण करते हैं और दूसरे स्थविरकल्पी अपने साथ दूसरों का भी कल्याण करते हैं । जिनमें शक्ति होती है वे वन में जाकर नग्न रह सकते हैं और अछिद्रपाणी हो तो कर-पात्र में किसी एक गृहस्थ के घर से आहार लेकर आहार कर सकते हैं । इस प्रकार से आत्मकल्याण करने वालों के लिये मोक्ष भी समीप ही है । परन्तु जिनमें इतनी शक्ति नहीं होती वे स्थविरकल्पी होकर आत्मकल्याण के साथ संसार का भी सुधार करते हुए विचरते हैं । अतएव जिनकल्पी की अपेक्षा स्थविरकल्पी को मोक्ष प्राप्त करने में विलम्ब होना स्वाभाविक है । जिनकल्पी और स्थविरकल्पी



दोनो का ध्येय तो एक ही मोक्षप्राप्ति होता है परन्तु दोनो की मोक्ष जाने की गति मे अन्तर होता है । जिनकल्पी को अपेक्षा स्थविरकल्पी की मोक्ष जाने की गति धीमी होती है ।

शास्त्र मे स्थविरकल्पी की दस मर्यादाएँ बतलाई गई हैं । इन सब मर्यादाओ के वर्णन करने का यहा अवकाश नही है, अतएव संक्षेप मे यही कहता हू कि स्थविरकल्पो साधु दस प्रकार की मर्यादाओ का समुचितरूप से पालन करता हुआ स्व-पर का कल्याण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है ।

साधु तो जिनकल्पी भी होता है और स्थविरकल्पी भी होता है, ऐसी अवस्था मे अगर कोई जिनकल्पी को ही साधु माने और स्थविरकल्पी को साधु न माने तो वह विराधक है । इसी प्रकार अगर स्थविरकल्पी को ही साधु माने और जिनकल्पी को साधु न माने तो भी विराधक है । दोनो प्रकार के साधुओ को साधु मानने की उदारता रखनी चाहिए, तुच्छता नही रखना चाहिए । भगवान् ने जिनकल्पी और स्थविरकल्पी - दोनो को साधु कहा है । भगवान् ने कहा है कि स्थविरकल्पी साधु के बिना सध की सेवा नही हो सकती । स्थविरकल्पी साधु पर सध की सेवा का भार है । अतएव स्थविरकल्पी साधु को ऐसा व्यवहार रखना चाहिए जिससे सध की सेवा भलीभाति हो सके । यद्यपि सध का भार स्थविरकल्पी साधु पर है परन्तु उस भार को वहन करने के लिए श्रावको का सहकार होना भी आवश्यक है । अगर कोई साधु उन्मार्ग पर जाता हो तो उसे सन्मार्ग बतलाना श्रावक का कर्तव्य है । अगर साधु बिगड़ेगा तो ससार बिगड़ जाएगा और यदि साधु सुधरेगा तो ससार सुधरेगा । ससार

का कल्याण करने का काम साधुओं के हाथ में है । परन्तु साधुओं का सुधार करने के लिए श्रावकों को भी अपना सुधार करना पड़ेगा । जब तक श्रावक स्वयं नहीं सुधरेगे तब तक साधुओं पर उनकी छाप नहीं पड़ेगी । जनसमाज का कल्याण करना सरल काम नहीं है । इसके लिए साधुओं को सुधरना पड़ेगा और साधुओं का सुधार करने के लिए सर्वप्रथम श्रावकों को सुधरना होगा । संक्षेप में, जीवनमुधार करने में ही सब का कल्याण है । अतएव प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सुधार करके अपना और पराया कल्याण करे, यही मेरी मंगलकामना है ।

भगवान् ने कहा है प्रतिरूपता से अर्थात् स्थविर—कल्पी का आदर्श वेप धारण करने से जाव में हल्कापन—लघुता आ जाती है । आत्मा उपाधि से अपने-आपको शक्तिशाली मानता है, परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि उपाधि से आत्मा शक्तिशाली नहीं होता वरन् भारी बनता है । जीवात्मा जब प्रतिरूपता धारण करता है तब उसमें लघुता आ जाती है और उसका भारोपन मिट जाता है । इसी कारण चक्रवर्त्ती राजाओं ने छह खण्ड का राज्य छोड़कर और वन्या-शालिभद्र जैसे ऋद्धिशालियों ने अपनी ऋद्धि का त्याग करके इस साधुवेष को अपनाया था । साधुवेष धारण करने से आत्मा में लघुता आने के कारण ही समृद्ध लोग अपनी ऋद्धि-सिद्धि का त्याग किया करते थे ।

साधुवेष में ऐसा क्या चमत्कार है ? यह बात अगर तुम लोग भलीभाँति न समझ सको तो कम से कम इतना तो अवश्य मानो कि 'महाजनो येन गत सा पन्था ।' अर्थात् महान् पुरुष जिस मार्ग पर चले हैं, उसी सन्मार्ग पर हमें

भी चलना चाहिए । साधुवेष धारण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय में इस तरह विचार करो कि कोई मनुष्य अन्तरंग में चाहे जैसा साधु हो, लेकिन अगर उसने साधु का वेष धारण नहीं किया है तो तुम उसे साधु नहीं मानोगे और न वन्दना ही करोगे । यह ठीक है कि केवल साधुवेष धारण करने से ही कोई साधु नहीं हो जाता, परन्तु निश्चय का काम निश्चय में होता है और व्यवहार का काम व्यवहार में होता है । व्यवहार में लिग का होना आवश्यक माना गया है । इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से यह प्रश्न पूछा है कि स्थविरकल्पी साधु का लिग धारण करने से आत्मा को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने साधुवेष धारण करने का एक लाभ तो यह बतलाया गया है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा में लघुता आती है ।

साधुवेष में कैसी शक्ति है, इस विषय में मुझे निजी अनुभव हुआ है । जब मैंने साधुदीक्षा ली तब शीतकाल था और जोरी की सर्दी पड़ती थी । दीक्षा लेने से पहले के दिन रात्रि के समय ऐसी सर्दी लगी थी कि खूब कपड़े ओढ़ने पर भी वह कम नहीं हुई । उस समय मेरे मौमेरे भाई ने मुझसे कहा कल दीक्षा लेनी है और आज कड़ाके की सर्दी लग रही है ! तो फिर दीक्षा लेने के बाद सर्दी कैसे सहन कर सकोगे ? मैंने उत्तर दिया—‘कल की बात कल देखी जाएगी । आज तो मुझे बहुत सर्दी लग रही है, मानो मेरी परीक्षा लेने आई है ।’

दूसरे दिन मैंने दीक्षा ली । उस रात को नदी के किनारे बने हुए एक मन्दिर में हमने निवास किया । मन्दिर का

द्वार नदी के सन्मुख था और नदी को तरफ से सांय-सांय करता हुआ पवन आ रहा था । मेरे शरीर पर सिर्फ गाती पछेवडी थी और ओढ़ने के लिए एक चादर था । ओढ़ने के इतने साधन होने पर भी मुझे ठंड नहीं लगी और रात्रि में ऐसी गाढी निद्रा आई कि पता ही नहीं चला कि रात्रि कब व्यतीत हो गई है । हालांकि इस रात्रि में भी पहली रात्रि जितनी ही सर्दी थी । थोड़े-से वस्त्रों का उपयोग करने पर भी मुझे सर्दी न लगने के कारण पर विचार करने पर मुझे यह विचार आया कि कल मैं साधुवेष में नहीं था, इसी कारण बहुत-से कपड़ ओढ़ने पर भी सर्दी कम नहीं मालूम हुई और आज मैं साधुवेष में हूँ, अतः इतने कम वस्त्र ओढ़ने पर भी सर्दी नहीं लगी । यह साधुवेष की ही महिमा है । जब मैंने दीक्षा ली थी तब मेरी उम्र अधिक नहीं थी, फिर भी मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मेरे सिर पर का बोझा हल्का हो गया है । जब छोटी उम्र में भी साधुवेष धारण करने से लघुता का अनुभव हुआ तो फिर छह खंड की ऋद्धि का परित्याग करके दीक्षा लेने वालों को कैसी लघुता का अनुभव होता होगा ! इस प्रकार साधुवेष धारण न करने से जीव पर ससार का बोझा लदा रहता है परन्तु साधुवेष धारण कर लेने पर वह हल्का-लघु बन जाता है ।

साधुवेष धारण करने से मनुष्य हल्का हो जाता है, इस बात का प्रमाण बतलाते हुये भगवान् कहते हैं—जब आत्मा हल्का होता है तब वह प्रमादरहित बन जाता है । यद्यपि प्रमत्त अवस्था षष्ठ गुणस्थान तक बनी रहती है परन्तु यहाँ जो प्रमादरहित होने का कथन किया गया है, उसका अर्थ यह है कि आत्मा साधुलिंग धारण करते ही मद, विषय,

कषाय आदि प्रमादों से पृथक् हो जाता है । साधुलिंग धारण करने से जीवात्मा प्रमाद का सेवन करते हिचकता है और कदाचित् प्रमाद का सेवन करता भी है तो साधुवेष का ध्यान आते ही वह उसका त्याग कर देता है । उदाहरणार्थ— प्रसन्नचन्द्र ऋषि ने सातवे नरक में जाने योग्य सकल्प किया था, परन्तु जब उन्होंने अपने मस्तक पर हाथ फेरा तब 'मैं साधु हूँ' ऐसा खयाल आते ही वह अपनी मूल स्थिति पर आ गए । वह राजर्षि भी आखिर सुविहित वेष के ही प्रभाव से मूल स्थिति पर आ सके । साधुवेष ने ही उन्हें नरक में जाने से बचाया । इस प्रकार साधुवेष धारण करने से आत्मा लघुता प्राप्त करता है । यद्यपि भगवान् ने यह तो स्पष्ट कहा है कि अगर कोई व्यक्ति साधु का वेष धारण करके भी अपने परिणामो को पवित्र नहीं रखता तो उसकी मति के अनुसार ही गति होती है, परन्तु साधुवेष बहुत बार आत्मा को स्थिर करने में सहायक बनता है और इसी कारण यह कहा गया है कि साधुवेष धारण करने से आत्मा को लघुता प्राप्त होती है और लघुताशील जीव अप्रमादी बनता है । यद्यपि साधुवेष धारण करते ही प्रमाद सर्वथा नहीं छूट जाता परन्तु वेष प्रमाद से मुक्त होने के मार्ग पर ले जाता है और किसी अवसर पर तो आत्मा को पतित होने से भी बचा लेता है । साधुवेष प्रमादरूपी शस्त्र-अस्त्र के आघातो से बचने के लिए बख्तर का काम देता है ।

कुछ लोग आध्यात्मिकता के नाम पर साधुवेष आदि की उपेक्षा करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है । भगवान् ने अपने कल्याण के लिए ही साधुवेष धारण का उपदेश दिया है । साधुवेष धारण करने से होने वाले लाभ तो अनुभव-

लिंग से प्रथम तो सुविहित साधु माना जाता है, दूसरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भी रखा होती है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका जीवों की रक्षा के लिये ही रखी जाती है। इस प्रकार साधुलिंग प्रशस्त है। साधुओं के पास जो भी वस्तु हो वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र को रक्षा के लिए ही होनी चाहिए। जो चीज ज्ञान, दर्शन और चारित्र की घातक हो, ऐसी एक भी वस्तु साधु अपने पास नहीं रख सकता और न उसे रखनी ही चाहिए।

सुना है, वाकानेर के महाराजा साहब एक बार अपने समाज के नागजी स्वामी के पास आये। उन्होंने पूछा— 'महाराजश्री ! आपके पास क्या-क्या उपकरण हैं ?

नागजी स्वामी ने अपने सब उपकरण बतला दिये। स्वामीजी के उपकरण देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए, और कहने लगे— 'साधु के पास जितनी चीजें होनी चाहिए, उतनी ही आपके पास हैं।'

कहने का आशय यह है कि साधुलिंग प्रशस्त है। अतएव साधु के पास गुण उत्पन्न करने वाली चीजें ही रह सकती हैं, अवगुण उत्पन्न करने वाली नहीं। साधु के पास ऐसी ही वस्तु रह सकती हैं कि कोई भी और कभी भी उन्हें देखना चाहे तो साधु को दिखलाने में सकोच न हो। उदाहरणार्थ—अगर किसी साधु के पास दर्पण या कथा हो तो उसे दिखलाने में साधु को सकोच होगा और ऐसी चीज देखकर लोग साधु का उपहास करेंगे। दर्पण या कथा रखना साधु के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अगर साधु के पास शास्त्र हो तो शास्त्र बतलाने में साधु को सकोच नहीं होगा। शास्त्र तो साधुता का चिन्ह और भूषण है। पूज्य

श्री श्रीलालजी महाराज कहते थे कि शास्त्र तो जैन साधु का सिंगार है ।

प्रशस्त लिंग धारण करने से आत्मा में विशुद्धता आती है और वह विशुद्धता बढ़ती जाती है । प्रशस्त साधुलिंग से सम्यक्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है और इन गुणों में आत्मा स्थिर होता है । सुविहित वेष वही साधु धारण कर सकता है, जिसमें सम्यक्त्व आदि गुण होते हैं । साधुवेष से इन गुणों की रक्षा और वृद्धि होती है ।

स्थविरकल्पी का वेष धारण करने से दूसरा लाभ क्या होता है, यह बतलाते हुए भगवान् ने कहा कि आपत्तिकाल में साधुवेष अध्यवसाय को निश्चल रखता है । आपत्तिकाल में साधुवेष से अध्यवसाय में किस प्रकार निश्चलता रहती है, इस विषय पर विचार करते हुए मेरा स्वानुभव यहां स्मरण में आ जाता है:—

घोडनदी में एक श्राविका सामायिक में बैठी थी । सामायिक के समय उसे बिच्छू ने डक मार दिया । बिच्छू के डक मारने पर भी वह श्राविका तब तक चुपचाप बैठी रही जब तक सामायिक पूर्ण न हो गई । सामायिक पूर्ण होते ही वह चीख मार कर रोने लगी । लोगो ने रोने का कारण पूछा तो श्राविका ने कहा मुझे बिच्छू ने काट लिया है, और उसकी असह्य पीड़ा के कारण रोये बिना नहीं रहा जाता ।’

यह सुनकर लोगो ने कहा—‘जब बिच्छू ने डक मारा था तब तुम चुप कैसे बैठी रही ?’

श्राविका बोली—‘उस समय मैं सामायिक में थी । सामायिक में कैसे रो सकती हूँ !’

गम्य हैं, बुद्धिगम्य नहीं है; इसलिए भगवान् ने कहा है कि साधुवेष धारण करने से ही आत्मा को लघुता का अनुभव होता है ।

कहने का आशय यह है कि साधुवेष धारण करने से जीवात्मा द्रव्य से और भाव से हल्का बन जाता है । द्रव्य से तो उपकरण आदि के भार से हल्का हो जाता है और भाव से प्रमादभार से हल्का हो जाता है । शास्त्र में साधु के लिए जितने भंडोपकरण आदि रखने का विधान किया गया है, उससे अधिक भंडोपकरण आदि साधु अपने पास नहीं रख सकता और इसी कारण साधु द्रव्य से उपकरण आदि के भार से हल्का बन जाता है । साधु के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होनी चाहिए, जिसके विषय में पूछने पर साधु उत्तर न दे सके । साधु के पास जो भी कोई वस्तु हो वह समय में सहायक और उपयोगी होनी चाहिए । कोई भी निरुपयोगी वस्तु साधु के पास नहीं होनी चाहिए । जिस वस्तु के द्वारा इन्द्रियो के विषयो का पोषण हो और साधुता का ह्रास हो ऐसी वस्तु साधु नहीं रख सकता । साधु तो समय में सहायक और साधुता की पोषक वस्तु ही रख सकता है और वह भी शास्त्रविहित परिमाण में ही । इस प्रकार साधु द्रव्य से अनेक उपकरणों की उपाधि से मुक्त होकर हल्का हो जाता है और भाव से क्रोध आदि कपायो का परित्याग करके हल्का हो जाता है । साधुलिंग को धारण करने वाला कोई व्यक्ति कदाचित् क्रोध करने लगे तो श्रावक, साधु से कह सकता है कि, महाराज ! साधु होकर क्रोध करना आपके लिए उचित नहीं है । हम गृहस्थ हैं, मगर आप तो क्रोध आदि को जीतने वाले साधु



हैं । आप क्रोध करे, यह उचित नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार श्रावको के कथनमात्र से क्रोध करने वाला साधु भी कषाय से बच जाता है और साधुवेष होने के कारण क्रोध, विषय, कषाय, निद्रा आदि प्रमादो से बच सकता है । सुविहित साधुवेष के कारण जीवात्मा पाप से बचता है और कर्मगुरुता के भार से हल्का बन जाता है ।

प्रमाद को जीतने के लिए साधुवेष धारण किया जाता है, प्रमाद को बढ़ाने के लिए नहीं । सरकार सिपाहियों को शस्त्र देती है सो वैरियों को जीतने के लिए देती है, पराजित होने के लिए नहीं । इसी प्रकार सुविहित वेष भी प्रमाद को जीतने के लिए पहना जाता है । इसके अतिरिक्त साधुवेष साधुता का चिह्न है, इसलिए भी धारण किया जाता है । साधुवेष न धारण करने वाले व्यवहार में साधु नहीं कहलाते । प्रकट व्यवहार में साधु का लिंग धारण करने वाले ही साधु कहलाते हैं । उदाहरणार्थ— कोई मनुष्य पुलिस का सिपाही हो परन्तु अगर उसने पुलिस की नियत पोशाक नहीं पहनी है तो उसे कोई पुलिस का आदमी नहीं मानेगा और न उसकी आज्ञा ही मानेगा । भले ही उसे खुफिया पुलिस कोई समझ ले परन्तु पुलिस को पोशाक के बिना उसे प्रकट रूप में पुलिस नहीं माना जा सकता । इसी प्रकार कोई अन्दर से भले ही साधुता के गुणों से युक्त हो किन्तु जब तक वह साधु का लिंग धारण नहीं करेगा तब तक उसे प्रकट में साधु नहीं माना जा सकता । इसी कारण श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है:—

लोके लिंगपयोयणं ।

अर्थात् लोको में लिंग का प्रयोजन है ।

लिंग से प्रथम तो सुविहित साधु माना जाता है, दूसरे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की भी रखा होती है। रजोहरण और मुखवस्त्रिका जीवों की रक्षा के लिये ही रखी जाती है। इस प्रकार साधुलिंग प्रशस्त है। साधुओं के पास जो भी वस्तु हो वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का रक्षा के लिए ही होनी चाहिए। जो चीज ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की घातक हो, ऐसी एक भी वस्तु साधु अपने पास नहीं रख सकता और न उसे रखनी ही चाहिए।

सुना है, वाकानेर के महाराजा साहव एक बार अपने समाज के नागजी स्वामी के पास आये। उन्होंने पूछा— 'महाराजश्री ! आपके पास क्या-क्या उपकरण हैं ?

नागजी स्वामी ने अपने सब उपकरण बतला दिये। स्वामीजी के उपकरण देखकर महाराज बहुत प्रसन्न हुए, और कहने लगे— 'साधु के पास जितनी चीजें होनी चाहिए, उतनी ही आपके पास हैं।'

कहने का आशय यह है कि साधुलिंग प्रशस्त है। अतएव साधु के पास गुण उत्पन्न करने वाली चीजें ही रह सकती हैं, अवगुण उत्पन्न करने वाली नहीं। साधु के पास ऐसी ही वस्तु रह सकती हैं कि कोई भी और कभी भी उन्हें देखना चाहे तो साधु को दिखलाने में सकोच न हो। उदाहरणार्थ—अगर किसी साधु के पास दर्पण या कघा हो तो उसे दिखलाने में साधु को सकोच होगा और ऐसी चीज देखकर लोग साधु का उपहाम करेंगे। दर्पण या कघा रखना साधु के लिए वर्ज्य है। इसके विपरीत अगर साधु के पास शास्त्र हो तो शास्त्र बतलाने में साधु को सकोच नहीं होगा। शास्त्र तो साधुता का चिन्ह और भूषण है। पूज्य

श्री श्रीलालजी महाराज कहते थे कि शास्त्र तो जैन साधु का 'सिंघार' है ।

प्रशस्त लिग धारण करने से आत्मा में विशुद्धता आती है और वह विशुद्धता बढ़ती जाती है । प्रशस्त साधुलिग से सम्यक्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है और इन गुणों में आत्मा स्थिर होता है । सुविहित वेष वही साधु धारण कर सकता है, जिसमें सम्यक्त्व आदि गुण होते हैं । साधुवेष में इन गुणों की रक्षा और वृद्धि होती है ।

स्थविरकल्पी का वेष धारण करने से दूसरा लाभ क्या होता है, यह बतलाते हुए भगवान् ने कहा कि आपत्तिकाल में साधुवेष अध्यवसाय को निश्चल रखता है । आपत्तिकाल में साधुवेष से अध्यवसाय में किस प्रकार निश्चलता रहती है, इस विषय पर विचार करते हुए मेरा स्वानुभव यहाँ स्मरण में आ जाता है:—

घोडनदी में एक श्राविका सामायिक में बैठी थी । सामायिक के समय उसे बिच्छू ने डक मार दिया । बिच्छू के डक मारने पर भी वह श्राविका तब तक चुपचाप बैठी रही जब तक सामायिक पूर्ण न हो गई । सामायिक पूर्ण होते ही वह चीख मार कर रोने लगी । लोगों ने रोने का कारण पूछा तो श्राविका ने कहा 'मुझे बिच्छू ने काट लिया है, और उसकी असह्य पीड़ा के कारण रोये बिना नहीं रहा जाता ।'

यह सुनकर लोगो ने कहा—'जब बिच्छू ने डक मारा था तब तुम चुप कैसे बैठी रही ?'

श्राविका बोली—'उस समय मैं सामायिक में थी । सामायिक में कैसे रो सकती हूँ ।'

इस प्रकार वह श्राविक विच्छू के काटने पर भी सामायिक के समय मन को मजबूत करके बैठी रही और अपना अध्यवसाय दृढ़ रख सकी। इस प्रकार वेष आपत्तिकाल में अध्यवसाय को दृढ़ रखता है।

आज सामायिक निरूपयोगी मानी जाती है और कुछ लोग सामायिकक्रिया के विरुद्ध भी बोलते हैं, मगर सामायिक के विरुद्ध बोलने वाले लोग भूल करते हैं किसी आपत्ति के समय सामायिक द्वारा अध्यवसाय निश्चल रहते हैं कुछ लोगों को सामायिक क्रिया मामूली-सी मालूम होती है, परन्तु वास्तव में सामायिक किस प्रकार जीवन साधक है, यह तो समय आने पर ही पता चलता है। जो लोग नियमित रूप से बराबर सामायिक करते हैं, वही सामायिक का प्रभाव समझ सकते हैं। चोर तो हमेशा नहीं आते, लेकिन तिजोरी में ताला हमेशा लगाया जाता है। चोर के आने पर तिजोरी में ताला लगा होने पर धन की रक्षा हो जाती है। इस प्रकार वेष से भी आपत्तिकाल में अध्यवसायों की रक्षा हो जाती है। इतना ही नहीं वरन् साधुलिंग पाचो समितियों का पालन करने में समर्थ होता है। साधुवेष को महत्ता प्रकट करते हुए आगे कहा गया है कि साधुवेष धारण करने वाला साधु प्राणी, भूत, जीव, सत्त्व आदि समस्त प्राणियों का विश्वासपात्र बन जाता है साधुवेष धारण करने वाला साधु निषिद्ध घर में भी निसकोच होकर जा सकता है। आज साधुवेषधारी लोगों पर जो अविश्वास पंदा हुआ दिखाई देता है, उसका कारण कुछ और होगा, परन्तु साधुवेष तो विश्वास उत्पन्न करने का ही साधन है।

सुविहित साधुवेष उपधि को श्रल्प करने में साधन-भूत बनता है और इससे सब प्रकार की झगड़ दूर हो जाती

हैं । वेषधारी अल्प ही उपधि रख सकता है और इस प्रकार वह अधिक सामान संभालने से बच जाता है । साधुवेष जीव को जितेन्द्रिय बनने का मूक सदेश सुनाता है । इस प्रकार साधुवेष विपुल तप-सयम आदि सद्गुणों की प्राप्ति कराता है तथा सद्गुणों का संरक्षण करने में भी साधक बनता है ।

सुविहित साधुवेष से उत्पन्न होने वाले अनेक गुणों में से प्रत्येक गुण पर विचार करने के लिए बहुत समय की आवश्यकता है । अतएव समुच्चय रूप में यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि सुविहित साधुवेष धारण करके उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाते तथा रक्षा करते हैं, वे अपना और परका कल्याण करते हैं ।

स्थविर वेष धारण करना तो परमात्मा के दरबार में बैठक प्राप्त करने का प्रयत्न करने के समान है । दरबार में बैठने वाले लोगों को भी वेष के विषय में सावधानी रखनी पड़ती है, तो फिर क्या परमात्मा के दरबार में बैठने के लिए वेष की सावधानी नहीं रखनी चाहिए ? अवश्य रखनी चाहिए ।

साधुवेष स्वीकार करके प्रत्येक साधु को इस बात का विचार करना चाहिए कि महान् चक्रवर्ती भी अपनी ऋद्धि-सम्पदा का त्याग करके जिस वेष को धारण करते हैं वही वेष मुझे भी प्राप्त हुआ है । अतएव मुझे इस वेष के विरुद्ध या इसे कलक लगाने वाला कोई काम नहीं करना चाहिए । साधुवेष को प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का भार हमारे ऊपर भी है और तुम्हारे ऊपर भी है, क्योंकि तुम (श्रावक) भी चतुर्विध तीर्थ में से एक हो । शास्त्र में कहा है:—

## ११०-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

चउन्निहे समणसंघे पण्णत्ते, तंजहा-ममणाए, समणीत्ते,  
सावयाए, सावियाए य ।

अर्थात्—साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चतु-  
र्विध सघ है । अतएव तुम्हें भी कोई काम ऐसा नहीं करना  
चाहिए, जिसके कारण सघ या शासन की प्रतिष्ठा को कलक  
लगे । तुम्हें ऐसे ही सुकार्य करना चाहिए, जिससे सघ और  
शासन की प्रतिष्ठा और कीर्ति बढ़े ।

जिन्होंने साधुवेष धारण किया है उन्हें ऐसा नहीं सोचना  
चाहिए कि अब हमें कुछ करना शेष नहीं रह गया है ।  
उन्हें विचारना चाहिए कि दूसरे लोग भले ही कर्त्तव्य से  
भ्रष्ट हो जाए पर मैं अपने कर्त्तव्य का परित्याग नहीं करूंगा ।

शास्त्रकारों ने जनसमाज को कल्याण का यह मार्ग  
बतलाया है । इस कल्याणमार्ग पर चल कर अनेक साधुओं  
ने स्व-पर का कल्याण साधन किया है और अनेक साधक  
कल्याण साध रहे हैं । कल्याण के मार्ग पर आरुढ़ होकर  
सभी लोग स्व-पर का कल्याण साधन करे, वस यही हृदय-  
गत भावना है ।



# तेतालोसवां बोल

## सेवा

जो साधु, साधुवेष धारण करके कर्तव्यपालन में तत्पर रहता है, वह आत्मकल्याण की साधना करता है। साधुवेष की शोभा वास्तव में सेवा में है। नीतिकारो ने सेवा को परमधर्म माना है। सेवा भी तपोमार्ग है। अतएव वैयावृत्य (सेवा) के विषय में गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं.—

### मूलपाठ

प्रश्न—वेयावच्चेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्तं कम्मं निबधइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वैयावृत्य अर्थात् सेवा से जीव को क्या लाभ होता है ।

उत्तर—वैयावृत्य से तीर्थकरनाम—गोत्र का कर्म बध होता है ।

### व्याख्यान

वैयावच्च अथवा वैयावृत्य की व्यावहारिक भाषा में

सेवा कहते हैं । कितनेक लोग सेवा करने को हल्का काम मानते हैं । परन्तु ज्ञानीजनों का कथन है कि सेवा को हल्का काम समझने वाला स्वयं ही हल्का बना रहता है । अर्थात् वह उच्च अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता । वास्तव में सेवा छोटा काम नहीं है । वह तो महान् कर्त्तव्य है । सेवा करने वाले को यह मानना चाहिए कि मैं जो सेवा कर रहा हूँ वह परमात्मा की ही सेवा कर रहा हूँ । ऐसा मानकर जो साधु स्वयंसेवक की भाँति सेवा करते हैं, उनके लिए भगवान् ने कहा ही है कि वैयावृत्य-सेवा करने वाला तीर्थ-ङ्करनामगोत्र बाधता है । जब दूसरे की सेवा करते समय यह समझा जाता है कि मैं परमात्मा की सेवा कर रहा हूँ, तब वह सेवा अनोखी-अनुपम ही होती है ।

कुछ लोग सेवा के नाम पर सेवा का ऊपरी ढोंग करते हैं परन्तु भीतर से सच्ची सेवा नहीं करते । ऐसे लोगों के विषय में ज्ञानीजनों का कथन है कि वे भूठ-कपट का सेवन करने वाले लोग वास्तव में परमात्मा की सेवा नहीं करते वरन् गुलामी की सेवा करते हैं । सच्ची सेवा में कभी भूठ-कपट का व्यवहार किया ही नहीं जा सकता । श्रीस्थानाग-सूत्र में दस प्रकार की सेवा बतलाते हुए कहा है:—

(१) आयरियवेयावच्च (२) उवज्झायवेयावच्च (३) थेरवेयावच्च (४) तवसीवेयावच्च (५) सेक्खवेयावच्च (६) पिलाणवेयावच्च (७) गणवेयावच्च (८) कुलवेयावच्च (९) मघवेयावच्च (१०) साहम्मियवेयावच्च ।

अर्थात् सेवा दस प्रकार की है—(१) आचार्य की सेवा (२) उपाध्याय की सेवा (३) स्थविर की सेवा (४) तप-



स्वी की सेवा (५) शिष्य की सेवा (६) ग्लान-रोगी की सेवा (७) गण की सेवा (८) कुल की सेवा (९) सघ की सेवा और (१०) सहधर्मी की सेवा ।

यह दस प्रकार की सेवा बतलाई गई है । इनमें से आचार्य की सेवा करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि आचार्य की सेवा करने से प्रतिक्षण अनन्त कर्मों का क्षय होता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है । इसी प्रकार प्रत्येक सेवा के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये हैं । यहाँ गौतम स्वामी ने समुच्चय रूप में वैयावृत्य अर्थात् सेवा के फल के विषय में प्रश्न किया है । इस प्रश्न के उत्तर में फरमाया है कि सेवा करने वाला तीर्थङ्कर गोत्र का उपार्जन करता है ।

जैनशास्त्रों में तीर्थङ्करपद से बड़ा अन्य कोई पद नहीं माना गया है । यह पद किसी अन्य पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हो सकता है, ऐसा कथन इन ७३ बोलों में कहीं भी मेरे देखने में नहीं आया । यह महान् फल वैयावृत्य-सेवा करने से प्राप्त होता है, ऐसा बतलाया गया है । भगवान् ने सेवा का फल इतना उत्तम और महान् बतलाया है । जिस सेवा से ऐसा महान् फल प्राप्त होता है, वही सेवा करने में झूठ-कपट का व्यवहार करना कितनी मूर्खता है । सेवा में जो छल-कपट करता है वह गुलामी की सेवा करता है, ऐसा समझना चाहिए । जो पुरुष किसी भी प्रकार की सेवा को परमात्मा की सेवा मानकर करता है, वह सेवा करने में छल-कपट का व्यवहार कर ही नहीं सकता ।

सेवा अनेक प्रकार से होती है । ग्रन्थों में कहा है कि

## ११४-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

भरतजी तथा बाहुवलीजी पूर्वजन्म में पांच सौ मुनियों की सेवा करते थे । उन मुनियों की वहिरग सेवा भरतजी करते थे और अन्तरग सेवा बाहुवलीजी करते थे । इस सेवा के फल-स्वरूप बाहुवलीजी को शारीरिक बल की प्राप्ति हुई और भरतजी को ऋद्धि-सम्पदा का बल प्राप्त हुआ । सेवा का यह फल वहिरग है । सेवा द्वारा दूसरा जो फल मिलता है वह तो अत्यन्त ही महान् है और उसके विषय में भगवान् ने कहा ही है कि सेवा करने वाला तीर्थङ्कर-गोत्र का उपा-र्जन करता है । भगवान् ऋषभदेव के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होंने जीवानन्द वैद्य के भव में एक मुनि की खूब ही सेवा की थी और उस सेवा का महान् फल मिला था ।

शास्त्र में जब मुनियों के लिए भी सेवा करने का विधान किया गया है तब तुम्हें कितना अधिक सेवाकार्य करना चाहिए, इस बात का विचार तुम स्वयं ही कर सकते हो । कितनेक लोगो को सामायिक-पौषध आदि धार्मिक क्रिया करने का तो खूब चाव होता है, परन्तु सेवा कार्य करने में अरुचि होती है । और अगर किसी रोगी की सेवा करने का अवसर आ जाता है तो उन्हें बड़ी कठिनाई मालूम होती है । रोगी कपड़े में ही कैद कर देता है और कभी-कभी रास्ते में ही चक्कर खाकर गिर पड़ता है । ऐसे रोगी की सेवा करना कितना कठिन है । फिर भी जो सेवाभावी लोग रोगी की सेवा को परमात्मा की सेवा मान कर करते हैं, उनकी भावना कितनी ऊँची होगी ।

वास्तव में यह अखिल ससार सेवा के कारण ही टिक रहा है । जब ससार में सेवाभावना की कमी हो जाती है

तभी उत्पात मचने लगता है । और जब सेवाभाव की वृद्धि होती है तब यह ससार स्वर्ग के समान बन जाता है । अतएव सेवा कार्य करने में तनिक भी उपेक्षा नहीं करना चाहिए और न छल-कपट ही करना चाहिए । जो मनुष्य माता-पिता अथवा अन्य किसी भी मनुष्य की सेवा करने में छल-कपट करता हुआ भी अपने को सेवाभावी कहलवाता है, वह वास्तव में सेवाभावी नहीं बरन् ढोंगी है । सेवक तो वही है जो सेवा करने में झूठ-कपट का आश्रय नहीं लेता और सेवा कार्य के प्रति घृणाभाव भी प्रदर्शित नहीं करता । जहाँ घृणा है वहाँ सच्ची सेवा नहीं हो सकती ।

मुनि के लिए किस सीमा तक सेवा करने का विधान किया गया है, यह बताने के लिए एक जैन उदाहरण देकर समझाने का प्रयत्न करता हूँ :—

नदिसेन नामक एक मुनि बहुत ही सेवाभावी थे । उनकी सेवा की प्रशंसा इन्द्रलोक तक जा पहुँची । इन्द्र ने देवसभा में नदिसेन मुनि की सेवा की प्रशंसा करते हुए कहा—  
राजकुमार होने पर भी नदिसेन मुनि ऐसी सेवा करते हैं कि उन जैसी सेवा करना दूसरों के लिए बड़ा कठिन है ।

इन्द्र के यह प्रशंसात्मक वचन सुनकर एक देव ने विचार किया—इन्द्र महाराज देवों के सामने एक मनुष्य की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं ? अच्छा, उस सेवाभावी मुनि की परीक्षा क्यों न की जाय ? आखिर नदिसेन मुनि मनुष्य हैं । मनुष्य की नाक में दुर्गन्ध जाती है; अतएव दुर्गन्ध द्वारा उन्हें घबरा देना स्वाभाविक और सरल है । इस प्रकार विचार करके उस देव ने नदिसेन मुनि की परीक्षा लेने का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

पित कर देता है । सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय में अंकित हो जाये तो यह ससार स्वर्ग बन जाये ।

नदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कंधे पर चढ़ा लिया । देव ने नदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए अपने शरीर में से रक्त और पीव की धारा बहाई, मगर नदिसेन मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ़ करते हुए देव के दुर्ग धमय शरीर को उठाकर नगर में ले गये । देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे—‘आप ऐसे रोगी मनुष्य का नगर में नहीं ले जा सकते । एक रोगी के पीछे अनेकों को रोगी नहीं बनाना चाहिए ।’

नागरिकजनों का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी वेढगी हो गई होगी ? ऐसी विषम स्थिति में मुनि के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है । परन्तु उन्होंने खोटा तर्क-वितर्क नहीं किया । वे समभावपूर्वक नागरिक लोगों की बात सुनते रहे । मुनि ने मन ही मन विचार किया—‘मैं नगरजनों को भी दुखी नहीं कर सकता और इस रोगी साधु की सेवा का भी परित्याग नहीं कर सकता । हे प्रभो ! ऐसी विकट स्थिति में क्या कहूँ ?’

नदिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे । इतने में साधु वेषधारी देव ने भी विचार किया—‘ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय में सेवा के प्रति उतना ही दृढ़ विश्वास है । वास्तव में इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है । इन्द्र महाराज

ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशंसा की थी, वास्तव में मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशंसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधु वेषधारी देव, साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरो पर गिरकर कहने लगा--हे मुनिपुत्र ! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशंसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवा-भूति हैं । आपने सेवा द्वारा देवों को भी जीत लिया है । सेवा करने वाला देवों को भी जीत लेता है । शास्त्र में भी कहा है:—

देवा वि त नमसंति जस्म धम्मे सया मणो ।

अर्थात् - जिनका मन धर्म में सदा अनुरक्त रहता है; उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं ।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नत-मस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सेवाभावी व्यक्ति को मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रखना चाहिए । जिनके मन में विकारभाव नहीं होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं । अतएव मन को पवित्र रखो ।

नदिसेन मुनि के मन में कपटभाव नहीं था और न घृणाभाव ही था । इसी कारण उनकी सेवावृत्ति सफल हुई ।

तीर्थङ्कर बनना तो सभी को रुचता है मगर तीर्थ-ङ्कर पद प्राप्त करने के लिए सेवा करना रुचता है या नहीं, यह देखो । सेवाकार्य कितना कठिन है, इस सम्बन्ध में कहा है—

वह देव साधु का स्वागत बना कर जहाँ नदिसेन मुनि ठहरे थे, वहाँ पास के एक जंगल में जाकर पड़ा रहा । उस देव ने अपने शरीर को ऐसा रुग्ण बना लिया कि शरीर के छिद्रों में से रक्त और मवाद बहने लगा । उस रक्त और पीव में से असह्य दुर्गन्ध निकल रही थी । इस प्रकार रोगी साधु का भेषधारण करके उस देव ने नदिसेन मुनि के पास समाचार भेजा कि पास के जंगल में एक साधु बहुत बीमार हालत में पड़े हैं । उनकी सेवा करने वाला कोई नहीं है, अतः उन्हें बहुत अधिक कष्ट हो रहा है ।

नदिसेन मुनि को जैसे ही यह समाचार मिले कि वे तुरन्त उन रोगी साधु की सेवा करने के लिए चल पड़े । मुनि मन ही मन विचारने लगे—‘मेरा सौभाग्य है कि मुझे साधु सेवा का ऐसा सुअवसर हाथ आया है ।’

इस प्रकार विचार कर नदिसेन मुनि रोगी साधु की सेवा करने के लिए जंगल में पहुँचे । मुनि उस कपटी वेषधारी रोगी साधु को ओर ज्यो-ज्यो आगे जाने लगे त्यों-त्यों उन्हें अधिकाधिक दुर्गन्ध आने लगी । परन्तु नदिसेन मुनि उस असह्य दुर्गन्ध से न घबरा कर रोगी साधु के समीप पहुँच गये । नदिसेन मुनि को आते देखकर वह साधु वेषधारी देव क्रुद्ध होकर कहने लगा ‘तुम क्यों इतनी देरी करके आये ? मुझे कितना कष्ट हो रहा है, इसका तुम्हें खयाल ही नहीं है ? मेवाभावी कहलाते हैं और मेवा करने के समय इतना विलम्ब करते हैं ।’ साधु रूपधारी देव इस प्रकार कहकर नदिसेन को उपालम्भ देने लगा ।

यद्यपि देव ने अपना शरीर घृणोत्पादक बनाया था

और उसके शरीर से दुस्सह दुर्गन्ध फूट रही थी, फिर भी नदिसेन मुनि दुर्गन्ध से न घबरा कर उसकी सेवा करने के लिए उसके पास गये । मगर पास पहुचते ही वह देव नाराज होकर उपालभ देने लगा । उपालभ सुनकर नदिसेन मुनि तनिक भी नाराज न हुए । उल्टे विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करने लगे । उन्होंने सेवा करने की आज्ञा देने की भी माग की ।

नदिसेन की बात सुनकर देव ने कहा—देखते नहीं, मेरा शरीर कितना कृश, दुर्बल और अस्वस्थ बन गया है । शरीर की सेवा करने के सिवाय और क्या आज्ञा तुम चाहते हो ?

मुनि ने विचार किया—अगर मैं नगर में दवा लेने जाऊँगा तो बहुत देरी लगेगी । ऐसा विचार कर उन्होंने देव से कहा—अगर आप नगर में चले तो ?

देव—मेरे पैरों में चलने की शक्ति होती तो तुम्हारी सहायता की आवश्यकता ही क्या थी ?

मुनि—मेरे पैर भी तो आपके ही हैं । आप मेरे कंधे पर बैठ जाइए । मैं उठाकर नगर तक ले चलूँगा ।

देव—मेरे हाथों में भी तो शक्ति नहीं है । तुम्हारे कंधे पर चढ़ूँ तो कैसे चढ़ूँ ?

मुनि—तो क्या हानि है ? मैं खुद ही अपने कंधे पर बिठला लूँगा ।

सच्चा सेवक अपनी शक्ति को दूसरों की ही शक्ति मानता है और अपना तन, मन पर की सेवा के लिए सम-

पित कर देता है । सेवा का यह आदेश अगर जनसमाज के हृदय में अंकित हो जाये तो यह ससार स्वर्ग बन जाये ।

नदिसेन मुनि ने उस देव को अपने कंधे पर चढ़ा लिया । देव ने नदिसेन मुनि को सेवा की प्रतिज्ञा से विचलित करने के लिए अपने शरीर में से रक्त और पीव की धारा बहाई, मगर नदिसेन मुनि अपनी सेवाभावना को स्थिर और दृढ़ करते हुए देव के दुर्ग धमय शरीर को उठाकर नगर में ले गये । देव के शरीर से निकलती दुर्गन्ध के कारण तथा देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर नगरजन मुनि से कहने लगे—‘आप ऐसे रोगी मनुष्य का नगर में नहीं ले जा सकते । एक रोगी के पीछे अनेकों को रोगी नहीं बनाना चाहिए ।’

नागरिकजनों का विरोध देखकर मुनि की स्थिति कितनी बेढगी हो गई होगी ? ऐसी विषम स्थिति में मुनि के मन में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों का उत्पन्न होना स्वाभाविक है । परन्तु उन्होंने खोटा तर्क-वितर्क नहीं किया । वे सम्भावपूर्वक नागरिक लोगों की बात सुनते रहे । मुनि ने मन ही मन विचार किया—‘मैं नगरजनों को भी दुखी नहीं कर सकता और इस रोगी साधु की सेवा का भी परित्याग नहीं कर सकता । हे प्रभो ! ऐसी विकट स्थिति में क्या करूँ ?’

नदिसेन मुनि इस प्रकार विचार कर रहे थे । इतने में साधु वेषधारी देव ने भी विचार किया—‘ऐसी विषम परिस्थिति उत्पन्न होने पर भी इन मुनि के हृदय में सेवा के प्रति उत्तना ही दृढ़ विश्वास है । वास्तव में इन मुनि की सेवाभावना अत्यन्त उच्च कोटि की है । इन्द्र महाराज



ने इनकी सेवाभावना की जितनी प्रशंसा की थी, वास्तव में मुनि का सेवाभाव वैसी ही प्रशंसा का पात्र है।' इस प्रकार विचार करके साधु वेष्टधारी देव, साधुवेष का त्याग करके, अपने स्वाभाविक रूप में नीचे उतरा और मुनि के पैरों पर गिरकर कहने लगा--हे मुनिपु गव ! आपकी सेवाभावना की जैसी प्रशंसा इन्द्र महाराज ने की थी, आप वैसे ही सेवा-मूर्ति हैं । आपने सेवा द्वारा देवों को भी जीत लिया है । सेवा करने वाला देवों को भी जीत लेता है । शास्त्र में भी कहा है :—

देवा वि त नमसंति जस्स धम्मं सया मणो ।

अर्थात् - जिनका मन धर्म में सदा अनुरक्त रहता है; उन्हें देवता भी नमस्कार करते हैं ।

वैयावृत्य करने वाले व्यक्ति के आगे देव भी नत-मस्तक हो जाते हैं तो साधारण लोग अगर सेवाभावी को नमस्कार करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? सेवाभावी व्यक्ति को मन में किसी प्रकार का छल-कपट नहीं रखना चाहिए । जिनके मन में विकारभाव नहीं होता, देव भी उनकी सेवा करते हैं । अतएव मन को पवित्र रखो ।

नंदिसेन मुनि के मन में कपटभाव नहीं था और न धृणाभाव ही था । इसी कारण उनकी सेवावृत्ति सफल हुई ।

तीर्थङ्कर बनना तो सभी को रुचता है मगर तीर्थ-ङ्कर पद प्राप्त करने के लिए सेवा करना रुचता है या नहीं, यह देखो । सेवाकार्य कितना कठिन है, इस सम्बन्ध में कहा है —

मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वर्तुलो जल्पको वा,  
 - धृष्टः पाशर्वे नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः ।  
 क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,  
 सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥

इस श्लोक का सार यह कि सेवाधर्म बड़े-बड़े योगी-महात्माओं के लिए भी अगम्य होता है । इस बात को स्पष्ट करते हुए कवि कहता है—सेवक जब चुप रहता है तो स्वामी उसे गू गा कहता है । स्वामी का यह कथन सुनकर सेवक मन में विचार करता है कि मेरे मुख से कोई अनुचित शब्द न निकल जाए, यह सोचकर मैं चुप रहता था परन्तु चुप रहने से स्वामी मुझे गू गा कहते हैं । तो फिर मुझे बोलना चाहिए । इस प्रकार विचार कर सेवक अगर बोलने लगता है तो स्वामी कहता है—यह सेवक तो बहुत ही बकवाद करता है । चुप रहना जानता ही नहीं । इस प्रकार सेवक चुप रहता है तो गू गा कहलाता है और अगर बोलता है तो बकवादी कहलाता है । अगर सेवक, स्वामी के पास खड़ा रहता है तो स्वामी उसे निर्लेज्ज कहता है । अगर दूर रहता है तो उसे काम-चोर की पदवी से विभूषित किया जाता है । इस प्रकार स्वामी के पास खड़ा रहने पर भी उसे उपालभ मिलता है और पास न खड़ा रहने पर भी उपालभ मिलता है । इसके अतिरिक्त सेवक अगर स्वामी की कोई बात शान्तिपूर्वक सहन कर लेता है तो वह डरपोक कहलाता है । अगर स्वामी की बात सुनकर उत्तर देता है तो स्वामी उसे कुलहीन कह देता है । इस प्रकार सेवक की स्वामी की बात सुन लेने पर भी मुसी-

बत है और न सुनने पर भी आफत है। इन सब बातों के कारण ही यह कहा गया है कि सेवाधर्म योगियों के लिए भी अगम्य है। सेवाकार्य करना बहुत कठिन है। महान् कार्य का फल महान ही होता है। सच्ची सेवा करने से तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति होती है। तीर्थङ्कर पद प्राप्त होना ही सेवा का महान् से महान् फल है।

जिस व्यक्ति पर सेवा का जितना भार है वह अपनी शक्ति के अनुसार जितनी ज्यादा सेवा करता है, वह उतने ही परिमाण में बड़ा सेवक है। राजा-महाराजा भी एक प्रकार से प्रजा के सेवक ही हैं, क्योंकि उनके ऊपर प्रजा की सेवा करने का भार है। प्रजा की सेवा करना राजा-महाराजा का धर्म है कर्त्तव्य है। जो राजा या महाराजा कुशलतापूर्वक प्रजा की सेवा करता है वह प्रजा का महान् सेवक है। लोग उन्हीं की प्रशंसा करते हैं जो अधिक से अधिक सेवा बजाते हैं। जिस प्रकार प्रजा की सेवा करना राजा का कर्त्तव्य है उसी प्रकार राजा की सेवा करना प्रजा का कर्त्तव्य है। राज्य के नीति-नियमों का भलीभाँति पालन करना, यही राजा की सेवा करना है। तुम लोग जब न्याय-नीति का बराबर पालन करो, पर-धन को धूल समान और परस्त्री को माता के समान मानो, तभी यह कहा जा सकता है कि तुम राजा की सेवा करते हो। परधन को धूल समान और परस्त्री को माता समान मानने की नीति अगर अपने जीवन में अमल में लाओगे तो जनसमाज की और अपनी खुद की भी सेवा कर सकोगे और साथ ही साथ आत्म-कल्याण भी साध सकोगे। अगर तुममें परधन को लूटने की और परस्त्री पर कुदृष्टि डालने की भावना न हो तो देव

भी तुम्हें सेवाधर्म से विचलित नहीं कर सकता । क्योंकि उस समय तुम्हारे अन्तर में सच्ची सेवाभावना जागृत हुई होगी और जिसमें सच्ची सेवा-भावना जागृत हो जाती है उसे कोई भी देव चलायमान नहीं कर सकता, जैसे नदिसेन मुनि को देव चलायमान नहीं कर सका था ।

सेवा करना भी तप है । वैयावृत्य-सेवा की गणना आभ्यन्तर तप में की गई है । बाह्य तप की अपेक्षा आभ्यन्तर तप से आत्मा की अधिक शुद्धि होती है । महावीर भगवान् ने तप की खूब महिमा बतलाई है । तपश्चरण द्वारा अवश्य ही आत्मकल्याण होता है । आत्मा के कल्याण का तप श्रमोल साधन है । जो पुरुष तपोमार्ग को अपना कर अपनी श्रीर जगत् की सेवा करता है, वह स्व-पर का कल्याण-साधन करता है । सेवा आत्मा और परमात्मा के बीच सबंध स्थापित करने वाली साकल है । इस साकल के द्वारा आत्मा और परमात्मा के बीच सबंध जोड़ोगे तो कल्याण होगा ।



# चवालीसवां बोळ

## सर्वगुणसम्पन्नता

---

सच्ची सेवा करने वाले को तीर्थंकर पदवी प्राप्त होती है और परिणामस्वरूप वह सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है । अतएव गौतम स्वामी सर्वगुणसम्पन्नता के विषय में भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

### मूलपाठ

प्रश्न—सर्वगुणसम्पन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सर्वगुणसम्पन्नयाए अपुणरावित्ति जणयइ, अपुणरावित्ति पत्तएयणं जीवे सारीराण माणसाणं दुक्खाणं नो भागी भवइ ॥४४॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सर्वगुण प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ज्ञान आदि सर्वगुणों की प्राप्ति होने से ससार में फिर नहीं आना पड़ता और फिर न आने से जीव शारीरिक और मानसिक दुखों से मुक्त हो जाता है ।

## व्याख्यान

सब गुणों का भिन्न-भिन्न वर्णन करना कठिन है, अतएव संग्रहनय की दृष्टि से, समुच्चय रूप में यहाँ यह प्रश्न पूछा गया है कि सर्वगुणमम्पन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ? जैसे किसी वस्तु की वान्गी द्वारा हजारों-लाखों मन वस्तु का सौदा हो सकता है, उसी प्रकार समस्त गुणों को ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य-इस रत्नत्रय में संग्रह कर लिया गया है और कहा गया है कि ज्ञान दर्शन तथा चारित्र्य मे-रत्नत्रय में-सभी गुणों का समावेश हो जाता है ।

जो वस्तु जैमी है उसे वैसी ही जानना ज्ञानगुण है । वस्तु का सिर्फ ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से काम नहीं चल सकता, अतएव दूसरा गुणदर्शन कहा गया है । जो वस्तु जैसी है, उसे उसी रूप में श्रद्धान करना अर्थात् मानना दर्शनगुण या सम्यक्त्वगुण है । लेकिन वस्तु का ज्ञान और श्रद्धान कर लेने से भी काम नहीं चल सकता, अतएव तीसरा गुण चारित्र्य कहा गया है । जिस वस्तु को जिस रूप में जाने और मानें, उसी रूप में उसका व्यवहार करना चारित्र्य-गुण है ।

शास्त्र में ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के भी भेद बतलाए गए हैं । ज्ञानगुण के मुख्य रूप से पांच भेद कहे गए हैं । यहाँ आशंका हो सकती है कि जब किसी वस्तु को जानना ज्ञान है तो फिर ज्ञान में भेद किस अभिप्राय से किये गये हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वास्तव में तो ज्ञान एक ही है, परन्तु कर्मों के क्षयोपशम और क्षय की भिन्नता के कारण ज्ञान में भी भेद किये गये हैं । ज्ञान के षट्तिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान-

यह पाँच भेद किये गये हैं । इनमें से पहले के चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और पाचवा ज्ञान क्षायिक है । यह पाचों ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भागों में विभक्त किये गये हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष है और बाकी के तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो भेद हैं—एक विकल-पारमार्थिक प्रत्यक्ष और दूसरा सकलपारमार्थिकप्रत्यक्ष । अवत्रिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकलपारमार्थिकप्रत्यक्ष है ।

मतिपूर्वक होने के कारण मतिज्ञान, मतिज्ञान कहलाता है । उसका दूसरा नाम आभिनिबोधिज्ञान भी है । मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है । यह ज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों को होता है । यह ज्ञान जब मिथ्यात्व से युक्त होता है तो मिथ्याज्ञान कहलाता है और सम्यक्त्व-युक्त होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता है । यह ज्ञान, अज्ञान (मिथ्याज्ञान) के रूप में तब परिणत होता है, जब ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्व का उदय होता है । ज्ञानावरण का उदय होने के कारण यह ज्ञान, अज्ञान नहीं कहलाता वरन् मिथ्यात्व के उदय से ही यह अज्ञान कहलाता है । ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से ज्ञान तो होता है मगर मिथ्यात्व के उदय के कारण पदार्थों का ज्ञान विपरीत होता है । मिथ्यात्व के उदय से सीधी वस्तु भी उलटी मालूम होती है । उदाहरणार्थ—काच सफेद और स्वच्छ होने पर भी अगर काँच के सामने दूसरे रंग की कोई चीज रख दी जाये तो काँच भी उसी रंग का दिखाई देने लगता है । सफेद काँच अगर दूसरे रंग का दिखाई देता है तो इसमें काच का कोई दोष नहीं है, दोष

तो दूसरी चीज की उपाधि का है । इसी प्रकार ज्ञानाव-  
णीय कर्म का क्षयोपशम होने पर भी मिथ्यात्व के उदय के  
कारण सुलटी वस्तु भी उलटी जान पड़ती है और इसी  
कारण वह ज्ञान भी मिथ्याज्ञान कहलाता है ।

श्रुतज्ञान में सुनने की शक्ति है और मतिज्ञान में मनन  
करने की शक्ति है । इसी कथन पर यह प्रश्न किया जा  
सकता है कि शास्त्र में सभी ससारी जीवों को मतिज्ञान  
और श्रुतज्ञान का होना कहा है, किन्तु जिन जीवों के श्रोत्रे-  
न्द्रिय नहीं है, वे किस प्रकार सुन सकते हैं ? इस कथन  
का उत्तर यह है कि शास्त्र में दो प्रकार की इन्द्रिय कही  
गई है—(१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रिय । यह दोनों  
प्रकार की इन्द्रियाँ सभी जीवों को होती हैं । ससार में एक  
भी ऐसा जीव नहीं है जिसे द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय सर्वथा  
न हों । अतएव यहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान के विषय में जो कथन  
किया गया है वह भावेन्द्रिय जनित ज्ञान समझना चाहिए ।

केवलज्ञान स्थापना रूप है और श्रुतज्ञान सांख्यव्यवहारिक  
है । हम लोगों को श्रुतज्ञान से ही लाभ होता है । केवल-  
ज्ञानी सभी कुछ जान-देख लेते हैं, परन्तु वे जो कुछ देखते  
हैं, वह उपदेश में तो श्रुतज्ञान के रूप में ही परिणत होता  
है । और ऐसा होने के कारण ही केवलज्ञानी का दर्शन और  
ज्ञान दूसरों के लिए लाभकारी हो सकता है । इस प्रकार  
शेष चार ज्ञान श्रुतज्ञान के आश्रित हैं, अतः हमें श्रुतज्ञान  
प्राप्त करना चाहिए ।

यहाँ एक प्रश्न चर्चा का उत्पन्न होता है । वह यह  
है कि ज्ञान तो उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है और बुद्धि विक-  
सित होती जाती है, अतएव ज्ञान बढ़ने से पहले जो कुछ भी



देखने-जानने में आया था, वह क्या मिथ्या था ? इस कथन का उत्तर यह है कि पहले हृदय सरल हो और वस्तु का स्वरूप निष्कपटभाव से माना हो, तो फिर ज्ञान में वृद्धि होने पर भी पहले का ज्ञान मिथ्या नहीं है । अर्थात् ज्ञान की वृद्धि होने से पहले भी अगर समभाव मौजूद है तो ज्ञान अल्प होने पर भी मिथ्या नहीं, वरन् सम्यग्ज्ञान ही है । पहले का जानना भी ज्ञान था और बाद में जानना भी ज्ञान ही है, क्योंकि समभाव तो वही है जो पहले था । सम्यक्त्व द्वीन्द्रिय जीव में भी होता है, अतएव ऐसा नहीं समझना चाहिए कि अब ज्ञान बढ़ जाने से हम कुछ और ही देखने लगे हैं और पहले जो जानते थे वह अज्ञान था । बुद्धि के क्षयोपशम से आज जो वस्तु जिस रूप में दिखाई देती है, वह वस्तु बुद्धि का अधिक क्षयोपशम होने पर दूसरे रूप में दिखाई देती है, परन्तु समभाव तो वही का वही है । अतएव पहले का जानना-देखना भी ज्ञान में ही है—अज्ञान में नहीं । हृदय सम और सत्यमय होने के कारण जो कुछ देखा-जाना जाता है, वह अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है । सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के बीच का अन्तर जानने के लिए शास्त्र में कहा गया है:—

**माई मिच्छदिट्ठी, अमाई सम्मादिट्ठी ।**

अर्थात्—कपटभाव न रखना ही समभाव है और कपट रखना मिथ्यात्व है । अतएव किसी प्रकार मिथ्या विचार मन में न रखते हुए ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रसर रहना चाहिए ।

कहने का आशय यह है कि श्रुतज्ञान और मतिज्ञान दोनों परोक्ष हैं, किन्तु उपकारी श्रुतज्ञान ही है । सभी ज्ञान

श्रुतज्ञान के आश्रित हैं । इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य में सभी गुणों का समावेश हो जाता है । आत्मा जब सर्व-गुणसम्पन्न बन जाता है तब उसके लिये कुछ भी करना अवशेष नहीं रहता । जब आत्मा सब गुणों को प्राप्त करता है, तब जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी द्वारा महावीर भगवान् से पूछे गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जीवात्मा सर्वगुणसम्पन्न होने के कारण अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है । पूर्णता का फल पूर्ण ही मिलता है । कहा भी है:

पूर्णत् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

अपुनरावृत्ति हो जाने अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव हो जाने पर शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार के दुःख उत्पन्न नहीं होते । जो अपुनरावृत्त गति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, वह शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाता है । क्योंकि दुःखों का कारण शरीर और मन ही है और अपुनरावृत्त गति में न शरीर रह जाता है और न मन ही । अतएव मुक्तात्मा को शारीरिक और मानसिक दुःख भी नहीं सहन करने पड़ते ।

उपर्युक्त कथन से कोई यह न समझ बैठे कि एकैन्द्रिय जीव मनरहित है अतएव उसे दुःख नहीं होता । एकैन्द्रिय जीव के द्रव्यमन नहीं होता तो क्या हुआ, अध्यवसायरूप भावमन तो होता ही है । अतएव मन में सकल्प होने के कारण पैदा होने वाला दुःख एकैन्द्रिय जीव में भी होता है । दुःख मन में संकल्प के कारण ही उत्पन्न होता है ।

कुछ लोगों का कहना है—हमें अमुक प्रकार के दुःख

सहने पड़ते हैं परन्तु वे दुःख आये कहां से हैं । मन में सकल्प होने से ही तो वे उत्पन्न हुए हैं । अतएव मन में खराब सकल्पो को स्थान नहीं देना चाहिए । मन में से असत् सकल्पो को दूर करके मन को परमात्मा के ध्यान में पिरो देना चाहिए । ऐसा करने से दुःख के सस्कार ही समूल नष्ट हो जाएंगे । जब सस्कार ही समूल नष्ट हो जाएंगे तो फिर दुःख कहा से उत्पन्न होगा ? बीज के जल जाने पर वृक्ष किस प्रकार पैदा हो सकता है ?

इस प्रकार सेवा का फल परम्परा से मिलता है । जो समस्त दुःखों से मुक्त होना चाहता होगा वही वैयावृत्य-सेवा करेगा । सेवाधर्म स्वीकार करने से शाश्वत सुख की उपलब्धि होती है । सेवाधर्म का महत्त्व समझकर अपना जीवन सेवामय बनाओ और सर्व गुणों को प्राप्त करो । इसी में स्व-पर कल्याण है ।



# पँतालीसवां बोल

## वीतरागता

सर्वगुणसम्पन्नता शब्द आज सस्ता हो गया जान पड़ता है । आज चाहे जिस साधारण मनुष्य के लिए भी 'आप सर्वगुणसम्पन्न हैं' ऐसा कहा जाता है । परन्तु इस शब्द की महत्ता देखते हुए मालूम होता है यह शब्द चाहे जिसके लिए प्रयोग करने योग्य नहीं है । जो वास्तव में 'सर्वगुण-सम्पन्न' बन जाता है, उस मनुष्य के लिए फिर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता । जो वास्तव में सर्वगुणसम्पन्न बन जाता है, वह वीतराग बन जाता है । और इसी कारण सर्वगुणसम्पन्नता के अनन्तर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से वीतरागता के विषय में प्रश्न किया है ।

### मूलपाठ

प्रश्न—वीयरागयाए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वीयरागयाए ण नेहासु बधणाणि य, तण्हासु धंधणाणि य, वोच्छिदिय मणुण्णामणुण्णेसु सद्द-फरिस-रूव-रस-गंधेसु चेव विरज्जइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! वीतरागता से जीव को क्या लाभ

होता है ।

उत्तर--वीतरागता से स्नेह तथा तृष्णा के बधन छेद डालता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध, रूप, गंध, रस, स्पर्श आदि विषयो मे वैराग्य पाता है ।

### व्याख्यान

वीतरागता सभी वस्तुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बात प्रसिद्ध है, फिर भी यहा वीतरागता के फल के विषय में क्यो प्रश्न किया गया है ? वीतरागता के फल पर विचार करने से पहले इस प्रश्न का समाधान करना आवश्यक है । इस प्रश्न का समाधान यह है कि क्रिया का फल अवश्य मिलता है, यह बतलाने के लिए यह प्रश्न पूछा गया है । प्रत्येक क्रिया फलवती होती है । कोई भी क्रिया निष्फल नहीं जाती । मानो यही यही बात स्पष्ट करने के लिए यह प्रश्न किया गया है ।

जब सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त होती है तो वीतरागता आती ही है । और जब वीतरागता प्रकट होती है तो सर्वगुणसम्पन्नता भी होनी ही चाहिए । राग द्वेष की मौजूदगी मे सर्वगुणसम्पन्नता का प्राप्त होना जैनशास्त्र को मान्य नहीं है । संभव है, यह बात भी बतलाने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान से यह प्रश्न पूछा हो ।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है - हे गौतम ! जब आत्मा राग द्वेष से रहित होकर वीतरागभाव मे आता है, तब स्नेह और तृष्णा के कारण बधने वाले कर्मबधनो का विच्छेद हो जाता है । राग का और तृष्णा का पूर्ण रूप से विच्छेद वीतरागभाव उत्पन्न होने के

बाद ही हो सकता है। वीतराग बनने का मार्ग राग और तृष्णा का विच्छेद करने से ही सरल बनता है। तृष्णा और स्नेह का जितना-जितना विच्छेद होता जायेगा, आत्मा उतना ही उन्नत बनता जायेगा और जब तृष्णा तथा राग पूर्ण रूप से नष्ट हो जायेगा तो आत्मा वीतराग-अवस्था प्राप्त कर लेगा।

वीतरागता प्राप्त हो गई है, इस बात का पता केवल आध्यात्मिक भावरूप में ही नहीं चलता वरन् व्यावहारिक रूप में भी चल जाता है। जब इन्द्रियो के शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन पांचो विषयो को रूर्ण रूप से जीत लिया जाये तभी समझना चाहिए कि वीतरागता प्रकट हुई है। जब तक कोई वस्तु मनोज्ञ (पसन्द) या अमनोज्ञ (नापसन्द) मालूम होती है, तब तक आत्मा में राग-द्वेष की विद्यमानता समझनी चाहिए। जब न कोई वस्तु मनोज्ञ प्रतीत हो, न अमनोज्ञ प्रतीत हो, सब वस्तुओं में पूर्ण समभाव हो, तभी आत्मा में वीतरागता प्रकट हुई समझना चाहिए।

आत्मा में वीतरागता प्रकट हुई है या नहीं इस बात की जाच करने के लिये शास्त्रकारों से यह उपाय बतलाया है। जब इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ जान पड़े तब समझ लेना चाहिए कि आत्मा में अभी तक वीतरागता प्रकट नहीं हुई है और जब इन्द्रियो के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ न मालूम हों, विषम नहीं किन्तु सम प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि आत्मा में वीतरागता प्रकट हो गई है। वीतरागता प्रकट हुई या नहीं, यह बात जानने के लिए शास्त्रकारों ने यह थर्मामीटर बतलाया है।

इन्द्रियो के जो पांच विषय हैं, उनके सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त ऐसे तीन भेद किये गये हैं। यह तीन

भेद कहकर यह बतलाया है कि शब्द, रूप, रस आदि विषयों में से कोई भी विषय मनोज्ञ या अमनोज्ञ प्रतीत न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा में वीतरागता प्रकट हुई है ।

यहां प्रश्न हो सकता है कि शब्द आदि में सचित्त, अचित्त तथा सचित्ताचित्त का भेद किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव शब्द का अर्थ कहा जाये तो वह शब्द सचित्त है । अजीव शब्द कहा जाये तो वह अचित्त शब्द है और वशी शब्द कहा जाये तो वह सचित्ताचित्त शब्द है । इसी प्रकार रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि के भी तीन-तीन भेद हैं । इन तीनों भेदों के साथ वस्तु मनोज्ञ है या अमनोज्ञ है, इस प्रकार की मान्यता से निवृत्ति होना वीतरागता है ।

इस सम्बन्ध में अन्य प्रकार का तर्क भी किया जा सकता है । परन्तु आत्महितैषियों को किसी प्रकार के तर्क-वितर्क में न पड़कर ऐसा मानना चाहिए—

**महाजनो येन गतः स पन्थाः ।**

अर्थात् जिस मार्ग पर महापुरुष चले हैं, उसी मार्ग पर हमें चलना चाहिए और उसी पर चलने में हमारा कल्याण है ।

महापुरुषों द्वारा बतलाया मार्ग कौन-सा है ? इस विषय में एक बार बालगंगाधर तिलक तथा भाण्डारकर के बीच वादविवाद हुआ था । भाण्डारकर का कहना था कि जिस मार्ग पर महाजन-समुदाय चलता हो वही महाजन का मार्ग है । इसके विरुद्ध तिलक का कहना था कि जनसमुदाय में अधिकांश लोग असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं

और अप्रामाणिक व्यवहार करते हैं। तो क्या असत्य भाषण करना, चोरी करना और अप्रामाणिक रहना ही महाजनो का मार्ग होना चाहिए ? इसी प्रकार अधिकांश लोग भोगी हैं, त्यागी नहीं, तो क्या भोगी बनना ही महाजनो का मार्ग है ?

महाजन कौन है ? इस बात का निर्णय करने के लिये अगर ब्रह्मपुराण में ब्रह्मा का चरित्र देखा जाये तो उसमें बड़ी ही भयकरता दिखाई देती है। ब्रह्मा अपनी ही पुत्री पर मुग्ध हो गया था, यह भी उल्लेख पाया जाता है। अगर विष्णु का स्वरूप समझने के लिए विष्णुपुराण देखा जाये तो उसमें विष्णु की लीला का ऐसा वर्णन पाया जाता है कि उनकी लीला के मार्ग को यदि महाजन का मार्ग मान लिया जाये तो वैसी लीला करने वाला मनुष्य और अधिक पतित हो जायेगा। शिवचरित पर दृष्टिपात किया जाये तो शिवपुराण में शिव को श्मशानवासी कहा है। तो शिव का अनुकरण करके क्या सभी लोग श्मशानवासी बन जाए ? क्या यह संभव है ? महाजन का मार्ग तो ऐसा सुगम होना चाहिए कि इसे सभी लोग सरलतापूर्वक अपना सकें। अतएव यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किम व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को महाजन का मार्ग समझा जाये ? इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर यही हो सकता है कि जिस मार्ग पर चलने से बहु-जनसमाज का सच्चा कल्याण होता हो वही महाजन का मार्ग है। असत्य या अन्याय को अनेक लोगो ने भले ही अपनाया हो परन्तु वह मार्ग जन-समुदाय के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकता। इसलिए जिस मार्ग पर चलने से जनता का कल्याण होता हो वही



महाजन का निर्दिष्ट मार्ग है ।

यह तो तिलक और भाण्डारकर के वाद-विवाद की बात हुई । परन्तु मेरी दृष्टि से अठारह दोषों से रहित वीतराग का मार्ग ही महाजन का मार्ग है । हम लोग ऐसे वीतराग महापुरुष को ही महाजन और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग को ही महाजन का मार्ग कहते हैं । वीतराग के मार्ग पर चलने वाले का सदा कल्याण ही हुआ है । कभी अक-  
ल्याण नहीं हुआ ।

शास्त्रकारों का कथन है कि इन्द्रियो के विषय—  
शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श—चाहे भले हो या बुरे हो, उनके प्रति समभाव रहना चाहिए, विषमभाव नहीं । ऐसा होने पर समझना चाहिए कि वीतरागभाव आ गया है । सम-  
भाव का अर्थ यह नहीं है कि अमृत को विष और विष को अमृत मानना चाहिए और ऐसा मानकर उन्हें खा जाना चाहिए । परन्तु समभाव का अर्थ यह है कि चाहे अमृत हो चाहे विष हो पर दोनों के प्रति समभाव रखना चाहिए । समभाव रखने से विष भी अमृत और आग भी शीतल हो जाती है । सीता में समभाव होने के कारण ही अग्नि उसके लिए शीतल बन गई थी । मोरा के समभाव ने विष को भी अमृत के रूप में परिणत कर लिया था । इसी प्रकार तुम समभाव रखो और भक्तों की भाँति परमात्मा में प्रार्थना करो —

पुरुष वचन अति कठिन श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहोगो,  
विगत मान सम शीतल मन पर, गुण श्रवगुण न गहोंगो ।

अर्थात्—चाहे जैसे कठोर और कर्णकटु शब्द सुनाई

दें, परन्तु अगर तुममें समभाव होगा तो ज्ञानीजन कहते हैं कि तुम उन कठोर शब्दों को भी कर्णप्रिय बना सकोगे । अतएव समभाव रखो तो कल्याण ही होगा ।

वीतरागधर्म समभाव का विधान करता है । समभाव के द्वारा वीतरागभाव प्रकट होता है । अतएव हृदय में समभाव रख कर वीतरागभाव प्रकटाओगे तो स्व पर कल्याण-साधन कर सकोगे ।

राग और द्वेष, यह दोनों कर्म के बीज हैं । इन कर्म-बीजों को ससार का बीज भी समझना चाहिए, क्योंकि जब तक राग और द्वेष के बीज मौजूद हैं तब तक कर्म के अकुर फूटते ही रहते हैं और जब तक कर्म के अकुर फूटते रहते हैं तब तक ससार-वृक्ष फलता-फूलता रहता है । ससार के बधनों से मुक्त होने के लिए सर्वप्रथम राग-द्वेष के बधनों से मुक्त होना आवश्यक है । वीतराग और वीतद्वेष हुए बिना कोई मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता । जीवन को रागरहित बनाने के लिए शास्त्रकारों ने अनेक उपाय बतलाये हैं । सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन में बतलाये हुए ७३ बोल वीतराग और वीतद्वेष बनने के ही उपाय हैं । कपाय का त्याग करने से जीवन में वीतरागता प्रकट होती है, यह बात शास्त्र में स्पष्ट रूप से कही गई है । फिर भी इस पैतालीसवें बोल में यह प्रश्न किया गया है कि वीतरागता प्रकट होने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए टीकाकार कहते हैं—शास्त्र का यह ध्येय है कि शब्द बढ जाए तो भले ही बढ जाए, इसमें कोई हानि नहीं । पर शास्त्र की बात सब की समझ में आ जानी चाहिए । यह बात दृष्टि में रखकर ही शास्त्र में एक ही बात को विशेष

स्पष्ट करने के लिए दो-तीन बार कह देते हैं। ऐसा करने से पुनरुक्ति होती है परन्तु जनसमुदाय के लाभ के लिए की जाने वाली पुनरुक्ति दोष-पात्र नहीं गिनी जाती।

इसके अतिरिक्त कषाय का प्रश्न द्वेष-आश्रित है और वीतरागता का प्रश्न राग-आश्रित है। इस दृष्टि से विचार करने पर यहाँ पुनरुक्ति भी नहीं है।

शास्त्रकार का कथन है कि राग का त्याग करना जितना कठिन है, उतना कठिन द्वेष का त्याग करना नहीं है। इसी कारण मुक्तात्मा वीतराग कहलाते हैं, वीतद्वेष नहीं। क्योंकि द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग कठिन है और राग का त्याग तभी हो सकता है जब द्वेष का त्याग कर दिया जाये। सोने का त्याग करना जितना कठिन है, लोहे का त्याग करना उतना कठिन नहीं है। इसी प्रकार द्वेष की अपेक्षा राग का त्याग करना कठिन है। जिस प्रकार समभाव उत्पन्न होने से सोना और लोहा समान मालूम होता है, उसी प्रकार जीवन में समभाव प्रकट होने के बाद राग और द्वेष—दोनों का त्याग करना कठिन नहीं रह जाता। यद्यपि राग से भी पुण्योपार्जन हो सकता है, परन्तु जो आत्मा मुक्त होना चाहता है, वह न तो पुण्योपार्जन करना चाहता है और न पापोपार्जन करना चाहता है। वह तो पाप और पुण्य—दोनों को कर्म मान कर छोड़ना चाहता है। मोक्षाभिलाषी आत्मा को न किसी वस्तु पर राग करने की आवश्यकता है और न किसी पर द्वेष करने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ—मनुष्य जब गृहस्थावस्था में होता है तब वह लोहे का त्याग करके भले ही सोने का संग्रह करे; परन्तु जो साधु होना चाहता है उसके लिए दोनों ही—सोना

## १३८-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

भी और लोहा भी—त्याज्य हैं । इसी प्रकार जो मुक्त होना चाहता है वह मोक्षाभिलाषी आत्मा तो राग और द्वेष—दोनों का ही त्याग करता है । जिस प्रकार सोने का त्याग करना मुश्किल है और इसी कारण साधु महात्मा कचन—कामिनी के त्यागी कहलाते हैं, उसी प्रकार राग का त्याग करना भी मुश्किल है और इसी कारण राग-द्वेष के त्यागी को वीतराग कहते हैं ।

---

# छयालीसवां बोल

## क्षमा

पेतालीसवें बोल में वीतराग के फल के विषय में प्रश्न पूछा गया है । वह प्रश्न राग को दृष्टि में रखकर ही किया गया है । क्योंकि कषाय का सम्बन्ध राग-द्वेष के साथ है । जब तक जीवन में वीतरागभाव नहीं आता तब तक इष्ट-अशुभ, इष्ट-रस आदि से रागभाव नहीं छूटता । रागभाव का त्याग करने से जीवात्मा क्षमाशील बन जाता है । जीवन में जब वीतरागभावे प्रकट होता है, तब क्षमा का गुण भी प्रकट होता है । अतएव छयालीसवें बोल में गौतम स्वामी क्षान्ति (क्षमा) के विषय में प्रश्न पूछते हैं ।

## मूलपाठ

प्रश्न—खंतीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—खंतीए परीसहे जिणइ ॥४६॥

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

को जानते न हो । ऐसी सब बातें जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवों के हित के लिए ही उन्होंने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय में भगवान् से प्रश्न पूछा है । गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच के प्रश्नोत्तर को अगर तुम एकाग्रचित्त होकर सुनोगे तो इनमें रहे हुए रहस्य को समझ सकोगे । तुम जब अविक्षिप्त चित्त से शास्त्र की बात सुनोगे तो ही तुम्हें शास्त्रश्रवण का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा ।

क्षमा गुण में महान शक्ति विद्यमान है । परन्तु इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये पात्र बनने की आवश्यकता है । पात्र बने बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं की जा सकती । गुणों को धारण करने के लिए पात्रता प्राप्त करना चाहिए । आत्मा क्षमा द्वारा गुणों को ग्रहण करने का और गुणों को धारण करने का पात्र बनता है । इसीलिए श्री दशवैकालिक-सूत्र में कहा है:—

**पुद्गलसमा मुणी हवेज्जा ।**

अर्थात् हे मुनि ! तुम पृथिवी के समान बनो ।

मुनियों को पृथिवी के समान बनने के लिए क्यों कहा गया है ? इसलिए कि पृथ्वी सब को आधार देती है । ससार में एक भी वस्तु ऐसी नहीं, जो पृथ्वी का आधार लिये बिना टिक सकती हो । पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को आधार देती है । इसी प्रकार क्षमा भी प्रत्येक छोटे-बड़े गुणों को आधार देती है । क्षमा के बिना आत्मा में कोई भी गुण नहीं टिक सकता । मोक्ष के मार्ग पर चलने में क्षमा पाथेय के समान तो है ही, परन्तु ससार-व्यवहार में भी क्षमा की अत्यन्त आवश्यकता है । जो मनुष्य सहनशील-क्षमाशील नहीं होता, उसमें व्यावहारिक गुण भी नहीं टिक सकते ।

तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अतः इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हें क्षमाशील और सहनशील रहना ही पड़ता है। जब व्यवहार में भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणों को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सदगुणों को अपने आत्मा में स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द होस्याम्पद बन गया है। कितने-कितने लोग क्षमा को निर्बलों का शस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'क्षमा' निर्बलों का नहीं, बलवान् सबलों का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषों का भूषण है। कायर पुरुषों ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषों ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शस्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नहीं सकते। इसी कारण कहा गया है: 'क्षमा पटुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहाँ गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो वहाँ आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नहीं सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषों के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा में प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं क्षमा का फल क्या है? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल

उत्तर—क्षमा द्वारा जीव परिपहो पर विजय प्राप्त करता है ।

### व्याख्यान

क्षान्ति का अर्थ है—क्षमा । क्षमा धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने पूछा है । इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि परिपहो पर विजय पाना क्षमा कहलाता है ।

क्षमा धारण करना और परिपहो को जीतना—इन दोनों का वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी दोनों का लक्ष्यार्थ एक ही है । क्षमा अर्थात् समतापूर्वक परिपहो को जीतना और परिपहो को समभाव से सहन करना अर्थात् क्षमा रखना । इस प्रकार क्षमा और परिपह जय का अविनाभाव सवध है । यह तो क्षमा के सामान्य अर्थ पर विचार किया गया । परन्तु यहाँ विचारणीय यह है कि क्षमा को साधु के दम प्रकार के घर्मों में प्रथम स्थान किस कारण दिया गया है ? भगवान् ने क्षमा को इतना महत्व क्यों दिया है ?

राग और द्वेष जीत लिये गये हैं या नहीं, इसकी जाच करने की कसौटी क्षमा है । जब मनुष्य राग-द्वेष का जीत लेता है तभी वह साधुपन पालने योग्य होता है । राग-द्वेष को जीते बिना साधुता की प्रवृत्ति तो जीवात्मा ने चिर-काल तक की होगी, परन्तु यह प्रवृत्ति लाभदायक तभी हो सकती है, जब राग और द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली जाये ।

क्षमा के द्वारा ही राग द्वेष जीते जा सकते हैं । सब गुणों में क्षमागुण प्रधान है । जब तक राग-द्वेष को जीतकर क्षमा गुण न धारण किया जाये तब तक दूसरे कोई सद्-



तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अतः इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हें क्षमाशील और सहनशील रहना ही पड़ता है। जब व्यवहार में भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणों को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सदगुणों को अपने आत्मा में स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द होस्यास्पद बन गया है। कितने-नेक लोग क्षमा को निर्बल का शस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'क्षमा' निर्बल का नहीं चरन् सबल का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषों का भूषण है। कायर पुरुषों ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषों ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शस्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नहीं सकते। इसी कारण कहा गया है: 'क्षमा पटुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहाँ गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो वहाँ आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नहीं सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषों के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा में प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं क्षमा का फल क्या है? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल

को जानते न हो । ऐसी सब बातें जानते हुए भी सिर्फ जगत् के जीवों के हित के लिए ही उन्होंने क्षमा से होने वाले लाभ के विषय में भगवान् से प्रश्न-पूछा है । गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच के प्रश्नोत्तर को अगर तुम एकाग्रचित्त होकर सुनोगे तो इनमें रहे हुए रहस्य को समझ सकोगे । तुम जब अविक्षिप्त चित्त से शास्त्र की बात-सुनोगे तो ही तुम्हें शास्त्रश्रवण का यथार्थ लाभ प्राप्त हो सकेगा ।

क्षमा गुण में महान शक्ति विद्यमान है । परन्तु इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये पात्र बनने की आवश्यकता है । पात्र बने बिना कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं की जा सकती । गुणों को धारण करने के लिए पात्रता प्राप्त करना चाहिए । आत्मा क्षमा द्वारा गुणों को ग्रहण करने का और गुणों को धारण करने का पात्र बनता है । इसीलिए श्री दशवैकालिक-सूत्र में कहा है. —

**पुढवीसमा मुणी हवेज्जा ।**

अर्थात् हे मुनि ! तुम पृथिवी के समान बनो ।

मुनियों को पृथिवी के समान बनने के लिए क्यों कहा गया है ? इसलिए कि पृथ्वी सब को आधार देती है । ससार में एक भी वस्तु ऐसी नहीं, जो पृथ्वी का आधार लिये बिना टिक सकती हो । पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को आधार देती है । इसी प्रकार क्षमा भी प्रत्येक छोटे-बड़े गुणों को आधार देती है । क्षमा के बिना आत्मा में कोई भी गुण नहीं टिक सकता । मोक्ष के मार्ग पर चलने में क्षमा पाथेय के समान तो है ही, परन्तु ससार-व्यवहार में भी क्षमा की अत्यन्त आवश्यकता है । जो मनुष्य सहनशील-क्षमाशील नहीं होता, उसमें व्यावहारिक गुण भी नहीं टिक सकते ।

तुम अहमदाबाद में पैसा कमाने आये हो, अतः इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए तुम्हें क्षमाशील और सहनशील रहना ही पड़ता है। जब व्यवहार में भी इस प्रकार की क्षमा और सहनशीलता की आवश्यकता रहती है तो फिर आध्यात्मिक गुणों को टिकाये रखने के लिए क्षमा की आवश्यकता रहना स्वाभाविक ही है। अतएव सद्गुणों को अपने आत्मा में स्थान देने के लिए प्रत्येक आत्महितैषी को सहनशील और क्षमावान् बनना चाहिए।

आजकल 'क्षमा' शब्द होस्याम्पद बन गया है। कितनेक लोग क्षमा को निर्बलो का शस्त्र मानते हैं तो कुछ लोग उसे कायरता का चिह्न समझते हैं। परन्तु वास्तव में 'क्षमा' निर्बलो का नहीं वरन् सबलो का अमोघ शस्त्र है और वीर पुरुषों का भूषण है। कायर पुरुषों ने अपनी कायरता के कारण क्षमा को लजाया है, परन्तु सच्चे वीर पुरुषों ने क्षमा को अपनी मुकुटमणि बना कर सुशोभित किया है। क्षमा सबलों का शस्त्र है। कायर लोग क्षमाबल का उपयोग कर ही नहीं सकते। इसी कारण कहा गया है 'क्षमा पटुस्स' अर्थात् समर्थ पुरुष ही क्षमा धारण कर सकते हैं।

क्षमा आध्यात्मिक शब्द है। जहाँ गौतम स्वामी जैसे प्रश्नकर्त्ता और भगवान् महावीर सरीखे उत्तरदाता हो वहाँ आध्यात्मिक बात के सिवाय दूसरी बात हो ही नहीं सकती। ऐसे जगदुद्धारक महापुरुषों के प्रश्नोत्तर आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। जैसे कोई भोला बालक सादी भाषा में प्रश्न पूछता है, उसी प्रकार गौतम स्वामी, भगवान् से सीधी-सादी भाषा में पूछ रहे हैं क्षमा का फल क्या है? गौतम स्वामी के इस सरल प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सरल

भाषा में उत्तर दिया—क्षमा धारण करने से जीव परिषहों को जीत सकता है ।

भगवान् ने परिषहों की बात कही है । मगर हमें सर्व-प्रथम यह जान लेना चाहिए कि परिषहों का अर्थ क्या है ? परिषह की व्याख्या करते हुए कहा गया है—परि-समन्तात् सहति इति परिषहः ।' अर्थात् सम्यक् प्रकार से कष्टों को सहन करना परिषह है । अज्ञानपूर्वक तो बहुत से लोग कष्ट सहन करते हैं, परन्तु उसकी गणना परिषह में नहीं की जाती । परिषह में उन्हीं कष्टों की गणना की जाती है जो ज्ञानपूर्वक सहन किये जाते हैं । ज्ञानपूर्वक कष्ट सहन तभी हो सकता है जब क्षमा विद्यमान हो । क्षमा धारण किये बिना सम्यक् प्रकार से कष्ट सहन नहीं हो सकता । श्री उत्तराध्यायन के द्वितीय अध्याय में परिषह के बाईस भेद बतलाये गये हैं और उनके विषय में सुन्दर विवेचन किया गया है । परिषह के बाईस प्रकार इस तरह हैं—(१) क्षुधा का परिषह (२) पिपासा (प्यास) का परिषह (३) शीत का परिषह (४) ताप का परिषह (५) ड्रास-मच्छर का परिषह (६) अवस्त्र का परिषह (७) अरति (अप्रीति) का परिषह (८) स्त्री का परिषह (९) चर्या-गमन का परिषह (१०) बैठक का परिषह (११) आक्रोश-वन्दन का परिषह (१२) वध का परिषह (१३) शैया का परिषह (१४) याचना का परिषह (१५) अलाभ का परिषह (१६) रोग का परिषह (१७) तृणस्पर्श का परिषह (१८) जल-मैल का परिषह (१९) सत्कार-पुरस्कार अर्थात् माना-पमान का परिषह (२०) प्रज्ञा-बुद्धि का परिषह (२१) अज्ञान का परिषह (२२) अदर्शन का परिषह ।

उपर्युक्त परिषहों में क्षुधा का परिषह सब से पहला है । भूख के दुःख को सम्यक् प्रकार से सहन करना क्षुधा परिषह है । ससार में भूख के दुःख से व्याकुल होकर लोग ऐसी चीज भी खा लेते हैं, जिसके देखने मात्र से दूसरों को घृणा उत्पन्न होती है । क्षुधा का दुःख न सह सकने के कारण ही लोग अपने प्राणप्रिय बालक को भी मार कर खा जाते हैं, ऐसा सुना जाता है । इस प्रकार क्षुधा का परिषह सब से विकट है । महान् तपस्वी तथा क्षमाशील पुरुष ही क्षुधा परिषह को समतापूर्वक सहन कर सकते हैं । क्षुधा परिषह को जीतने के लिए शास्त्रकार खाने की मनाई नहीं करते । खाने की मनाई करने का फलितार्थ होगा मरने के लिए कहना । क्योंकि जो भोजन करता ही नहीं अथवा जिसने भोजन का त्याग किया है, वह भूखा कितने दिन रहेगा ? किसी अवधि के बाद तो उसे मरण-शरण होना ही पड़ेगा । इसलिए शास्त्रकार यह नहीं कहते कि 'तुम खाओ ही नहीं' अथवा 'भोजन का सर्वथा त्याग कर दो ।' शास्त्रकार यह कहते हैं कि क्षुधा को जीतो और क्षमा द्वारा क्षुधा परिषह पर विजय प्राप्त करो और यह समझो कि 'मैं जो कुछ खाता हूँ सो इस शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए ही खाता हूँ ।' जैसे गाड़ी चलाने के लिए पहिये के चक्र में तेल लगाया जाता है, उसी प्रकार मैं इस शरीर रूपी गाड़ी को चलाने के लिए उदर रूपी चक्र में भोजन रूपी तेल लगाता हूँ । ऐसा विचार करके इतना ही परिमित भोजन करना चाहिए जिससे शरीर-चक्र बराबर काम देता रहे ।

मुनिजन किस उद्देश्य से भोजन करते हैं, यह बात चताने के लिये शास्त्र में एक छोटा-सा दृष्टान्त दिया गया

है । जिस प्रकार गृहस्थ अपने घर के पास के गड्हे को सुखपूर्वक आवागमन करने के उद्देश्य से पूर देता है, उसी प्रकार मुनिजन उदर रूपी गड्हे को सयम रूपी गाड़ी चलाने के लिये ही भरते हैं । इस तरह जो मुनि सयम के निर्वाह के लिए ही भोजन करता है वह क्षमा द्वारा क्षुत्परिषह को सहन कर सकता है । मुनियो में कौसी क्षमा होती है, यह तो उनके आचार-विचार से ही जाना जा सकता है । जब मुनि भिक्षाचर्या के लिए जाते हैं तब कितनेक लोग कर्णकटु शब्द कहते हैं, लेकिन क्षमाशीलमुनि उन कर्णकठोर शब्दों का समताभाव के साथ सहन कर लेते हैं । सच्चे साधु को न भोजन देने वाले पर राग होता है और न कटु शब्द कहने वाले पर द्वेष ही होता है । चक्रवर्ती राजा भी छह खड्ग के वैभव का त्याग करके साधुता अंगीकार करता है और घर-घर भिक्षा के लिए जाता है । तब उस मुनि को भी कोई कहता है—‘राज्य भोगते-भोगते भिक्षा मागने की मन में आई है ! साधुपना निकम्मा है ।’ इत्यादि । इससे विचारीन कोई साधुवृत्ति को प्रशंसा करके उसके पैरों में गिरता है । तब शास्त्र कहता है—‘हे मुनि ! तुम किसी के प्रति रागद्वेष मत करो । कटुक शब्द कहने वाले या निंदा करने वाले पर द्वेष न करना और प्रशंसा करने वाले पर राग न करना ही साधु का लक्षण है ।’ इस प्रकार निंदा-प्रशंसा के शब्द सुनने पर भी राग-द्वेष मन में न आने देना क्षमा का ही प्रताप है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्षमा के द्वारा परिषह जीत लेने से आत्मा की कौसी अवस्था होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लौकिक विजय प्राप्त करने से जैसी प्रसन्नता होती है और जिस प्रकार के आनन्द का

अनुभव होता है, वैसी ही प्रसन्नता और वैसा ही आनन्दा-  
नुभव क्षमा द्वारा परिषद् को जीत लेने पर होता है। लौकिक  
विजय की अपेक्षा यह लोकोत्तर विजय महान है। अतएव  
लौकिक विजय के आनन्द की अपेक्षा लोकोत्तर विजय का  
आनन्द अधिक होता है। यह बात स्पष्ट करने के लिए एक  
उदाहरण दिया जाता है।

मान लीजिये, एक योद्धा शत्रु पर विजय प्राप्त करके  
किसी महात्मा के पास गया। वह योद्धा महात्मा को ध्यान  
में मग्न देखकर कहने लगा—महात्मन् ! आप तो घर में ही  
घुसे रहकर ध्यान में मग्न रहते हो और कोई पराक्रम नहीं  
दिखलाते, मगर हम तो शत्रुओं के मध्य में जाकर उनके  
शस्त्र-अस्त्र के प्रहार और आघात सहन करते हैं और शत्रुओं  
को परास्त करके उन पर विजय प्राप्त करते हैं। अब आप  
ही बतलाइये कि ऐसी स्थिति में वास्तव में महान् कौन है ?  
हम बड़े या आप ?

तुम्हें इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए कहा जाये तो  
तुम किसे महान् कहोगे ? महात्मा को महान् कहोगे या  
विजयी योद्धा को महान् कहोगे ? इस विषय में शास्त्र तो  
स्पष्ट रूप से कहता है—

जो सहस्रं सहस्राणं संगामे दुज्जए जिणे ।

एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस से परमो जज्जो ॥

उत्तराध्ययन, ६ अ०

अर्थात् - दस लाख सुभटों को दुर्जय संग्राम में जीतने  
की अपेक्षा एक मात्र आत्मा को जीतना अधिक उत्तम है  
और यही श्रेष्ठ विजय है। यही बात अधिक स्पष्ट करने के  
लिए शास्त्रकार आगे कहते हैं—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झमो ।  
अप्पणामेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

--उत्ता० अ० ६ गा० ३५

अर्थात्--आत्मा के साथ युद्ध करो । बाहरी युद्ध में क्या रखा है ! शुद्ध आत्मा द्वारा दुष्ट प्रकृति वाली आत्मा को जीतकर ही सुख प्राप्त किया जा सकता है । दुर्जय आत्मा को किस प्रकार जीत सकते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं:—

पंचिदियाणि कोह माणं मायं तहेव लोहं च ।  
दुज्जय चेव अप्पाण, सव्व अप्पे जिये जिय ॥

उत्ता० अ० ६ गा० ३६

अर्थात्--पाच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया और लोभ तथा दुर्जय आत्मा को जीतना ही उत्तम है । क्योंकि आत्मा को जीत लिया तो सभी को जीत लिया

मुमुक्षु आत्मा बाह्य युद्ध की अपेक्षा कर्मशत्रुओं को परास्त करने के लिए आन्तरिक युद्ध करना ही पसंद करते हैं । क्योंकि बाह्य युद्धों की विजय क्षणिक होती है और परिणाम में परिताप ही उपजाती है । इस विजय से बाह्य युद्धों की परम्परा का जन्म होता है और कभी युद्ध से विराम नहीं मिलता । साथ ही इस वासना के कारण ही अनेक जन्म लेने पड़ते हैं । अतएव बाह्य शत्रुओं को उत्पन्न करने वाले भीतरी-हृदय में घुसे हुए शत्रुओं का नाश करने के लिए प्रयास करना ही मुमुक्षु का कर्तव्य है ।

सच्चा जैन निरन्तर जीवनसंग्राम में सलग्न रहता है । वह कायर बन कर घर में नहीं बैठा रहता । वह हाथ में



क्षमा रूपी खड्ग लेकर कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त करके अपना जैनत्व चमकाता है। जैन होकर भी कायर बन कर बैठ जाने से और आन्तरिक शत्रुओं को परास्त करने का प्रयत्न न करने से जैनत्व की शोभा घटती है। प्राचीनकाल के जैन जैनत्व की रक्षा के लिए प्राण भी अर्पण कर देते थे, मगर जैनत्व को तनिक भी फीका नहीं पड़ने देते थे। आजकल कायरता के कारण जैनो का जैनत्व फीका पड़ गया है। इसी कारण वीरोचित अहिंसा, क्षमा आदि को भी निर्बलता का चिह्न समझा जाता है। वास्तव में अहिंसा या क्षमा निर्बलो के शस्त्र नहीं हैं। यह तो वीर पुरुषों के शस्त्र हैं। तलवार चाहे जितनी तीखी धार वाली क्यों न हो, अगर वह कायर के हाथ में जाती है तो निकम्मी हो जाती। वही तलवार जब किसी वीर पुरुष के हाथ आती है तो अपने जोहर दिखलाती है। इसी प्रकार अहिंसा और क्षमा के शस्त्र कायरों के हाथ पड़कर निष्फल साबित होते हैं और वीर पुरुषों के हाथ लग कर अमोघ शस्त्र सिद्ध होते हैं। यह सचाई आज प्रत्यक्ष अनुभव की जाती है। जैन लोग अगर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना चाहते हों तो उन्हें अपने जैनत्व को तेज प्रकट करना चाहिए। जैनों का जैनत्व, क्षत्रियों के क्षत्रियत्व से जरा भी हल्का नहीं है। बल्कि जैनत्व में अहिंसक क्षात्रत्व होने के कारण वह अधिक तेजस्वी है। जैन अर्थात् विजेता। सच्चा विजेता वही है जो कर्मशत्रुओं के साथ सदैव जीवनसंग्राम लड़ता है। वह किन-किन शस्त्रों द्वारा अहिंसक युद्ध लड़ता है, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

सद्धं नगरं किच्चा तच्चसवरमंगल ।

क्षति निष्ठणपागार तिगुत्तं दुप्पधसयं ॥

घणुं परक्कमं किच्चा जीव च इरियं सया ।

धिइ च केयणं किच्चा सच्चेण पलिमथए ॥

तव-नारायजुत्तेण भित्तूण कम्मकंचुयं ।

मुणी विगयसंगामो भवाओ परिमुच्चई ॥

—उत्तरा० अ० ६ गा० २०-२१-२२ ।

अर्थात्—श्रद्धा (सत्य पर अडिग विश्वास) रूपी नगर, तप-सवर रूपी आगल, क्षमा रूपी सुन्दर गढ, तीन गुप्ति ( मन, वचन, काय का नियमन ) रूपी दुःप्रघर्ष ( दुजय शतधनी-शस्त्रविशेष ), पराक्रम रूपी घनुष, ईर्या ( यतना-पूर्वक गमन ) रूपी डोरी और घैर्य रूपी बाण यानि तोर बना कर सत्य-चिन्तन करना चाहिए । क्योंकि तपश्चर्या रूपी बाणो से युक्त मुनि, कर्म को भेद कर सग्राम मे विजय प्राप्त करता है और ससार से मुक्त हो जाता है ।

ऊपर की गाथाओ मे शास्त्रकार ने यह बतलाया है कि सत्याग्रह-सग्राम अहिंसक होने पर भी कितना विजयशील होता है । आजकल होने वाले हिंसात्मक युद्धो मे लाखो-करोडो मनुष्यो का सहार होता है और युद्धभूमि रक्तरजित हो जाती है । फिर भी नहीं कहा जा सकता कि विजय किसे प्राप्त होगी ? भौतिक युद्ध मे हिंसा होती है, राग-द्वेष बढ़ते है और फलस्वरूप जगत मे अशान्ति का साम्राज्य फैल जाता है । परन्तु इस अहिंसक सग्राम मे किसी का एक वृन्द भी रक्त नहीं गिरता, सुखशान्ति का प्रसार होता है, क्लेश नहीं बढ़ता और जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत होता है । यह सब अहिंसा देवी और क्षमा माता का ही प्रताप है । आज भी अगर थोड़ी-बहुत सुखशान्ति का अनुभव होता है तो

उसका अधिकोश श्रेय अहिंसा तथा क्षमा देवी के ही हिस्से में जाता है । जगत् में अहिंसा और क्षमा का अस्तित्व न रहे तो जगत् की शान्ति सर्वथा अदृश्य हो जाये । आजकल भी अहिंसा-क्षमा आदि आध्यात्मिक गुणों के कारण ही शान्ति का अनुभव होता है ।

हिंसा के प्रयोग से अथवा हिंसक अस्त्र-शस्त्रों से प्राप्त की जाने वाली विजय सदा के लिए स्थायी नहीं रहती । प्रेम और अहिंसा द्वारा हृदय में परिवर्तन करके जनसमाज के हृदय पर जो प्रभुत्व स्थापित किया जाता है, वही सच्ची और स्थायी विजय है कहा भी है: -

न हि चेरेण वेराणि समन्तीध कदाचन ।

अर्थात् वैर का बदला वैर से लेने पर जगत् में कभी वैर घट नहीं सकता । उलटा वैर बढ़ता है । वैर की शान्ति तो अवैर से होती है । प्रेम के द्वारा ही दूसरों के हृदय पर प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है । यह सच्ची और स्थायी विजय है और ऐसी सच्ची एवं स्थायी विजय प्राप्त करना ही जैनधर्म या सनातनधर्म है ।

लाखों सुभटों को जीतने की अपेक्षा एक दुर्जय आत्मा को जीतना अधिक कठिन है । आत्मा वास्तव में दुर्दम है । जो महापुरुष आत्मा को जीतकर जितेन्द्रिय और जितात्मा बन जाता है, वह बदनीय हो जाता है । अतः आत्महितैषी को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को अपने अधीन बनाने का प्रयत्न करे । शास्त्र में कहा भी है:—

अप्पा चेव दमेयञ्चो अप्पा हु खलु दुदमो ।

अप्पा दतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ या ॥

अर्थात्—आत्मा ही वास्तव में दमन करने योग्य है, क्योंकि आत्मा दुर्दम है। जो दुर्दम आत्मा का दमन करते हैं वे इस लोक में भी सुखी होते हैं और परलोक में भी।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने जितात्मा बनने और आत्म-विजय प्राप्त करने की ही प्रशंसा की है। आत्मविजय में ही समस्त विजयों का समावेश हो जाता है। आत्मविजयी जितात्मा लाखों योद्धाओं को जीतने वाले योद्धा की अपेक्षा अधिक विजयी गिना जाता है। जितात्मा की ही सर्वत्र पूजा होती है और इसी कारण सम्राट् की अपेक्षा परिक्राट् की पदवी ऊँची मानी गई है।

सुभट की अपेक्षा साधु और सम्राट् की अपेक्षा परिक्राट् इसीलिए वदनीय और पूजनीय है कि एक तो क्षेत्र विजय प्राप्त करता है और दूसरा क्षेत्री पर जयलाभ करता है। क्षेत्र या शरीर पर प्रभुत्व जमा लेना कोई बड़ी बात नहीं है। परन्तु क्षेत्री अर्थात् आत्मा पर विजय पा लेना अत्यन्त ही कठिन है।

इस प्रकार सुभटों पर विजय पाना सरल है। मगर काम-क्रोध आदि को जीतना बड़ा ही कठिन कार्य है। कहा जाता है कि लक्ष्मण ने रावण को पराजित किया था, परन्तु वास्तव में रावण किससे पराजित हुआ? रावण लक्ष्मण से नहीं वरन् काम से पराजित हुआ था। रावण ने सब को जीत लिया था मगर काम को वह नहीं जीत सका था और इसी कारण उसकी पराजय हुई। इस प्रकार सुभटों को जीतना बहुत कठिन नहीं है किन्तु काम को जीतना अत्यन्त कठिन है। जिस काम ने रावण जैसे वलिष्ठ पृथ्वीपति को पराजित कर दिया, उस काम को जीत लेना हँसी-खेल नहीं

है । वास्तव में जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, मर्द, मत्सर आदि विकारों पर विजय पा लेता है, वह महात्मा-महापुरुष है ।

हमने क्रोध को जीता है या नहीं, यह बात कैसे मालूम हो ? कितने ही लोग ऊपर से तो शान्त तथा क्षमाशील प्रतीत होते हैं किन्तु ऊपर से शान्त रहने मात्र से ही यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने क्रोध को जीत लिया है । जब आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाये, तभी मानना चाहिए कि क्रोध काबू में आ गया है । क्रोध को जीत लेने के बाद आत्मा शान्त तथा शीतल बन जाता है । क्रोध किम प्रकार जीता जा सकता है, यह बात महाभारत की एक कथा द्वारा समझाने का प्रयत्न किया जाता है

सौ कीरव और पाँच पाँडव एक ही जगह और एक ही आचार्य से अभ्यास करते थे । सब राजकुमारों में युधिष्ठिर पढ़ने में मन्द गिने जाते थे । शिक्षक युधिष्ठिर पर बहुत नाराज भी होते थे और उपालभ देते थे - तू सब राजकुमारों में बड़ा है, भविष्य में राज्याधिकारी होने वाला है, फिर पढ़ने में दत्तचित्त न होना क्या तुम्हें शोभा देता है ? गुरु का यह उपालभ युधिष्ठिर नम्रतापूर्वक सहन कर लेते थे और शिष्टतापूर्वक उत्तर देते थे कि आपकी तो मुझ पर कृपा है परन्तु मेरी बुद्धि मन्द है । अतएव मुझे याद नहीं रहता । गुरु ने कहा अगर तुम बराबर अभ्यास नहीं करोगे तो मुझे उपालभ मिलेगा । मुझे उपालभ से बचाने के लिए अभ्यास करो तो अच्छा है । युधिष्ठिर बोले—आप उपालभ के पात्र नहीं बनेगे । मैं पढ़ता नहीं हूँ तो इसमें आपका क्या दोष है ? दोष तो मेरी मन्द बुद्धि का है और इसके

लिए स्वयं मैं ही उपालभ का पात्र हूँ ।

एक दिन सब राजकुमारों के अभ्यास की परीक्षा लेने के लिए पांडु राजा ने एक परीक्षक भेजा । परीक्षा ली जाती है तो होशियार छात्रों को आगे और मन्द छात्रों को पीछे रखा जाता है । इस पद्धति के अनुसार युधिष्ठिर सब राजकुमारों में बड़े और राज्य के उत्तराधिकारी होने पर भी, पढ़ने में कमजोर होने के कारण सब से पीछे खड़े किये गये । इस पर युधिष्ठिर को क्रोध आना स्वाभाविक था, परन्तु उन्हें क्रोध नहीं आया । उन्होंने सोचा—मैं पढ़ने में मन्द हूँ और इस कारण पीछे रखना ही ठीक है ।

परीक्षक परीक्षा लेने आया । सब राजकुमारों को देखने के बाद परीक्षक ने शिक्षक से कहा—युधिष्ठिर सब से बड़ा है, फिर भी उसे सब से पीछे क्यों रखा है ?

शिक्षक ने कहा—युधिष्ठिर अभ्यास करने में बहुत मन्द है और इसी कारण उसे पीछे रखा है ।

परीक्षक ने युधिष्ठिर की परीक्षा लेते हुए प्रश्न किया—तुमने क्या सीखा है ?

युधिष्ठिर—अभी सयुक्त अक्षर सीख रहा हूँ और वाक्य बनाने का अभ्यास करता हूँ ।

यह सुनकर परीक्षक ने कहा—इतने बड़े हो गये हो और इतने वर्ष पढ़ते-पढ़ते हो गए हैं फिर भी अब तक वाक्य बनाना नहीं आता । ठीक बताओ कि तुम क्या सीखे हो ?

पहले भारतवर्ष में संस्कृत भाषा प्रचलित थी । लोग संस्कृत भाषा सीखते थे । आज तो संस्कृत भाषा का स्थान अंग्रेजी भाषा ने लिया है और संस्कृत भाषा को लोग Dead

Language अर्थात् मृतभाषा कहते हैं । अंग्रेजी भाषा जानने वाले को अच्छी नौकरी मिलेगी, ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग उसे सस्कृत भाषा की अपेक्षा अच्छी और समृद्ध भी मानते हैं किन्तु यह मान्यता भ्रमपूर्ण है । अपनी मातृ-भाषा की बेकद्री करना और विदेशी भाषा की कद्र करना भूल है । तुम्हारे हृदय में अपनी माता का स्थान ऊँचा है या दासी का ? अगर तुम्हारे हृदय में माता के लिए उच्च स्थान है तो मातृ भाषा के लिए भी ऊँचा स्थान होना चाहिए । मातृभाषा माता के स्थान पर है और विदेशी भाषा दासी के स्थान पर । दासी कितनी ही सुरुपवती और सुघड़ क्यों न हो माता का स्थान कदापि नहीं ले सकती ।

प्राचीन समय में इस देश में सस्कृत भाषा प्रचलित थी और इसी भाषा में शिक्षा दी जाती थी । आज की तरह उस समय विदेशी भाषा का महत्व या प्रभुत्व नहीं था । अतएव युधिष्ठिर ने सस्कृत भाषा में, अपनी पट्टी पर 'कोप मा कुरु' अर्थात् क्रोध मत करो, ऐसा लिख रखा था ।

युधिष्ठिर की पाटी पर लिखा हुआ यह वाक्य पढ़कर परीक्षक ने कहा—'बस, इतना ही आता है ?'

युधिष्ठिर—अभी तो इतना भी ठीक तरह नहीं आता ।

परीक्षक—(क्रुद्ध होकर) इतना भी अभी याद नहीं हुआ ?

युधिष्ठिर—बाहर से तो इतना लेख याद हो गया है, परन्तु अन्दर से याद नहीं हुआ ।

यह सुनकर परीक्षक और अधिक कुपित हो गया, उसने क्रोध में आकर युधिष्ठिर को मारना आरम्भ किया । यद्यपि

युधिष्ठिर राजपुत्र था और चाहता तो परीक्षक को उचित दंड दिला सकता था; परन्तु उसने क्रोध का उत्तर क्रोध से नहीं वरन् शान्ति से दिया। अर्थात् युधिष्ठिर पूर्ववत् प्रसन्नचित्त ही बना रहा। युधिष्ठिर को मार खाने के बाद भी प्रसन्नचित्त बैठे देखकर परीक्षक ने शिक्षक से कहा—'कैसा है यह कि मारने पर भी प्रसन्न दिखाई देता है !' शिक्षक ने कहा—'युधिष्ठिर की ऐसी ही प्रकृति है। ऐसी प्रकृति वाले को पढ़ाया भी कैसे जाये !' परीक्षक ने युधिष्ठिर से पूछा—'तुम्हें इतना पीटा गया, फिर भी तुमने क्रोध नहीं किया। इससे तो यह जान पड़ता है कि तुम पाटी पर लिखे वाक्य को अमल में ला रहे हो ! इस कथन के उत्तर में युधिष्ठिर ने बतलाया—अभी मैं इस वाक्य को सिद्ध नहीं कर सका हूँ। मैं ऊपर से तो क्रोध नहीं कर रहा था मगर भीतर ही भीतर मुझे क्रोध आ रहा था। मैं मन में यह सोच रहा था कि मुझे मारने वाला यह होता कौन है ? अर्जुन और भीम सरीखे बलवान् मेरे भाई हैं और भविष्य में मैं राज्याधिकारी होने वाला हूँ; फिर मुझे पीटने वाला यह होता कौन है ? इस प्रकार मेरे हृदय में क्रोध की अग्नि भड़की थी। अतएव अभी मैं 'कोप मा कुरु' इस वाक्य को सिद्ध नहीं कर सका हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं इसे सिद्ध कर सकूँ !

युधिष्ठिर के यह नम्र वचन सुनकर परीक्षक गद्गद हो गया और कहने लगा—युधिष्ठिर ! वास्तव में तुमने सच्ची शिक्षा ग्रहण की है। तुमने सक्रिय ज्ञान प्राप्त किया है। लोग वाक्यों को कठस्थ तो कर लेते हैं मगर हृदय में नहीं उतारते। तुमने अपना ज्ञान हृदय तक पहुँचाकर क्रिया



में परिणत किया है । अतएव तुम्हारा थोड़ा-सा भी ज्ञान सक्रिय होने के कारण सच्चा ज्ञान है ।

आज जगत् में ऐसे सक्रिय ज्ञान की ही आवश्यकता है । तोता-रटत ज्ञान से इष्टसिद्धि नहीं हो सकती । इष्ट-सिद्धि तो सक्रिय ज्ञान से ही हो सकती है अतएव सक्रिय ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है ।

परोक्षक युधिष्ठिर की सहिष्णुता तथा सत्यवादिता से अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगा--हे युधिष्ठिर ! तू क्रोध-विजेता और सत्यभाषी है, अतएव ससार का भी जीत सकेगा । युधिष्ठिर इस प्रकार सहनशील तथा सत्यभाषी होने के कारण ही आगे चल कर धर्मराज के रूप में प्रसिद्ध हुए ।

शास्त्रकारों ने क्रोध, मान, माया और लोभ को ससार का मूल प्रकट किया है । इन चार कषायों से ही पापों की वृद्धि होती है । शास्त्र में कहा भी है :—

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्डणं ।

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

—दश० ८, ३७.

अर्थात्--क्रोध, मान, माया तथा लोभ यह चार दोष पापवर्धक तथा ससारवर्धक हैं । अतएव आत्मा का हित चाहने वाले को इन चार दोषों का सर्वथा त्याग करना चाहिए । क्योंकि —

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।

माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सच्चविणासणो ॥

—दश० ८, ३८

अर्थात्--क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय

का नाश करता है, माया मित्रों की मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सर्वविनाशक है । अतएव—

उवसमेण हणे कोह, माण मद्वया जिणे ।

मायामज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ।

—दश० ८, ३६

अर्थात्—उपशम—क्षमा द्वारा क्रोध को दूर करना चाहिए, नम्रता द्वारा अभिमान को हटाना चाहिए, सरलता द्वारा माया को जीतना चाहिए और सतोष द्वारा लोभ को जीतना चाहिए ।

क्रोध, मान, माया तथा लोभ—यह चार कषाय भवचक्र में भ्रमण कराते हैं । अगर हम भवचक्र में भ्रमण नहीं करना चाहते और आत्मा को शान्ति देना चाहते हैं तो क्षमा आदि साधनों द्वारा क्रोध आदि कषायों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । क्षमा द्वारा क्रोध किस प्रकार जीता जा सकता है, यह बात युधिष्ठिर के जीवन से समझी जा सकती है । युधिष्ठिर की भाति 'कोप मा कुरु' इस धर्म-शिक्षा को अगर तुम अपने हृदय में उतार कर सक्रिय रूप दोगे तो तुम भी धर्मार्त्मा बनकर आत्म-कल्याण साध सकोगे ।

क्रोध आदि को जीतने का मार्ग तो बतलाया परन्तु क्रोध आदि के उत्पन्न होने पर किस प्रकार सहनशीलता और क्षमा धारण करना चाहिए, यह बात खड्क मुनि के उदाहरण द्वारा समझाता हूँ । सहनशीलता सीखने के लिए खड्क मुनि की सहनशीलता अपने लिए आदर्श है । इस आदर्श का अनुसरण करने में ही अपना कल्याण है ।

खड्क मुनि गृहस्थावस्था में राजकुमार थे । वे राज-

काज करने में निपुण थे । उनके राज्यसंचालन से प्रजा सतुष्ट और सुखी थी । एक बार उन्हें किसी विद्वान् मुनि का उपदेश सुनने का अवसर मिल गया । मुनिवर के उपदेश का प्रभाव उनके जीवन पर पड़ा । उन्होंने विचार किया— मैं अपनी धीरता और वीरता का उपयोग केवल दूसरों के ही लिए करता हूँ । यह योग्य नहीं है । मुझे अपने इन गुणों का उपयोग अपनी आत्मा के लिए भी करना चाहिए । इस प्रकार विचार कर-उन्होंने अपने माता-पिता से अनुरोध किया 'मैं आत्मा का श्रेयस् करना चाहता हूँ; अतएव ऐसा करने की आज्ञा दीजिए ।' माता-पिता ने कहा—'पुत्र ! तू आत्मा का श्रेयस् करना चाहता है, यह अच्छी बात है । प्रसन्नतापूर्वक ऐसा कर ।' खडकजी बोले—'ससार में रहकर आत्मश्रेयस् साधना मुझे कठिन प्रतीत होती है, अतएव मैं ससार का त्याग करके आत्मकल्याण करने की इच्छा करता हूँ ।' पुत्र का यह कथन सुनकर उनके माता-पिता दुःखित होकर कहने लगे—'बेटा ! ससार का त्याग थोड़े ही हो सकता है ।' खडकजी बोले—'ऐसा है तो आप यह कहिए कि आत्मकल्याण न साध अथवा यह कहिए कि ससार का त्याग करके आत्मकल्याण नहीं किया जा सकता ।' खडकजी का यह कथन सुनकर माता-पिता उनका निश्चय और सदाशय समझ गए और उन्होंने ससार-त्याग करके आत्मकल्याण करने की आज्ञा दे दी । साथ ही यह कहा—'बेटा ! तू क्षत्रियपुत्र है । अतएव सिंह की भाँति ससार का त्याग करना और सिंह की भाँति ही समय का पालन करना ।' खडकजी ने माता-पिता की शिक्षा शिरोधार्य करते हुए कहा—आपका कथन समुचित है । मैं आपके आदेशानुसार

सयम-पालन में सिंहवृत्ति धारण करने का अभ्यास करूंगा और प्राणपन से सयम का पालन करूंगा ।

खधकजी ने उत्साह और वैराग्य के साथ सयम स्वीकार किया । पिता ने विचार किया—‘खधक ने आज तक किसी प्रकार का कष्ट सहन नहीं किया है । अतएव मुझे ऐसी व्यवस्था कर देनी चाहिए कि उसे किसी प्रकार का उपद्रव न सताये ।’ इस प्रकार विचार करके पिता ने पुत्रमोह से प्ररित होकर पाच सौ सैनिकों की व्यवस्था कर दी । ऐसा प्रबन्ध किया गया कि खधकजी को इस बात का पता न लगे मगर उनकी बराबर रक्षा होती रहे । सैनिक गुप्त रूप से खधक मुनि के साथ रहने लगे । खधक मुनि को इन रक्षक सैनिकों का पता नहीं था, वह तो यही मानते थे कि मेरी रक्षा करने वाला मेरा आत्मा ही है, दूसरा कोई नहीं । इस प्रकार खधक मुनि तपश्चरण करके आत्मकल्याण करने लगे और आत्मा को भावित करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे ।

विहार करते-करते वे अपनी ससारावस्था की बहन के राज्य में पधारे । उनके पीछे गुप्त रूप से चले आने वाले सैनिक विचारने लगे—अब खधकजी अपनी बहन के राज्य में आ पहुँचे हैं । अब किसी प्रकार के उपद्रव की सभावना नहीं है । इस प्रकार निश्चिन्त होकर सैनिक अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे कार्यों में लग गए । इधर खधक मुनि आत्मा और शरीर का भेदविज्ञान हो जाने के कारण तपश्चरण द्वारा शरीर को सुखा कर आत्मा को बलवान बनाने में लगे हैं ।

एक बार खधक मुनि भिक्षाचरी करने के लिए राज-महल के पास से निकले । उस समय राजा और रानी राज-

महल की अटारी पर बैठकर नगर निरीक्षण करने के साथ ही साथ मनोविनोद कर रहे थे । रानी की दृष्टि अकस्मात् मुनि के ऊपर पड़ गई । मुनि को देखते ही रानी विचारने लगी—मेरा भाई भी इन्हीं मुनि की तरह भ्रमण करता होगा । इस तरह विचारमग्न होने के कारण रानी क्षण भर के लिए मनोविनोद और वाणोविलास को भूल गई । राजा ने देखा साधु को देखकर रानी मुझे भूल गई और दूसरे ही विचारों में डूब गई है । यह साधु शरीर से तो कृश है पर ललाट इसका तेजस्वी है । इस मुडित साधु के प्रति रानी का प्रेमभाव तो नहीं होगा ? इस विषय में दूसरों की सलाह लेना भी अनुचित है । अतएव किसी और से पूछने की अपेक्षा इस साधु को समाप्त कर देना ही ठीक है । इस प्रकार विचार कर राजा ने नौकर (चाण्डाल) को बुलाकर आज्ञा दी—उस साधु को वधभूमि पर ले जाओ और मार कर उसकी खाल उतार लाओ ।

राजा की यह कठोर आज्ञा सुनकर चाण्डाल कांप उठा । वह मन ही मन विचार करने लगा आज मुझे कितना जघन्य काम सौंपा गया है । मैं चाकर हूँ अतएव यह काम किये बिना छुटकारा नहीं । अगर मैं राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता हूँ तो मैं उनका कोप-भाजन बनूँगा और शायद मुझे प्राणदण्ड दिया जायेगा । इस प्रकार विचार कर वह खधक मुनि के पास आया और उन्हें पकड़ने लगा । मुनि ने पूछा—मुझे किस कारण पकड़ा जा रहा है ? चाण्डाल ने कहा—‘राजा ने पकड़ने की आज्ञा दी है । अतएव चुपचाप मेरे पीछे चले आओ ।’ मुनि ने पूछा—चलना कहा है ?

चाण्डाल—श्मशानभूमि में ।

मुनि—किसलिए ?

चाडाल -- राजा की आज्ञा के अनुसार वहां तुम्हारा वध किया जायेगा और तुम्हारे शरीर की खाल उतारी जाएगी ।

यह हृदयविदारक वचन सुनकर मुनि को आघात पहुचना स्वाभाविक है । परन्तु खधक मुनि को शरीर और आत्मा का भेदविज्ञान था । अतएव वह विचारने लगे— यह शरीर नश्वर है । किसी न किसी दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायेगा । ऐसी स्थिति में अगर आज ही यह कष्ट होता है तो इसमें मुझे दुख मानने की क्या आवश्यकता है ? मेरा आत्मा तो अजर-अमर है । उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता । इस प्रकार विचार करके और धैर्य धारण करके खधक मुनि चुपचाप नौकर के पीछे-पीछे चले लगे । जब दोनों वधस्थल पर पहुचे तो मुनि ने चाण्डाल से कहा--‘भाई ! मेरे शरीर में रक्त नहीं है । इस कारण चमड़ी हाडों के साथ चिपट गई है तो खाल उधेड़ने के लिए कोई साधन साथ में लाये हो या नहीं ? अगर कोई साधन नहीं लाये हो तो तुम्हें बहुत कष्ट होगा ।’ मुनि का यह मार्मिक कथन सुनकर वह लज्जित हो गया । वह मन में विचार करने लगा--‘कितना पापी हूँ मैं ! मुझे इन पापी हाथों से एक महात्मा के शरीर की खाल उतारनी पड़ेगी !’ वह नम्र भाव से मुनि से कहने लगा - आप महात्मा हैं । आपके हृदय में मुझ जैसे पापात्मा के प्रति भी करुणा है । परन्तु इस समय मैं निरुपाय हूँ । मुझे अनिच्छा से और दुःखित मन से भी आपके वध का पाप करना पड़ेगा ।

वधस्थल पर ले जाकर चाडाल ने दुःखी हृदय से मुनि

का वध किया और उनके शरीर की खाल उतार ली । परन्तु वह शान्तमूर्ति मुनिराज परमात्मा के ध्यान से तनिक भी विचलित नहीं हुए । शरीरनाश के समय उन्होंने अपनी आत्मा का परमात्मा के साथ ऐसा अनुसंधान किया कि परमात्मा का ध्यान करते हुए उन्हें मृत्यु का दुःख मालूम ही नहीं हुआ । मुनि के मन में किसी के प्रति न क्रोधभाव उत्पन्न हुआ और न वैरभाव ही उत्पन्न हुआ । उस समय खडक मुनि क्षमा की साक्षात् मूर्ति बन गये । क्षमाशीलता का इससे ऊँचा आदर्श और क्या हो सकता है ? क्षमाशील रहना तो साधु का धर्म है । समर्थ साधु ही ऐसा वधपरिषद् सह सकते हैं । क्षमाशील साधु कैसे होते हैं, इस सबध में शास्त्र में कहा है—

ह्यो न संजले भिक्खू, मण पि न पओसए ।

तित्तिक्खं परम नच्चा, भिक्ख धम्म समायरे ॥

अर्थात्—कोई प्राणी का हरण करे तो भी भिक्षु उस पर क्रोध न करे, यहां तक कि मन में भी द्वेष न लावे । बल्कि तितिक्षा (सहनशीलता-क्षमा) को उत्तम गुण समझकर क्षमाशील साधु क्षमाधर्म का ही पालन करे ।

खडकजी मुनि ने दस प्रकार के साधु धर्मों में प्रथम और प्रधान क्षमाधर्म को सर्वोत्कृष्ट समझकर प्राण अर्पण कर दिये और जगत् के समक्ष क्षमा का अनूठा आदर्श उपस्थित करने के साथ अपने जीवन को धन्य बना लिया । खडकजी मुनि ने प्राण त्याग करते समय ऐसी उच्च भावना भायी थी कि:—

चाहत जीव सब जग जीवन, देह समान नहीं कछु प्यारो ।  
सयमवंत मुनीश्वर को, उपसर्ग हुए तन नाशन हारो ॥

तो चित्तवे हम आतमराम, अखंड अबाधित ज्ञान भंडारो ।  
बेह बिनाशिक सो हम तो नहि, शुद्ध चिवानन्द रूप हमारो ॥

खद्यक मुनि ने इस प्रकार की उच्च भावना भाते हुए  
केवलज्ञान प्राप्त किया । जिस उद्देश्य के लिए उन्होंने ससार  
त्याग किया था, वह आत्मश्रेय-साधन का उद्देश्य सिद्ध करके  
मोक्ष प्राप्त किया । इस प्रकार खद्यक मुनि सिद्ध, बुद्ध और  
मुक्त हो गए ।

वह नौकर, जिसने मुनि का वध किया था, मुनि की  
खाल लेकर राजा के सामने उपस्थित हुआ । राजा ने मुनि  
की खाल उतार लाने की आज्ञा तो अवश्य दी थी, परन्तु  
जब मुनि के शरीर की खाल उसकी दृष्टि के सामने आई  
तो उसे देखकर वह एक बार कांप उठा । कहने लगा—  
हाय ! मैंने यह कैसा कुकृत्य किया कि एक महात्मा के शरीर  
की खाल उतरवा ली । नौकर ने महात्मा की धीरता, वीरता  
और क्षमा की सब बात कही । नौकर की बातें सुनकर राजा  
पश्चात्ताप करने लगा । उसे इतना सताप हुआ कि आखो  
से आँसुओं को धारा बहने लगी । जब रानी को विदित  
हुआ कि किसी मनुष्य की खाल उतरवाई गई है और रानी  
ने उसे आकर प्रत्यक्ष देखा तो वह भी रुदन करने लगी ।

इसी बीच एक चील राजा के महल पर उड़ती-उड़ती  
आई । उसने रक्त से राजत मुनि की मुखवस्त्रिका या दूसरा  
कोई वस्त्र उठा लिया था । मगर उस चीज में उसे कोई  
स्वाद नहीं आया । अतएव उसने वह वस्त्र राजा के महल  
पर ही छोड़ दिया और वह उड़ गई । खून से लथपथ वह  
वस्त्र रानी को नजर आ गया । रानी ने उसी समय वह  
वस्त्र मगवा कर देखा तो जान पड़ा कि यह वस्त्र किसी



मुनि का मालूम होता है । रानी, राजा के पास गई और कहने लगी—महाराज ! आपके राज्य में किसी मुनि का घात हुआ है । यह वस्त्र उन्हीं मुनि का मालूम होता है । रानी ने यह भी कहा—उन मुनि ने ऐसा क्या अपराध किया था कि आपने उन्हें प्राणदण्ड दिया ? रानी के प्रश्न के उत्तर में राजा ने अथ से इति तक सारा वृत्तान्त कह सुनाया । राजा का कथन सुनकर रानी के दुःख का पार न रहा ।

रानी ने कहा—मुनि को प्राणदण्ड देने से पहले जांच तो कर लेते कि मैंने मुनि की ओर किसलिए देखा । आपने यह कुकृत्य करके घोर अनर्थ किया है । मुनि को देखकर मेरे मन में विचार आया कि मेरा भाई भी इन मुनि की तरह घर-घर भिक्षा के लिए भटकता होगा ! आपने मेरी दृष्टि में विकार देखा, मगर वास्तव में मेरी दृष्टि में अथवा मुनि की दृष्टि में किसी प्रकार का विकार नहीं था ।

राजा ने खोज कराई तो मालूम हुआ कि वह मुनि रानी के संसारावस्था के भाई ही थे । यह जानकर राजा को भी बहुत पश्चात्ताप हुआ ।

रानी ने कहा—अब पश्चात्ताप करने से मुनि फिर जीवित होने के नहीं । अतएव पश्चात्ताप करना छोड़ो और इन मुनि के मार्ग का अनुसरण करो । इसी में अपना कल्याण है । आखिर राजा रानी दोनों ने सयममार्ग ग्रहण कर के आत्म-कल्याण किया ।

कहने का आशय यह है कि मुनि के मन में जो क्षमा होती है, उसका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ता है । राजा कितना कठोरहृदय था कि मुनि का किसी प्रकार का अप-

## १६६-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

राघव न होने पर भी उसने मुनि के शरीर की चमड़ी उधेड़ लेने की आज्ञा दे दी । परन्तु मुनि की अनुपम क्षमा का वृत्तान्त सुनकर उस कठोरहृदय राजा का हृदय भी परिवर्तित हो गया । इस प्रकार खड्ग मुनि ने क्षमा का आदर्श उपस्थित करके स्व-पर कल्याण साधन किया । इस प्रकार की क्षमा धारण करने वाले ही वास्तव में महान् हैं । क्षमा इस लोक का भी बल है और परलोक का भी बल है । ससार में उन्हीं पुरुषों का जीवन धन्य बन जाता है, जो स्वयं क्षमाशील बनकर दूसरों को भी क्षमाशील बनाते हैं ।

तुम क्षमाशील बनकर आत्मा का कल्याण साधो ।  
इसी में तुम्हारा कल्याण है ।



# सँतालीसवां बोल

## अलोभवृत्ति

पिछले बोल में क्षमा के विषय में विचार किया गया है । निर्लोभ व्यक्ति ही क्षमा धारण कर सकता है । अतएव अब निर्लोभता अर्थात् मुक्ति ( मुक्ति ) के विषय में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं.—

### मूलपाठ

प्रश्न—मुत्तीए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मुत्तीए ण अकिंचणं जणयइ । अकिंचणे य जीवे अत्यलोलानं अप्पत्थणिज्जो हवइ ॥४७॥

### शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! मुक्ति अर्थात् निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—निर्लोभता से जीव अकिंचन-अपरिग्रह बनता है और घनलोलुप पुरुषों का अप्रार्थनीय बनता है ।

### व्याख्यान

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न पूछ कर हम लोगों पर

## १६८-सम्यक्त्वपराक्रम (४)

महान् उपकार किया है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर हमें शान्त चित्त से विचार करना चाहिए। भगवान् का कथन है कि क्षमा के बिना निर्लोभता उत्पन्न नहीं होती और निर्लोभता के बिना क्षमा नहीं आ सकती। यह दोनों गुण एक दूसरे के सहारे टिके हैं। अकेली क्षमा टिक नहीं सकती। क्षमागुण को स्थिर रखने के लिए अन्य सद्गुणों को भी आवश्यकता होती है। जैसे मूल होने पर शाखा-प्रशाखा होती हैं, उसी प्रकार क्षमा रूपी मूल के होने पर शाखा-प्रशाखा के रूप में अन्य गुण होते हैं। क्षमा गुण अगर मूल है तो निर्लोभता आदि गुणों को शाखा-प्रशाखा के रूप में समझना चाहिए।

जिस व्यक्ति में लोभ होता है अथवा जिस व्यक्ति को किसी वस्तु के प्रति ममत्व होता है उसकी प्रिय वस्तु को अगर कोई हानि करता है तो हानि करने वाले पर उसे क्रोध आना स्वाभाविक है। किन्तु जो व्यक्ति निर्लोभ होता है, जो यह मानता है कि सब वस्तुएँ मेरे आत्मा के संयोग से ही हैं और एक न एक दिन वह सब नष्ट होने वाली ही हैं, मेरा शाश्वत संबंध किसी भी सासारिक वस्तु के साथ नहीं है, ऐसे व्यक्ति को किसी पर क्रोध आने का कोई कारण ही नहीं। जिस व्यक्ति के लिए किसी पर क्रोध का कारण ही नहीं होता, वही व्यक्ति क्षमा रख सकता है। इस प्रकार निर्लोभता के कारण ही क्षमाभाव टिक सकता है। अतएव लोभ को जीत कर क्षमाशील बनने का प्रयत्न करो।

निर्लोभता से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—जिसमें लोभ नहीं होता—जो निर्लोभ होता है वह अकिंचन अर्थात् निर्धन बन जाता

है और इस कारण निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोलुप लोगों के लिए अप्रार्थनीय बनता है ।

इस प्रश्न का उत्तर सुनकर कोई कह सकता है कि निर्लोभता का यह तो उलटा फल निकला ! ससार व्यवहार में तो यह देखा जाता है कि धन होने से ही धर्म होता है और धनवान् को ही धर्मात्मा माना जाता है । परन्तु भगवान् कहते हैं कि निर्लोभता से निर्धनता आती है । इस प्रकार के कथन के सबब में शास्त्रकार कहते हैं कि अगर तुम भगवान् के कथन पर गहरा विचार करोगे तो भगवद्-वाणी का रहस्य तुम्हारी समझ में आयेगा और तुम्हें अपनी भूल मालूम हुए बिना नहीं रहेगी । यह तो तुम भलीभाँति जानते हो कि पदार्थों के प्रति चाहे जितनी ममता क्यों न रखो, आखिर वे पदार्थ नष्ट हो जाएंगे और तब ममता त्यागनी ही पड़ेगी । ऐसी स्थिति में जो पदार्थ नष्ट हो जाने वाले हैं, उन्हें अपनी ओर से त्याग देना ही निर्लोभता है । अब तुम स्वयं ही विचार करो कि जो वस्तु अन्त में छूटने वाली ही है और नष्ट-भ्रष्ट होने वाली है उस नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व रखने से लाभ है या उसका स्वेच्छा से त्याग करने में लाभ है ? तुम स्वयं कहोगे कि नश्वर वस्तु के प्रति ममत्व न रखने तथा निर्लोभता धारण करने में ही लाभ है ।

कोई कह सकता है कि निर्धन हो जाना या दरिद्रता प्राप्त होना निर्लोभता का सुन्दर परिणाम नहीं कहा जा सकता । दरिद्रता के कारण तो पूरे अन्न-वस्त्र भी प्राप्त नहीं होते । ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि निर्लोभता अच्छी वस्तु है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान्

कहते हैं— जिसमें निर्लोभता होती है उसे अर्थलोलुप लोग छोड़ देते हैं । निर्लोभ व्यक्ति अर्थलोभी लोगों का अप्रार्थनीय बन जाता है । धन के लोभी भली-भाँति जानते हैं कि जिनके पास कुछ भी नहीं है अथवा जो निर्लोभ हैं, उनसे कुछ मिलने की आशा नहीं ! अतएव वे निर्लोभ व्यक्ति का पिंड छोड़ देते हैं ।

ससार में प्रायः धनिकों को ही सताया जाता है । राजा इक्षुकार की पत्नी कमलावती ने अपने पति से कहा था —

सामिसं कुललं दिस्स बज्झमाण निरामिसं ।

आमिसं सव्वं मुज्झित्ता विहरिस्सामि निरामिसा ॥

— श्री उ० १४ अ० ४६ गा०

अर्थात् जब किसी पक्षी के पास मांस होता है तब दूसरे पक्षी, जिनके पास मांस नहीं होता, वे उम पर टूट पड़ते हैं । मांस के कारण ही उस पक्षी पर दूसरे पक्षी टूट पड़ते हैं । अगर मांस वाला पक्षी मांस का त्याग कर दे तो दूसरे पक्षी उसे सताएंगे नहीं ।

इसी प्रकार जो पुरुष स्वयं धन सम्पदा का त्याग कर देता है, उसे राजा-चोर आदि अर्थलोलुप लोग नहीं सताते । जब लुटेरा किसी मनुष्य को लूटता है या मारता है तो यह कहा जाता है कि लुटेरा या चोर लोगों को दुःख देता है । मगर इस बात का विचार करो कि वास्तव में दुःख कौन देता है । चोर या लुटेरा दुःख देता है अथवा धन की ममता दुःख देती है ? धन की ममता के कारण ही दुःखों का उद्भव होता है धन की ममता का त्याग कर देने पर दुःख की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि सुख और शान्ति की प्राप्ति होती है ।

कहने का आशय यह है कि जो लोग निर्लोभता-अकिंचनता को स्वीकार करते हैं, उन्हें अर्थलोभी लोग भी छोड़ देते हैं । निर्लोभ मनुष्य ही आखिर देवो और मनुष्यो द्वारा पूजनीय बनता है । वही सुख और शान्ति प्राप्त करता है । इससे विपरीत, जिन्होंने धन का लोभ नहीं त्यागा, वे इस लोक में भी हाय-हाय करते हैं और परलोक में भी दुःख पाते हैं ।

शास्त्र में यह बात यद्यपि साधुओं को लक्ष्य करके कही गई है, पर गृहस्थो को भी इस बात पर विचार करना चाहिए कि धन के लोभ से कितना दुःख होता है ! यह तो सभी जानते हैं कि लोभ से धन की प्राप्ति नहीं होती । ऐसी स्थिति में धन की आवश्यकता होने पर भी लोभ करने से क्या लाभ है ? लोभ का कहीं अन्त नहीं और जहाँ लोभ है वहाँ पाप का पोषण होता है । गहरा विचार करने से तुम्हें भी विदित हुए बिना नहीं रहेगा कि दुःख का मूल कारण धन है । कुछ लोग धनिकों को सुखी मानते हैं, पर धनिकों से पूछो कि वे सुखी हैं या दुःखी ? वास्तव में धनवानों को सुखी समझना भ्रम मात्र है । प्रायः देखा जाता है कि जिनके पास धन है, वही लोग अधिक हाय-हाय करते हैं ! जहाँ जितना ज्यादा ममत्व है, वहाँ उतना ही ज्यादा दुःख है ।

कहा जा सकता है कि हम तो धनिकों को आनन्द मानते हुए देखते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में ज्ञानीजनों का कथन है कि धन वास्तव में सुख का कारण नहीं है । सुखी असल में वही है, जिसने ममता पर विजय प्राप्त करली है । जो लोग ममत्व में फंसे हैं वे दिन-रात हाय-हाय करते

रहते हैं । इसी कारण शास्त्रकार सासारिक पदार्थों के प्रति ममता का भाव न रखने का उपदेश देते हुए कहते हैं कि सासारिक पदार्थों का जितने अंश में त्याग किया जायेगा उतने ही अंशों में अधिक आनन्द प्राप्त होगा । वस्तुएँ तो आखिर नष्ट होने वाली हैं ही, फिर इन नाशशील वस्तुओं पर ममत्व रखकर क्यों दुःखी होना चाहिए ? विनश्वर वस्तुओं का स्वेच्छापूर्वक त्याग कर दिया जाये तो दुःख से बचाव हो जायेगा और आत्मसुख भी प्राप्त हो सकेगा । ज्ञानोजन अपना अनुभव प्रकट करते हुए कहते हैं कि सासारिक पदार्थ अन्त में एक न एक दिन अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं, अतः एव इन नश्वर पदार्थों का अगर वैराग्यपूर्वक त्याग कर दिया जाये तो अपूर्व आनन्द प्राप्त हो सकेगा ।

कोई प्रश्न कर सकता है कि कितनेक लोगों के पास सोना, चादी आदि धन होने पर भी वे त्यागी जैसे मालूम होते हैं और कुछ लोग धन न होने पर भी त्यागी सरीखे मालूम नहीं होते । इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अमुक ने वस्तु सम्बन्धी ममत्व का त्याग किया है या नहीं, यह निश्चय की बात है । इसे हम लोग जान नहीं सकते । परन्तु जिस व्यक्ति में जिस वस्तु के प्रति ममत्वभाव न होगा वह व्यक्ति अपने पास वह वस्तु रखेगा ही क्यों ? मुख्य बात तो यह है कि जिसने अन्तःकरण से ममता का त्याग कर दिया होगा वह दुःखरहित बन जाएगा । जिसने ऊपर से केवल बाह्य दृष्टि से त्याग होने का दिखावा किया होगा, भीतर से ममता-भाव का त्याग नहीं किया होगा, वह बाहर से भले ही त्यागी जैसा दिखलाई दे, मगर वह दुःखों से मुक्त नहीं हो



सकता । जहाँ ममत्व है वहाँ दुःख होता ही है । अतएव सांसारिक पदार्थों से जितना दूर रहा जाये, उतना ही अच्छा है । सांसारिक पदार्थों के प्रति निस्पृह रहने से सांसारिक पदार्थ अधिकाधिक समीप आते हैं और उन पर ममत्व रखने से वे दूर भागते हैं । सूर्य की तरफ पीठ करके छाया को पकड़ने के लिए दौड़ने से छाया आगे-आगे भागती जाती है । इसी प्रकार ममता के कारण सांसारिक पदार्थ दूर से दूर तक होते जाते हैं । अगर सूर्य की ओर मुख और छाया की तरफ पीठ की जाये तो छाया पीछे-पीछे चली आती है । इसी प्रकार पदार्थों के प्रति निस्पृहता धारण की जाये और उदारतापूर्वक उनका त्याग करने की भावना रखी जाये तो सांसारिक पदार्थ तुम्हारे पीछे-पीछे दौड़ेंगे । अतएव सांसारिक पदार्थों के प्रति ममताभाव नहीं रखना चाहिए ।

ससार में जनसमाज का कल्याण वही व्यक्ति कर सकता है, जिम्मे ममता का त्याग कर दिया हो । अर्थलोभी व्यक्ति प्रायः समाज का अहित करने में प्रवृत्त रहता है । कोई कह सकता है कि आप धन का त्याग करने के लिए कहते हैं, परन्तु आज तो यह माना जाता है कि:—

**भज कल्दारं, भज कल्दारं, कल्दारं भजे मूढमते !**

अर्थात् हे मूढ ! तू धन की पूजा कर, ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ?

इस कथन का उत्तर यह है कि अर्थलोभी ही ऐसा कहते हैं । ऐसे लोगो से पूछना चाहिए कि धन में सुख ही है या दुःख भी है ? इस प्रश्न के उत्तर में अर्थलोभी भी स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि धन में दुःख भी है । वास्तव में धन को परमात्मा के समान मानने वाले अर्थ-

लोलुप लोगों की बदौलत ही यह ससार दुखी बना हुआ है और जिन्होंने धन को घूल के समान मानकर उसका त्याग कर दिया है, उन निर्लोभ पुरुषों की ही बदौलत ससार सुखी हो सका है अथवा हो सकता है ।

जो अर्थलोभी नहीं है, जो धन को घूल समझते हैं, उन्हें कहीं भी किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता । आज धन लोभी लोगो को ही चोर आदि का सब से ज्यादा भय लगता है । धन के त्यागी, धन को घूल समझने वाले मुनि को जगल में भी किसी का भय नहीं लगता । दरअसल धन में आनंद नहीं है, धन का त्याग करने में आनन्द है । यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध है । धन का त्यागी स्वयं सुखी रहता है और दूसरो को भी सुखी बनाता है ।

अगर तुम सासारिक पदार्थों की वास्तविकता पर विचार करोगे तो जान पड़ेगा कि लोभ का कहीं अन्त ही नहीं है ! ज्यो-ज्यो धन बढ़ता जाता है त्यो-त्यो लोभ भी बढ़ता चला जाता है । और जैसे-जैसे धन-लोभ बढ़ता जाता है वैसे-वैसे पाप का पोषण भी हो जाता है । अतएव ससार की प्रत्येक वस्तु का स्वेच्छा से ही त्याग करना उचित है । लोभ को जीतकर निर्लोभ बनने के लिए शास्त्र में अनेक उपाय बतलाये गए हैं । श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कपिल मुनि का दृष्टान्त देकर बतलाया है कि वस्तु की प्राप्ति होने से किस प्रकार लोभ की वृद्धि होती जाती है ! और परिणाम-स्वरूप जीवन में कितनी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है । लोभ, दुख और अशान्ति का कारण है । निर्लोभता से सुख और शान्ति प्राप्त होती है । अतएव लोभ का त्याग करके निर्लोभ बनने में ही कल्याण है ।

कपिल ब्राह्मण को सिर्फ दो माशा सोने की ही आवश्यकता थी । राजा ने इच्छानुसार जो चाहिए सो—मांगने की अनुमति दी । कपिल ब्राह्मण ने बगीचा में जाकर खूब विचार किया कि क्या मागना चाहिए ? किन्तु विचारते-विचारते वह इसी निर्णय पर आये कि लोभ का कहीं अन्त नहीं है । ज्यों ज्यों अधिक मागने की इच्छा करता हूं, लोभ बढ़ता ही जाता है । वास्तव में जहाँ लाभ है वहाँ लोभ है । तृष्णा सर्वविनाशिनी है । अगर मैं तृष्णा का त्याग कर दूँ तो निर्भय बन जाऊँ ! इस प्रकार गहरा विचार करने के बाद कपिल ब्राह्मण इसी नतीजे पर पहुँचे कि लोभ ही सर्वविनाशक है । अतएव लोभ का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है । ऐसा विचार कर कपिल ब्राह्मण ने लोभ का त्याग कर दिया और लोभ का पूर्ण रूप से त्याग करने के लिए ससार का त्याग करके मुनिपद स्वीकार किया और आत्मकल्याण किया ।

भगवान् ने कहा है—लोभ पर विजय प्राप्त करने से आत्मकल्याण होता है । अतः आत्महितैषी लोगो को लोभ पर विजय पाकर निर्लोभ बनकर आत्मकल्याण करना चाहिए ।

जीवन में निर्लोभवृत्ति आ जाएगी तो घन आदि के लिए अर्धलोलुप लोगो से प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ेगी । जहाँ निर्लोभता है वहाँ निर्भयता है । अतएव भयरहित बनने के लिए जीवन में लोभ को त्याग दो । लोभ को जीतो । इसी में स्व-पर का कल्याण है ।



# अड़तालीसवां बोल

ऋजुता

---

सिद्धान्त-सागर में अनेक अनमोल मोती भरे हैं । सच्चा जानकार जौहरी ही मोती की परख कर सकता है और ठीक कीमत आंक सकता है । मोतियों की माला पहन कर लोग फूले नहीं समाते परन्तु नश्वर मोतियों की माला से जीवन का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता । वीर-वाणी रूपी अनमोल मोतियों की माला अपने गले में धारण करने वाले ही अपने जीवन को कल्याणमय बना सकते हैं, साथ ही पर का भी कल्याण कर सकते हैं । वास्तव में वीरवाणी ससार-सागर से पार उतारने वाली है और इसी कारण वीरवाणी को जगदुद्धारिणी कहते हैं ।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र महावीर की अन्तिम वाणी है । इस अन्तिम वाणी में श्रमणनायक महावीर भगवान् के आत्मानुभव का निचोड़ संगृहीत है । उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन में महावीर भगवान् और गौतम गणधर के बीच हुए प्रश्नोत्तर का संक्षिप्त, सारगर्भित तथा सुन्दर सूत्र के रूप में निरूपण किया गया है । इस अध्ययन में आत्मिक गुणों का विकास करने वाले ७३ सोपान बनाए गए हैं । इन ७३

बोलो में से सैंतालीस बोलो का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है । सैंतालीसवें बोल में मुक्ति अर्थात् निर्लोभता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय पर विचार किया गया था ।

आर्जव क्या है ? आर्जव गुण धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

### मूलपाठ

प्रश्न—अज्जवयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अज्जवयाए काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसवायणं जणयइ, अविसवायणसंपन्नयाए णं जीवे घम्मस्स आराहए भवइ ॥४८॥

### शब्दार्थ

प्रश्न भगवन् ! आर्जव-ऋजुता-निष्कपटता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—ऋजुता से जीवात्मा काय की सरलता, भाव की सरलता, भाषा की सरलता तथा तीनों योगों की सरलता प्राप्त करता है । आत्मा जब मन, वचन, काय से सरल बनता है तब धर्म का आराधक बनता है ।

### व्याख्यान

इस बोल पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि जीवन में आर्जव-सरलता कब प्रकट होती है ? जीवन में अर्जव गुण प्रकट करने के लिए

भगवान् ने पहले ही कह दिया है कि जो व्यक्ति अक्रोधी होता है, वही क्षमागुण को धारण कर सकता है, जो क्षमाशील होता है वही निर्लोभ हो सकता है और जो निर्लोभ होता है वही निष्कपट बन सकता है। इस प्रकार जहाँ कपटभाव नहीं होता वही आर्जव गुण प्रकट होता है। जिसमें लोभ आदि होते हैं वह सरलता नहीं रख सकता और जहाँ लोभ है वहाँ कपट होता ही है।

लोभ और कपट में अविनाभाव सवध है। जहाँ तीव्र लोभ है वहाँ माया भी है और जहाँ माया है वहाँ लोभ अवश्य होता है। जो लोभ को जीत लेता है वह कपट को भी जीत लेता है और जो कपट को जीत लेता है वह लोभ को भी जीत लेता है। इस प्रकार निर्लोभता और निष्कपटता के बीच पारस्परिक सवध है और इसी कारण गौतम स्वामी ने निर्लोभता के प्रश्नोत्तर के बाद निष्कपटता के विषय में भगवान् से प्रश्न किया है।

दुनियादारी में आम तौर पर यह कहा जाता है कि जो सरल होता है वह व्यवहार में कच्चा होता है, अतएव मनुष्य में थोड़ी-बहुत वक्रता अवश्य होनी चाहिए। इस प्रकार ससार में वक्रता रखने की आवश्यकता अनुभव की जाती है। परन्तु शास्त्रकार इससे विरुद्ध यह कहते हैं कि लोभ या वक्रता रखने से आत्मा का तनिक भी लाभ नहीं होता है। निर्लोभता और सरलता से ही आत्मा का वास्तविक लाभ होता है। भगवान् ने कहा है—हे गौतम! जिस व्यक्ति के हृदय में सरलता होती है, कपट नहीं होता, उस व्यक्ति की काया में सरलता अती है, भावों में सरलता आती है और भाषा में भी सरलता आ जाती है। इसके

विपरीत हृदय में जब कपट भाव होता है तो काया में भी कुटिलता आ जाती है, भावों में भी वक्रता आ जाती है और भाषा में भी कपटीपन आ जाता है ।

हृदय में कपट का भाव आने से शरीर में किमप्रकार वक्रता आ जाती है; यह बात नाटक के उदाहरण से स्पष्ट समझ में आ सकती है । नाटक में अनेक प्रकार के जो पात्र होते हैं, वे वास्तव में कैसे होते हैं और नाटक में शरीर का रूप कैसा बना लेते हैं ? उनके हृदय में तो मलिनता होती है मगर ऊपर से सरलता प्रकट करते हैं । 'हाथी के दात दिखाने के और तथा खाने के और' इस लोकोक्ति के अनुसार उनके हृदय का व्यवहार तथा काया का व्यवहार जुदा-जुदा होता है ।

राम या हरिश्चन्द्र का नाटक खेला जाता है । राम या हरिश्चन्द्र का अभिनय करने वाले में उन जैसा त्याग-भाव नहीं होता, फिर भी कपट-पूर्वक राम या हरिश्चन्द्र का वेषधारण करके अभिनेता खेल दिखलाता है । इसमें कपट नहीं तो क्या है ?

कहने का आशय यह है कि हृदय में कपटभाव रखने से काया में भी वक्रता आ ही जाती है और जब हृदय में सरलता आती है तो काय में भी सरलता आ जाती है । इसके अतिरिक्त काय की वक्रता और सरलता से हृदय की वक्रता और सरलता जानी जा सकती है । अगर भावों में कपट हो तो काय में वक्रता आए बिना नहीं रहेगी । अर्थात् भाव में कपट होगा तो काय में वक्रता आएगी और काय में वक्रता होगी तो भावों में भी वक्रता होगी । इस प्रकार भाव में सरलता होगी तो काय में भी सरलता होगी और काय

मे सरलता होगी तो भावों में भी सरलता होगी और जिनके भावों में तथा काय में सरलता या वक्रता होगी, उनकी भाषा में भी वैसी ही सरलता या वक्रता आए बिना नहीं रहेगी।

भाव में भाषा में और काया में वक्रता किस प्रकार आती है, इसका वर्णन शास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। यद्यपि प्रधानता तो भाव की ही रहती है तथापि भाव के साथ भाषा और काया का भी संबंध है। भाव को प्रधानता देहली पर रखे दीपक के समान है। देहली पर दीपक रखने से बाहर भी प्रकाश पड़ता है और भीतर भी प्रकाश पड़ता है, उसी प्रकार भाव में सरलता या वक्रता रखने से भाषा और काया में भी सरलता तथा वक्रता आती है।

ऋजुता अर्थात् सरलता से भाव में, भाषा तथा काया में सरलता आती है और जब इन तीनों में सरलता आती है तब, भगवान् के कथनानुसार आत्मा में अविसवाद प्रकट होता है। आत्मा में अविसवाद प्रकट होने से आगामी काल में धर्म की आराधना की जा सकती है। वास्तव में धर्म की आराधना अविसवाद से ही होती है।

जो रोगी होता है और जो रोग दूर करना चाहता है वही औषध का सेवन करता है। जो अपना रोग शान्त ही नहीं करना चाहता वह किसलिए औषध सेवन करेगा? इसी प्रकार अगर तुम अपनी वक्रता दूर करना चाहते हो तो भगवान् के इस सद्गुपदेश को हृदय में उतारो और अमल में लाने का प्रयत्न करो। अगर तुम अपनी वक्रता दूर ही नहीं करना चाहते तो इस दशा में उपदेश सुनने से क्या लाभ हो सकता है? बालक के हृदय जैसी सरलता जब



तुम्हारे हृदय में आ जाये तो समझना कि तुमने भगवान् के धर्म को समझा है । जैसे बालक कपटरहित होकर माता-पिता के सामने सब बात खोलकर कह देता है, उसी प्रकार जो पुरुष अपना समस्त व्यवहार निष्कपट होकर करता है, वही वास्तव में धर्म की आराधना कर सकता है । सच्ची सरलता प्रकट हुए बिना धर्म की यथावत् आराधना नहीं हो सकती ।

तुम लोग माया को जीतकर सरलता प्राप्त करने के लिए हमारे पास आते हो । अतएव हमें भी विचारना चाहिए कि हम दूसरो का रोग-दूसरो की माया-तभी दूर कर सकते हैं, जब हम स्वयं नीरोग हो अर्थात् मायारहित हो । अगर हम स्वयं रोगी अर्थात् वक्र हुए तो दूसरो का रोग किस प्रकार मिटा सकेंगे ? वास्तव में सरलता धारण किये बिना आत्मा का कल्याण भी नहीं हो सकता । अपने बुद्धिबल से या कपट से कोई दूसरो को पराजित भले ही कर सकें, मगर उससे आत्मा का कल्याण नहीं साधा जा सकता । आत्मा का कल्याण तो सरलता से ही हो सकता है ।

हृदय में कपटभाव रखने वाला धर्म का आराधन नहीं कर सकता । धर्म की आराधना तो सरल आत्मा से ही होती है । वही अपना कल्याण कर सकता है । व्यवहार में भी सरलता की आवश्यकता रहती है । स्वामी भी सरल सेवक पर प्रसन्न रहता है । जो सेवक कपटी होता है उसके प्रति स्वामी प्रेम प्रदर्शित नहीं करता । जब व्यवहार में भी यह बात देखी जाती है तो फिर खटपट में पड़ा हुआ अर्थात् वक्र मनुष्य परमात्मा का प्यारा कैसे बन सकता है ? ठग लोग समझते हैं कि हम परमात्मा की आंखों में धूल झोंक

कर उसे भी ठग लेगे परन्तु आध्यात्मिकता के आगे ठग-विद्या काम नहीं आती । ठगविद्या में परमात्मा को ठग लेने की मान्यता ही भ्रामक तथा आत्मविघातक है । अतएव परमात्मा की आराधना करने के लिए भाव, भाषा तथा काया की सरलता रखनी चाहिए ।

कितनेक लोग वक्रतापूर्ण काम करके भी कहते हैं कि हमारा हृदय तो सरल ही है । हम काया द्वारा चाहे जैसे खराब काम करें परन्तु हमारे भावों में किसी प्रकार की वक्रता नहीं है । किन्तु यह कथन भी भ्रामक और मिथ्या है । शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते हैं—जिसके भाव में सरलता होगी उसकी भाषा में भी सरलता होगी और काया में भी सरलता होगी । इसके विपरीत, जिसके कार्यों में और जिसकी भाषा में वक्रता होगी, उसके भावों में सरलता नहीं हो सकती । जो वृक्ष ऊपर से हरा-भरा दिखाई देता है, उसको जड़ भी मजबूत और हरीभरी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु जो वृक्ष ऊपर से सूखा हुआ नजर आता है, उसको जड़ हरी है, यह कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार जब काया और भाषा में वक्रता होती है, तब कैसे कहा जा सकता है कि भाव में सरलता है ? जब काया में वक्रता होती है तो भाव में भी वक्रता होती है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण देकर समझाता हूँ—

बादशाह अकबर का प्रधान हिन्दू था । यह हिन्दू प्रधान मुसलमानों को शत्रु की भांति चुभता था । उनका मान्यता थी कि मुसलमान राज्य में हिन्दू प्रधान कदापि नहीं होना चाहिए । अतएव वे हिन्दू प्रधान के बदले किसी मुसलमान को प्रधान बनाने का प्रयत्न करते थे । जब उनका

कोई प्रयत्न सफल न हुआ तो उन्होंने बेगम को भरमा कर अपनी मनोकामना पूरी करनी चाही। कुछ मुसलमान बेगम के पास पहुँचे और बोले—‘आपका भाई शेख हुसेन हर तरह से काबिल है, फिर भी उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को सल्तनत का दीवान बनाया गया है! क्या यह ठीक कहा जा सकता है?’

बेगम मुसलमानों के भ्रमजाल में फँस गई। जब बादशाह महल में गए तो बेगम ने तिरिया-चरित द्वारा उन्हें चचन में बाध लिया। बादशाह ने बेगम से कहा—‘तुम चाहती क्या हो? जो चाहती हो, बताओ। मैं वही देने को तैयार हूँ।’ बेगम बोली—‘तुम मेरे भाई की कई बार तारीफ किया करते हो। अगर दरअसल वह होशियार है तो उसे दीवान न बनाकर एक हिन्दू काफिर को क्यों दीवान बनाया है?’ बादशाह बेगम का मतलब समझ गया। उसने मन ही मन विचार किया बेगम को इस बात का यकीन करा देना चाहिए कि दरअसल उसका भाई कितना काबिल है! इस प्रकार विचार कर बादशाह ने कहा—‘तुम्हारा कहना सही है। मुझसे भूल हुई कि अपने ही घर में शेख हुसेन जैसे काबिल शरस के होते हुए भी मैंने एक हिन्दू को सल्तनत का वजीर बना दिया! मैं कल शेख हुसेन को बड़ा वजीर बना देने का इन्तजाम करूँगा।’

जब बादशाह राजमहल में से चले गये तो वे धूर्त मुसलमान फिर बेगम के पास आए। पूछने लगे—‘क्या हुआ?’ बेगम ने उत्तर दिया—‘बम काम हो गया है। कल मेरा भाई शेख हुसेन प्रधान बना दिया जायेगा।’ यह सुनकर वे मुसलमान प्रसन्न हुए और कहने लगे चलो,

हिन्दू प्रधान का एक कांटा तो दूर हुआ !

दूसरे दिन बादशाह ने प्रधान से कहा—‘तुमने बहुत दिनों तक प्रधान पद भोगा है । अब थोड़े दिनों के लिए शेख हुसेन को यह पद दे दो ।

हिन्दू वजीर ने कहा—‘जैसी जहापनाह की मर्जी ।’

बादशाह ने प्रधान पद शेख हुसेन को सौंपा और हिन्दू प्रधान को पृथक् कर दिया । बादशाह के इस कार्य से मुसलमान बहुत प्रसन्न हुए । मगर उन्हें पता नहीं था कि शेख हुसेन इस कार्य के लिए योग्य है या नहीं ? बादशाह को भलीभांति मालूम था कि शेख हुसेन इस पद को सुशोभित नहीं कर सकता । उन्होंने सोचा शेख हुसेन को मैंने प्रधान पद सौंप तो दिया है परन्तु वह किसी दिन राज्य को भयकर हानि पहुँचाएगा । अतएव ऐसा कोई उपाय करना ठीक होगा कि वह स्वयं ही प्रधान पद छोड़कर भाग जाये । इस प्रकार विचार कर बादशाह ने शेख से कहा रोम के बादशाह से कुछ काम है । तुम वहाँ जाओ और काम को इस प्रकार कर आओ जिससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़े । शेख हुसेन ने बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य की और रोम जाने की तैयारी शुरू कर दी ।

शेख हुसेन रोम गया । उसने वहाँ ऐसा व्यवहार किया कि उसका अपमान हुआ । अपमानित होकर वह वापिस लौटा । वह अपने मन में कहने लगा—मैं इस झूठ में कहा से पड़ गया । पहले मैं मीज में था । प्रधान बनकर मुसीबत गले लगा ली । इस प्रकार सोचता-विचारता वह बादशाह के सामने आया । बादशाह ने पूछा—रोम सकुशल जा आए ? शेख हुसेन ने उत्तर में कहा आपने मुझे खूब झूठ

मे ढाल दिया । वहां मेरा अपमान हुआ और जिस काम के लिए आये भेजा था वह भी न हुआ । मुझसे यह वजा-रत न होगी । मेहरवानी करके यह पद वापिस ले लीजिए । बादशाह ने जबाब दिया—यह सब बात तुम अपनी बहिन से कहो ।

बादशाह चाहते थे कि बेगम इन सब बातों से परिचित हो जाये और फिर कभी ऐसा प्रपच न करे । इसी कारण बादशाह ने सब बातें बेगम से कहने के लिए कहा । शेख हुसेन अपनी बहिन के पास गया और कहने लगा—‘बहिन ! प्रधान पद की यह मुसीबत तुमने क्यों मेरे सिर मढी ! पहले मैं मजे से रहता था, अब चिन्ता ही चिन्ता मे दिन बीतता है ।’

बेगम—तुम प्रधान बनाए गए तो बुरा क्या हुआ ? प्रधान का हुकम तो बादशाह से भी ऊंचा ममका जाता है ।

शेख—बहिन ! तुम्हारा कहना सही है । प्रधान का पद बड़ा है, यह ठीक है, मगर उसे टिकाए रखने के लिए मुझमें काबलियत भी तो होनी चाहिए । मुझमें यह काबलियत नहीं है । इसलिए किसी तरह कोशिश करके मुझे इस मुसीबत से बचाओ ।

बेगम फला मुल्लाजी और फला मुसलमानों ने तुम्हें बजीर बनाने के लिए मुझ से कहा था, बल्कि जोर दिया था । उन्होंने ही मुझे ऐसा करने के लिए भड़काया था । उन्हें बुलवाकर पूछ लेती हूँ ।

जिन मुल्लाओं और मुसलमानों ने बेगम को भरमाया था, उन सब को बेगम ने अपने सामने बुलाकर पूछा—तुम

लोग मेरे भाई को वजीर बनाने के लिए कहते थे । उसे वजीर बना भी दिया गया है । लेकिन वह वजीर बने रहने के लिए तैयार नहीं है । अब क्या करना चाहिए ?

उन्होंने कहा—हमारी खाहिश तो यही थी कि मुसलमान सल्तनत का वजीर भी मुसलमान होना चाहिए । इसी वजह से हमने आपके भाई का नाम पेश किया था । अब अगर वह वजीर होना या रहना नहीं चाहते तो जाने दीजिए ।

आखिर बादशाह ने फिर हिन्दू प्रधान को प्रधान के पद पर नियुक्त किया । बादशाह ने हिन्दू प्रधान से कहा—  
 जेब हुसेन जो काम बिगाड़ आया है उसे तुम सुधार आओ । बादशाह की आज्ञा शिरोधार्य करके हिन्दू प्रधान दलबल के साथ रोम गया । रोम के बादशाह को मालूम हुआ कि भारत का प्रधान आया है । रोम के बादशाह ने कहा—  
 भारत के प्रधान का व्यक्तित्व ही क्या है ! एक प्रधान तो पहले आया था । अब यह दूसरा आया है । मिलना तो चाहिए ही ।

रोम के बादशाह ने भारत के प्रधान की परीक्षा करने के लिए एक युक्ति रची । उसने अपने ग्यारह गुलामों को भी अपनी ही जैसी पोशाक पहना दी । बारहों आदमी एक समान बैठ गये, जिससे पता न लगे कि वास्तव में बादशाह कौन है । भारतीय प्रधान रौबदार पोशाक पहनकर रोम की राजसभा में गया । राजसभा पहुँचकर प्रधान ने एक ही नजर में असली बादशाह को पहचान लिया और उसी को मलामी दी । बादशाह ने पूछा कि तुम मुझे बादशाह समझते हो तो ये दूसरे लोग कौन हैं ? भारत के प्रधान ने उत्तर में कहा—हमारे यहां भारत में होली के अवसर पर

ऐसे अनेक बादशाह बनाये जाते हैं । यह लोग भी ऐसे ही बादशाह हैं । बादशाह ने फिर पूछा—यह बात तुमने कैसे जानी कि ये लोग असली बादशाह नहीं हैं और मैं ही असली बादशाह हूँ । भारत के प्रधान ने कहा—जिस समय मैं राज-सभा में दाखिल हुआ, उस समय यह मेरी पोशाक की ओर वक्र दृष्टि से देखने लगे । अकेले आप ही गम्भीर होकर बैठे रहे । आपकी गम्भीरता देखकर मैं जान सका कि वास्तव में आप ही बादशाह हैं । यह सुनकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ । प्रधान के साथ उसने हाथ मिलाया और उसकी पीठ ठोक कर योग्यता का प्रमाण-पत्र दिया । रोम के बादशाह ने भारतीय प्रधान से शेखहुसेन के आने का जिक्र करते हुए कहा—तुम से पहले जो प्रधान आया था, वह तो बिल्कुल अयोग्य था । भारतीय प्रधान ने रोम के बादशाह के मुख से शेखहुसेन की निन्दा सुन कर कहा जहापनाह ! शेखहुसेन को तो आपकी परीक्षा करने भेजा था । वास्तव में वह अयोग्य नहीं था । इस प्रकार भारतीय प्रधान ने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के साथ शेखहुसेन की अप्रतिष्ठा भी दूर की ।

प्रधान रोम से लौटकर बादशाह अकबर के समक्ष आया । उसने रोम का सारा वृत्तान्त कह सुनाया । बादशाह सारी बातें सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ । उसने मुसलमानों को बुलाकर कहा—‘वजीर हो तो ऐसा होना चाहिए!’ बादशाह का कथन सुनकर मुसलमानों ने कहा—‘अब हमारी समझ में आया कि आप जो कुछ करते हैं, योग्य ही करते हैं।’

इस कथा से यह सार निकलता है कि जब भाव में सरलता आती है तब काया में भी सरलता आती है और जब भाव में सरलता नहीं होती तो काय में भी सरलता नहीं

होती । भाव मे वक्रता आने से काय में भी वक्रता आ जाती है । उपर्युक्त उदाहरण में हम देख चुके हैं कि नकली बादशाहो ने भी पोशाक तो असली बादशाह सरीखी ही पहनी थी, परन्तु उनके भाव वक्र होने के कारण उनकी काया मे भी वक्रता आ गई थी । इसके विपरीत बादशाह के भाव मे वक्रता न थी अतएव उसकी काया मे भी वक्रता न आई । भाव की वक्रता या सरलता का पता तो काय की वक्रता और सरलता से सहज ही लग जाता है । अतएव भाव मे सरलता रखने के साथ काया मे और भाषा मे भी सरलता रखना आवश्यक है । अगर कोई मनुष्य काया में वक्रता रखकर अपने भाव सरल बतलाता है तो उसका कथन मिथ्या है ।

भगवान् ने जो सरलता का फल बतलाया है, उसे दृष्टि में रखते हुए प्रत्येक कार्य मे सरलता रखनी चाहिए । गौतम स्वामी ने सरलता के विषय में प्रश्न पूछकर आत्मकल्याण करने का सरल मार्ग बतलाया है । सरलता रखना आत्मकल्याण साधने का सरल मार्ग है । सरल बनो, कपट मत रखो; इस सीधे-सादे वाक्य मे गहरा भाव छिपा है । कपट रखने से परमात्मा प्रसन्न नहीं होता और न आत्मकल्याण साधा जा सकता है । भगवान् ने तो स्पष्ट कह दिया है कि सरलता धारण करने वाला ही स्व-पर का कल्याण कर सकता है और कपट करने वाला अपना तथा पराया अकल्याण करता है । धर्म की आराधना अविसवादीपन से ही होती है और अविसवादीपन सरलता से ही प्राप्त होता है । अतएव कपट का त्याग करके सरलतापूर्वक परमात्मा की प्रार्थना करोगे तो अवश्य ही अविसवाद प्रकट कर सकोगे ।



तथा धर्म का आराधन करके आत्मकल्याण साध सकोगे । सरलतापूर्वक की गई परमात्मा की प्रार्थना से किस प्रकार सार्थक तथा सफल होती है, इस विषय मे एक कवि कहता है—

अजित जिन तारजो रे, तारजो दीनदयाल, अजित०

जे जे कारण जेहनो रे, सामग्री संयोग,

मिलता कारज नीपजे रे, कर्त्तातणे प्रयोग । अजित०

कार्य सिद्धि करता वसु रे, लइ कारण संयोग,

निज पद अर्थी प्रभु मिल्या रे, होय निमित्तय भोग । अजित०

इस प्रार्थना मे भक्त कहते हैं—हे प्रभो ! तेरे सिवाय और कोई तारक नहीं है । परन्तु अजित जिन भगवान् तभी तारते हैं, जब जीवन मे सरलता आती है, जीवन में सरलता न हुई, कपट हुआ, तो परमात्मा कैसे तार सकेगा ? जीवन को तारना-या डुबाना तो अपने ही हाथ में है । पारस और लोहा के बीच अगर कागज जितना थोड़ा-सा अन्तर रह जाये तो पारस उस लोहे को सोना कैसे बना सकता है ? अगर किसी प्रकार का अन्तर रह जाने के कारण पारस लोह का सोना न बना सके तो इसमे पारस का क्या दोष है ? इसी प्रकार जब तक आत्मा और परमात्मा के बीच कपट का अन्तर है तब तक आत्मा, परमात्मा किस प्रकार बन सकता है ? और अजितनाथ भगवान् आत्मा को कैसे तार सकते हैं ? मानव-जीवन हमें मुक्ति प्राप्त करने के साधन के रूप मे प्राप्त हुआ है अगर इस दशा में भी इस आत्मा का कल्याण नहीं करेंगे तो फिर कब करेंगे ? अनन्त भवों के बाद अपने को ऐसी सामग्री मिली है जिसे पाकर हम परमात्मा के समीप पहुच सकते हैं । हमें यह मानव-शरीर इसीलिए मिला है कि हम आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर दूर कर सकें । बुद्धिमत्ता इसी में है कि जो

वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त हो उसका उसी में उपयोग किया जाये । जिस कार्य का जो कारण होता है, उस कारण से वही कार्य सिद्ध हो सकता है अन्य नहीं । उससे अन्य कार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना उस कारण का दुरुपयोग करना है । घड़ा बनाने के लिए मिट्टी ही लेनी पड़ती है और कपड़ा बनाने के लिए सूत काम में लाना पड़ता है । ऐसा न किया जाये और कपड़ा बनाने के लिए मिट्टी और घड़ा बनाने के लिए सूत काम में लाया जाये तो कार्य सिद्धि नहीं हो सकती । इसी प्रकार जब आत्मा का कल्याण करने का कार्य करना हो तो आत्मकल्याण-साधक सरलता को अपनाना चाहिये और पुद्गलो के प्रति निस्पृह बनना चाहिए तथा कपट का त्याग करना चाहिए । इसके विपरीत अगर यह भावना रही कि मैं किस प्रकार सुन्दर दिखाई दूँ, मैं धनिक कैसे बनूँ, या ऐसी कोई और सासारिक भावना रही और उस भावना को पूर्ण करने के लिए कपट का आश्रय लिया गया तो ऐसा करने वाले को पुद्गलानदी भले ही कहा जाये मगर आत्मकल्याण-साधक नहीं कहा जा सकता । ऐसा अतिशयलोलुप जीव सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं कर सकता और आत्मा का कल्याण किस प्रकार कर सकेगा ? अतएव जिस कार्य के लिये जो कारण हो उस कार्य के लिए वही कारण अपनाना चाहिए । आत्मकल्याण साधने के लिए जिन कारणों की आवश्यकता है, वे कारण हम लोगो को शुभ-क्रिया के प्रताप से-सौभाग्य से-प्राप्त हैं । अतएव परमात्मा के साथ सबन्ध जोड़ने का जो साधन हमें प्राप्त है, उस साधन द्वारा आत्मकल्याण कर लेना चाहिए । आत्मकल्याण का सरल मार्ग है—सरलता धारण करना—कपट का त्याग करना ।



# सम्यक्त्व-पराक्रम

पञ्चत्वां भाग



# उनचासवां बोल



## मृदुता

शास्त्रकारो ने जगत् के जीवो को ससार सागर पास करने के लिए धर्म-नौका मे बैठने का आह्वान किया है । धर्म का अर्थ ही है—धारण करने वाला । जो पतितो का उद्धार करे, डूबने वालो को तारे, उसी को धर्म कहते हैं । यह धर्म दस प्रकार का है । धर्म के क्षमा आदि दस भेद हैं । क्षमा रखना, निर्लोभता धारण करना, सरलता रखना आदि आत्मोन्नति के मार्ग हैं । इन गुणो से क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध मे पहले विचार किया जा चुका है । जो आत्मा विनम्र होता है, वही वास्तव मे सरल बन सकता है । अतएव अब मृदुता-मार्दव या विनम्रता गुण पर विचार किया जाता है । मार्दव क्या है और उससे जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय मे गौतम स्वामी महावीर भगवान् से प्रश्न करते हैं :—

## मूलपाठ

प्रश्न महवयाए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मद्वयाए अणुस्सियत्तां जणयइ, अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्वसपत्ते अट्ठमयट्ठाणाइं निट्ठावेइ ॥४६॥

### शब्दार्थ

प्रश्न — भगवन् ! मृदुता (निरभिमानता-नम्रता) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— मृदुता से जीवात्मा अभिमानरहित होता है और निरभिमान बनने के कारण कोमल मार्दव प्राप्त करके आठ प्रकार के मदस्थानों का परित्याग करता है ।

### व्याख्यान

मृदुता अर्थात् विनम्रता समस्त गुणों की आधार-भूमिका है । बिना आधार के आश्रय टिक नहीं सकता । जिस प्रकार वृक्ष आदि के लिए पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् पृथ्वी के सहारे के बिना वृक्ष आदि स्थिर नहीं रह सकते, उसी प्रकार समस्त गुणों की आधारभूमिका मृदुता अर्थात् विनयशीलता है । विनयशीलता के अभाव में कोई भी गुण नहीं रह सकता । इसी कारण आर्जव के साथ मार्दव गुण भी प्राप्त करना चाहिए ।

मृदुता गुण को धारण करना लाभदायक तो है ही, परन्तु मृदुता के धारण करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस बात पर विचार करना आवश्यक है ।

द्रव्य और भाव से नम्रता धारण करना मार्दव अर्थात् विनयशीलता-निरभिमानता है । शरीर आदि द्रव्य में भी नम्रता होनी चाहिए और भाव में भी नम्रता होनी चाहिये । जहाँ नमनभाव है वही सब गुण टिक सकते हैं । जिसमें

नम्रता होती है वही विनयशील व्यक्ति अन्य सद्गुण प्राप्त कर सकता है। कहावत है — जो नम्रता है वही परमात्मा को गमता (सुहाता) है। मिष्ट फल भी उसी वृक्ष में आते हैं जिसमें नम्रता होती है। जिस वृक्ष में नम्रता नहीं होती, उसमें मिष्ट और सुन्दर फल भी नहीं लगते। आम्रवृक्ष आम लगने पर नीचे झुक जाता है और इसी कारण आम में मिठास होती है। परन्तु एरंड का पेड़ अकड़ा रहता है और इसी से उसके फल भी वैसे ही आते हैं। तुम्हें भी नमनभाव पसन्द है। अनम्रता तुम्हें भी पसन्द नहीं। आम तुम बड़ी रुचि के साथ खा जाते हो परन्तु एरंड का फल खाने के लिए दिया जाये तो उसे खाना पसन्द करोगे? जहाँ कोमलता होती है वही नमनभाव होता है और जहाँ नमनभाव होता है वहाँ विनय होता है। विनय-भाव सभी गुणों को अपनी ओर खींच लाता है। विनयभाव में सद्गुणों को अपनी ओर खींच लाने की शक्ति रही हुई है।

जिस व्यक्ति में विनय-भाव है, उसके विषय में भगवान् कहते हैं कि विनयशील व्यक्ति में आठ प्रकार के मदों में से एक भी मद नहीं रह पाता।

मद के आठ स्थान हैं — (१) जातिमद (२) कुल-मद (३) वलमद (४) रूपमद (५) तपमद (६) ज्ञानमद (७) लाभमद (८) ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के मदों का त्याग विनयशील व्यक्ति ही कर सकता है, क्योंकि जीवन में नम्रता आए बिना मदों का त्याग करना शक्य नहीं है।

प्रायः देखा जाता है कि लोग मामूली बात में भी अभिमान करने लगते हैं। नये वूट पहन कर लोग ऐसा

अभिमान करते हैं मानो अभिमान के मारे फूले नहीं समाते हैं और अगर नये वूट के साथ सुन्दर तथा नवीन वस्त्र भी पहन लिये हो तब तो कहना ही क्या है ! उस समय तो अभिमान की सीमा ही नहीं रहती । ऐसी दशा में अगर वह व्यक्ति उच्च जाति में या उच्च कुल में पैदा हुआ हो और फिर धनसत्ता, वैभव तथा प्रभुता प्राप्त हो तब तो अभिमान का कहना ही क्या है ! परन्तु किसी का अभिमान सदा टिक नहीं सकता । अभिमान से सदा सर्वदा हानि ही होती है । जब राजा रावण का भी अभिमान न टिक सका तो फिर साधारण आदमी का अभिमान न टिकने में आश्चर्य ही क्या है ? अभिमान एकान्ततः हानिकारक है और इसी कारण उसे 'मद' कहते हैं । मद्य और दूध में कितना अन्तर है ? कहीं-कहीं सरकार ने मद्य का तो निषेध किया है मगर यह नहीं सुना गया कि किसी सरकार ने कहीं दूध का भी निषेध किया है । मद्य से हानि होती है और दूध से लाभ होता है । तुम लोग शराब को ही मद्य मानते हो परन्तु ग्रन्थकार मद की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते ।

अर्थात्— जिस पदार्थ के सेवन से बुद्धि विकृत होती है, वे सब पदार्थ मदकारी हैं । अभिमान से भी बुद्धि विकृत होती है, अतएव वह भी एक प्रकार का मद है ।

लोगों को जाति या कुल का भी मद होता है । पर शास्त्रकार कहते हैं कि जाति, कुल वगैरह का अहंकार भी एक प्रकार का मद ही कहलाता है । सुज्ञ पुरुषों का कथन है कि जो जातिसपन्न और कुलमपन्न हो उन्हें नम्र तथा निरभिमान होना चाहिए । उच्च जाति वाला और उच्च



कुल वाला तो विनम्र ही रहेगा। वह अभिमान नहीं करेगा। इससे विरुद्ध जो अपनी जाति या कुल का अभिमान करता है, समझना चाहिए कि उसकी जाति या कुल में कुछ अंतर होगा। शास्त्र में गौतम स्वामी को जातिसपन्न और कुलसम्पन्न कहा है। माता का वंश जाति और पिता वंश कुल कहलाता है। जाति या कुल उच्च होना तो पुण्य का फल है, फिर इनके लिये अभिमान क्यों करना चाहिए? जाति-मद, कुलमद या किसी भी प्रकार का अन्य मद करना अभिमान ही है और अभिमान पाप का कारण है। तुलसीदास ने 'पाप मूल अभिमान' कह कर अभिमान को त्याज्य गिना है।

जीवन में मार्दव गुण प्रकट होने पर जाति या कुल आदि का भी अभिमान नहीं रहने पाता। आत्मा में कोमलता प्रकट होने से अनेक गुण प्रकट होते हैं। आत्मा में एक प्रकार की कोमलता तो स्वभावतः उत्पन्न होती है और दूसरे प्रकार की कोमलता प्रयत्न द्वारा आती है। अगर प्रयत्न द्वारा आत्मा में कोमलता न आती होती तो फिर शास्त्रकार दया के द्वारा आत्मा को कोमल बनाने का उपदेश ही क्यों देते? मार्दव गुण प्रयत्न द्वारा भी प्रकट हो सकता है। इसी कारण गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया कि मार्दव गुण प्रकट होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि मार्दव गुण के प्रकट होने से अहंकार का नाश होता है अर्थात् आठ प्रकार के मदों में से कोई भी मद नहीं रह पाता।

अहंकारी या अभिमानी पुरुष दूसरों को हल्का मानता है। पर वास्तव में बड़ा कौन है और छोटा कौन है, इस

विषय में पूज्य श्री उदयसागर जी महाराज एक उदाहरण दिया करते थे । वह इस प्रकार है— जोधपुर में एक छोटा पहाड़ है । उस पहाड़ पर किला बना है । उस किले पर चढ़ कर मनुष्य जब नीचे के मनुष्यों को देखता है तब उसे वे छोटे-छोटे नजर आते हैं । इसी प्रकार नीचे के मनुष्यों को भी ऊपर वाला मनुष्य छोटा दिखाई देता है । इस तरह जो दूसरो का छोटा या हल्का समझता है, वह दूसरों से भी छोटा या हल्का ही समझा जाता है । जो व्यक्ति दूसरो को समान बनाना चाहता है और यह चाहता है कि दूसरे भी उसे समान मानें तो उस दूसरो के साथ समान भूमिका पर खड़ा होना पड़ेगा । कहने का आशय यह है कि जो व्यक्ति अहंकार पर सवार है और अहंकार के कारण दूसरो को हल्का मानता है उसको भी दूसरे हल्का ही समझते हैं । वास्तव में महान् वही है जो नम्रता से युक्त है ।

श्रीकृष्ण ने एक वृद्ध पुरुष की ईंटे उठाई थी, इससे वे क्या छोटे हो गए थे ? क्या ईंटें उठाते समय उन्होंने यह अभिमान किया था कि कहा मैं द्वारकाधीश और कहा यह बूढ़ा भिखारी ! उन्होंने ऐसा अभिमान नहीं किया तो वे महान् समझ गए या छोटे ? वर्मरुचि मुनि ने कीड़ियों की दया के लिए अपना शरीर भी त्याग दिया । उन्होंने विचार किया— यह विषमय शाक खाकर कीड़िया मरें, इसकी अपेक्षा मैं स्वयं इसे खाकर प्राण अर्पण कर दू तो क्या हर्ज है ? उन्होंने विषमय शाक का आहार करते समय छोटे-बड़े का यह भेद नहीं किया कि कहाँ मैं और कहाँ यह क्षुद्र कीड़िया । उन्होंने उस समय छोटे-बड़े का भेद करके अभिमान किया होता तो क्या वे जगत् के समक्ष ज्वलत

जीवदया का अनुपम आदर्श उपस्थित कर सकते ? इस प्रकार सच्ची जीवदया वे ही कर सकते हैं जिनमें सच्चा मार्दव गुण होता है अर्थात् कोमलता या विनम्रता होती है । जिनमें कोमलता या विनम्रता नहीं होती वे प्रथम तो किसी प्राणी के प्रति दयाभाव प्रदर्शित ही नहीं कर सकते, कदाचित् प्रदर्शित करें भी तो वह दया बनावटी और दिखावे के लिए ही होती है । सच्ची भावदया तो वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें सच्ची मृदुता होती है । अतएव सच्ची दया करने के लिये तुम भी अहंकार को जीतो और यह मानो कि सब जीव मेरे ही सरीखे हैं । दूसरो का हित करने से अपना हित होता है और दूसरो का अहित करने से अपना अहित होता है । तुम्हारे अन्तःकरण में ऐसी भावना दृढ़ होगी तो तुम भी सच्ची दया कर सकोगे । अहंकार या अभिमान को जीत कर अपने आत्मा को सरल तथा नम्र बनाओगे तो तुम अपना कल्याण करने के साथ दूसरो का भी कल्याण कर सकोगे । आत्मा को सरल और नम्र बनाने से स्व-पर का कल्याण होना है ।



# पचासवां बोल

## भावसत्य

क्षमा, निरभिमानता, ऋजुता, विनयशीलता आदि गुणों के द्वारा आत्मा सरल और शान्त बनता है, आत्मा को कर्म-मैल से शुद्ध करने के लिए ऊपर के गुण धारण करना आवश्यक है। क्षमा आदि गुण धारण करने से किस प्रकार आत्मशुद्धि होती है, यह बात पहले विचारी जा चुकी है। अब गौतम स्वामी भगवान् महावीर से यह प्रश्न करते हैं कि अन्तःकरण की शुद्धि किस प्रकार होती है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

## मूलपाठ

प्रश्न — भावसच्चेणं भते ! जीवे किं जण-इ ?

उत्तर — भावसच्चेण भावविसोहिं जणप्रदं, भावविसो-  
हीए वट्टमाणे जीवे अरिहतपञ्चत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए  
अल्भुट्ठेइ, अरिहतपञ्चत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठित्ता  
परलोकधम्मस्स आराहए भवइ ॥ ५० ॥

## शब्दार्थ

प्रश्न—भावसत्य ( शुद्ध अन्तःकरण ) से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—भावसत्य से हृदयविशुद्धि होती है और विशुद्ध अन्तःकरण वाला जीव ही अरिहत प्रभु द्वारा प्रतिपादित धर्म की आराधना कर सकता है और उस धर्म की आराधना में उद्यत होकर परलोक में भी धर्म का आराधक बनता है ।

## व्याख्यान

भावसत्य के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि भावसत्य किसे कहते हैं ? सत्य के चार भेद हैं । एक सत्य तो सिर्फ ऊपरी होता है । यह सत्य वास्तव में सत्य नहीं है । यह पहला सत्य ऊपर से तो सत्य मालूम होता है पर भीतर से सत्य रूप नहीं होता । दूसरा सत्य ऐसा होता है कि वह ऊपर से भी सत्य मालूम होता है- और भीतर से भी सत्य ही होता है । तीसरा सत्य वह है जो भीतर से तो सत्य रूप होता है मगर ऊपर से सत्य रूप नहीं होता । चौथा सत्य भीतर से भी सत्य रूप नहीं होता और बाहर से भी सत्य रूप नहीं होता । फिर भी उसे सत्य कहा जाता है । सत्य के यह चार अग अर्थात् प्रकार हैं ।

श्रीस्थानागसूत्र में इस विषय में एक उदाहरण देकर समझाया गया है । एक घड़ा ऐसा होता है जिसके भीतर विष भरा होता है पर उसका ढक्कन अमृतमय होता है ।

दूसरा घड़ा ऐसा है कि उसमें विष भरा है और उसका ढक्कन भी विषमय है । तीसरा घड़ा ऐसा होता है कि उसमें अमृत भरा है किन्तु उसका ढक्कन विषमय है । चौथा घड़ा ऐसा है कि उसमें अमृत भरा है और ढक्कन भी उसका अमृतमय है । इस उदाहरण के अनुसार सत्य के भी चार प्रकार हैं ।

भावसत्य के बिना आत्मा अर्हत्-प्ररूपित धर्म की आराधना नहीं कर सकता । श्री उपनिषद् में भी कहा है कि विद्यापूर्वक की जाने वाली उपासना ही सच्ची उपासना है । अज्ञानपूर्वक की जाने वाली उपासना सच्ची उपासना नहीं है । उपनिषत्कार जिसे विद्या कहते हैं, उसे हम लोग सम्यग्ज्ञान और दर्शन कहते हैं । उपनिषत्कार के कथनानुसार जब तक विद्यापूर्वक उपासना नहीं की जाती, तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । जैन शास्त्र में भी कहा है:—

नाणं च दंसणं देव चरित्तं च तवो तहा ।

एस मग्गो त्ति पण्णत्तो जिणेहि वदंसिहि ॥

— उत्तराध्ययन, अ २८, गा. २

अर्थात्— जिनेश्वर भगवान् ने सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है । तात्पर्य यह है कि यह चारो ही मोक्ष के मार्ग हैं ।

मोक्षमार्ग का क्रम बतलाते हुए कहा गया है कि जिन्हे सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है उन्हें ही सम्यग्दर्शन होता है और जिन्हे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है उन्हें ही सम्यक्-चारित्र की प्राप्ति होती है । अज्ञानी को सम्यग्दर्शन प्राप्त

नहीं होता और जिसे सम्यग्दर्शन ही प्राप्त नहीं है उसे सम्यक्चारित्र प्राप्त नहीं हो सकता । इस सम्बन्ध में श्री उत्तराध्ययनसूत्र के २८ वें अध्ययन में कहा है :—

नादसणिसस नाण नाणेण विना न होंति चरणगुणा ।  
अगुणि स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

अर्थात् - जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ उसे सम्यग्-ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्-चारित्र गुण प्राप्त नहीं हो सकता । सम्यक्चारित्र के अभाव में मुक्ति नहीं मिलती और मुक्ति मिले बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

इस कथन से यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पहले सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है या सम्यग्दर्शन ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि निश्चय में तो सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एक ही साथ होती है परन्तु व्यवहार में बोलने के क्रम से पहले सम्यग्ज्ञान बोला जाता है । वास्तव में तो दोनों एक ही साथ उत्पन्न होते हैं । उदाहरणार्थ—सूर्योदय होने पर प्रकाश पहले होता है या प्रताप ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि प्रकाश और प्रताप दोनों एक साथ ही सूर्य में से निकलते हैं क्योंकि जिन किरणों से प्रकाश निकलता है उन्हीं किरणों से प्रताप निकलता है । फिर भी बोलने में पहले प्रकाश और फिर प्रताप बोला जाता है । इसी प्रकार जब ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होता है और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय होता है तब मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है । परन्तु जब ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के साथ मिथ्यात्वमोहनीय का भी क्षयोपशम होता है तब सम्यग्ज्ञान

और सम्यग्दर्शन एक ही साथ उत्पन्न होते हैं सिर्फ बोलने के क्रम में पहले सम्यग्ज्ञान और फिर सम्यग्दर्शन बोला जाता है । इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र्य प्राप्त होने से ही मोक्ष मिलता है ।

कहा जा सकता है कि सम्यक्चारित्र्य तो सयम धारण करने से ही प्राप्त हो सकता है । परन्तु सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य को भिन्न-भिन्न कहा है । ऐसी स्थिति में जिन्होंने सयम धारण नहीं किया, उन्हें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी मोक्ष कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस कथन का उत्तर यह है कि जिसमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है, वह व्यवहार में भले ही सयम धारण न कर सका हो अर्थात् चारित्र्य धारण न कर सका हो, फिर भी उसमें भाव से चारित्र्य का अंश होता ही है । व्यवहार में सयम न धारण करने पर भी जिनका आत्मा निज गुणों में रमण करता है, उनमें भावचारित्र्य होता ही ।

सयम की तरह सत्य भी दो प्रकार का होता है—व्यावहारिक और पारमार्थिक । पारमार्थिक सत्य ही भावसत्य कहलाता है । भावसत्य होने पर ही भावशुद्धि हो सकती है । पारमार्थिक सत्य किसे कहते हैं, यह बात समझाने के लिये श्री आचारागसूत्र में कहा है—

समय ति मण्णमाणे समया वा असमया वा समया होइ ति उव्विहाए ।

अर्थात्—जिसे तू सत्य मानता है अर्थात् जिस विषय में तेरे हृदय में किसी प्रकार का सदेह नहीं है वह तेरे लिये सत्य रूप ही है ।



इस प्रकार का आध्यात्मिक सत्य (भावसत्य) अपनाने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। भावसत्य को अपनाने बिना नौ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानी भी आत्मकल्याण साधे बिना ही रह जाते हैं। ऐसे ज्ञानीजनों के उपदेश से धर्मोन्मुख हुए लोग तो मोक्ष पा लेते हैं परन्तु भावसत्य न अपनाने के कारण वे ज्ञानी जैसे के तैसे ही रह जाते हैं। इससे भावसत्य की महिमा समझ में आ सकती है।

भावसत्य को अपनाने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—भावसत्य द्वारा भाव की विशुद्धि होती है अर्थात् चित्त की शुद्धि होती है। भावविशुद्धि द्वारा जीवात्मा अर्हन्त-प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है। जो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है वह अर्हन्त भगवान् है। अर्हन्त भगवान् द्वारा जिस धर्म की प्ररूपणा की गई है वह धर्म अर्हन्त प्ररूपित धर्म कहलाता है। जब भावसत्य द्वारा भावशुद्धि होती है, तभी अर्हन्त प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है। चित्त की शुद्धि ही धर्मापराधना का मार्ग है। श्रावक-श्राविका जो धर्मकार्य करते हैं, उसका उद्देश्य चित्त की शुद्धि करना ही है। अतएव धर्म की आराधना करने के लिए चित्तशुद्धि करना आवश्यक है।

जो बात हम जान या देख नहीं सकते, भगवान् उसे भी जानते हैं। अगर कपटपूर्वक सत्य बोला जाये तो भगवान् की दृष्टि में ऐसा सत्य भी असत्य ही है। इससे विपरीत कपटरहित सरल भाव से बोला गया असत्य भी सरल आत्मा की दृष्टि से सत्य ही है।

कहने का आशय यह है कि जीवन में भावसत्य को अपनाने से ही चित्त की शुद्धि होती है और चित्त की शुद्धि

से ही अर्हन्त-प्ररूपित धर्म की आराधना हो सकती है । धर्म की आराधना करने से किसी भी समय कष्ट उत्पन्न नहीं होता । कदाचित् कोई कष्ट उत्पन्न भी हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह धर्म की आराधना के कारण उत्पन्न हुआ है । शक्कर कदापि कड़ुवी नहीं हो सकती, परन्तु किसी कारण से अगर शक्कर कड़ुवी लगे तो यही कहा जा सकता है कि वह कड़ुवान्न किमो और वस्तु का होगा जो शक्कर में मिल गई है । भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि जिनमें भावसत्य होता है उनके भावों में विशुद्धता आती है और जिनमें भावों की विशुद्धता होती है वही धर्म की भलीभाँति आराधना कर सकते हैं । इसी प्रकार जो व्यक्ति धर्म की भलीभाँति आराधना करता है, वही परलोक की भी आराधना कर सकता है ।

अरिहत भगवान् ने जो कुछ कहा है वह पूर्ण रूप से तभी समझ में आता है जब हृदय के भाव शुद्ध बनते हैं । मैंने जो भी कोई ग्रन्थ या शास्त्र देखे या समझे है, उन सब में प्रधान रूप से चित्त को शुद्ध करने की ही बात आई है । समस्त शास्त्रकारों ने तथा नीतिकारों ने चित्तशुद्धि को प्रधानता दी है ऐसा मैंने समझा है । भगवान् महावीर ने तेरह बोलों का अभिग्रह किया था । भगवान् का अभिग्रह क्या है, यह बात साधारण लोग समझ नहीं सकते थे । किन्तु भगवान् का चित्त शुद्ध था, अतएव वे चन्दनबाला की आँख में आँसू न देखने से और इस प्रकार अपने अभिग्रह की पूर्ति में एक बोल की कमी होने के कारण चन्दनबाला के द्वार पर जाकर वापिस लौट गए थे । सीताजी का चित्त शुद्ध था । इसी कारण उन्होंने सहर्ष कष्ट सहन

करना स्वीकार किया परन्तु राम के सिवाय अन्य पुरुष को पति के रूप में स्वीकार नहीं किया । अगर सीताजी का चित्त शुद्ध न होता तो वह इस प्रकार कष्ट सहन करने के लिये तैयार न होती । इस प्रकार चित्तशुद्धि, भावशुद्धि या आत्मशुद्धि को सभा ने महत्व दिया है । आत्मशुद्धि का महत्व कितना अधिक है, यह बात केशी-गौतम के संवाद में स्पष्ट रूप से बतलाई गई है । केशी कुमार स्वामी आत्मा की स्थिति बतलाते हुए गौतम स्वामी से पूछते हैं -

अणेगाण सहस्राण मज्जे चिट्ठसि गोपमा ।

ते य ते अहिगच्छति कह ते निज्जिया तुमे ॥

— उत्तरा० २३-३५

अर्थात् हे गौतम ! हजारों वैरियों के बीच में तुम निवास कर रहे हो, वे तुम्हारे सामने जूझ रहे हैं, तुम उन सब को किस प्रकार जीत सकते हो ?

केशी स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने बतलाया -

रागे जिए जिया पच, पंच जिए जिया दस ।

दसहा उ जिणिस्ता ण, सव्वसत्त जिणामि ह ॥

अर्थात्—मैं सिर्फ एक (आत्मा) को जीतने का सतत प्रयत्न करता हूँ, क्योंकि उस एक को जीतने से पाँच और पाँच को जीतने से दस और दस को जीतने से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो जाती है ।

गौतम स्वामी का उत्तर सुन कर केशी स्वामी ने फिर प्रश्न किया—हे गौतम ! तुम शत्रु किसे कहते हो ! और एक को जीतने से पाँच पाँच को जीत लेने से दस तथा दस को जीत लेने से समस्त शत्रु जीत लिये जाते हैं,

यह सब तुम किसके विषय में कहते हो ? इस प्रश्न के उत्तर में गौतम स्वामी ने कहा—

एगप्पा अजिए सत्तू कसाया इदियाणि य ।

ते जिणित्ता जहानायं विहरामि अह मुणी ॥

अर्थात्— हे मुनि ! एक (मन की दुष्प्रवृत्ति के आधीन बना हुआ) जीवात्मा अगर जीता न जाये तो वह शत्रु है । (आत्मा को न जीतने से कषायों की उत्पत्ति होती है ।) इस शत्रु के प्रताप से चार कषाय भी शत्रु हैं और पाच इन्द्रियां भी शत्रु हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण शत्रुपरम्परा को जैन शासन के न्याय के अनुसार जीत कर मैं शान्तिपूर्वक विहार करता रहता हूँ ।

क्रोध, मान, माया और लोभ यह चार कषाय हैं । इनकी न्यूनाधिकता-तरतमता के कारण कषाय के सोलह भेद होते हैं । दुष्ट मन भी शत्रु है । पांच इन्द्रियों का असत् वेग होने से यह भी शत्रुओं जैसा काम करती हैं । मगर इन सब का मूल एक मात्र दुरात्मा है । अतएव दुरात्मा को जीत लिया जाये तो सरलता के साथ सब को जीता जा सकता है । जैन शास्त्रों की नीति के अनुसार बाहर के युद्ध की अपेक्षा आत्मयुद्ध करना उत्तम है । क्षमा, दया, तपश्चर्या और त्याग आत्मयुद्ध के शस्त्र हैं । इन्हीं शस्त्रों से कर्मशत्रु नष्ट होता है ।

गौतम स्वामी ने जो कुछ कहा है वही अनाथी मुनि ने भी राजा श्रेणिक से कहा था । अनाथी मुनि ने श्रेणिक राजा से कहा था— दुख और सुख, नरक और स्वर्ग तथा शत्रु और मित्र आत्मा ही है; दूसरा नहीं । अगर हमारा

आत्मा शुद्ध है तो समस्त वस्तुये शुद्ध स्वरूप मे दिखाई देंगी । आत्मा अगर अशुद्ध हुआ तो किसी भी वस्तु का वास्तविक स्वरूप नहीं देखा जा सकता । कूटशात्मली वृक्ष, चैतणी नदी अथवा कामधेनु गाय या नन्दन वन अर्थात् समुच्चय रूप मे तमाम सुख और दुःख अथवा स्वर्ग या नरक, अपना आत्मा ही है । यह तथ्य भलीभाति समझने के कारण ही ज्ञानीजन सुख के समय फूल कर कुप्पा नहीं हो जाते और दुःख के समय घबरा नहीं जाते वे समभाव ही रखते हैं । ज्ञानीजनो का कथन है कि जब नरक या कूटशात्मली वृक्ष के दुःख अपनी आत्मा मे से ही उत्पन्न होते हैं तो फिर नरक या शात्मली वृक्ष को खराब क्यों कहा जाये ? अगर हम अपनी आत्मा को जीत लें तो यह दुःख हमारे पास ही नहीं फटक सकते । एक आत्मा को भलीभाति जीत लेने से समस्त दुःख जीते जा सकते हैं । आत्मा को न जीतने की हालत मे दुःखो का टूट पडना स्वाभाविक है । दुःख दूर करने के लिए आत्मा को जीतना आवश्यक है ।

सूर्य और दीपक--दोनों प्रकाश देते हैं । सूर्य स्वतन्त्र रूप से प्रकाश देता है परन्तु दीपक तेल देने पर ही प्रकाश दे सकता है । दीपक मे तेल न दिया जाये तो वह बुझ जाएगा । ज्ञानीजनो का कथन है कि हमारा आत्मा सूर्य से भी अधिक स्वतन्त्र है । आत्मा जब तक परतन्त्र है तभी तक वह दुःखो है । अगर वह परतन्त्र न बने तो उसे किसी भी प्रकार का दुःख उत्पन्न नहीं हो सकता ।

गौतम स्वामी का कथन सुनकर केशी स्वामी ने कहा- आपने मेरे प्रश्नो का जो उत्तर दिया है वह समीचीन है । मेरे कहने का आशय भी यही था । आप वास्तव मे

जितात्मा है । आपने क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चतुर्विध कपायो को जीत कर आत्मा पर विजय प्राप्त की है । द्रव्यात्मा, कपायात्मा, योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा, इन आठ प्रकार की आत्माओं में से केवल एक कपायात्मा को जीत कर आपने आत्मविजय प्राप्त की है । वास्तव में कपाय ही ससार है, क्योंकि चार कपाय ही ससार को बढ़ाने वाले हैं । जो व्यक्ति चार कपायो को जीत लेता है वही आत्मविजय प्राप्त करके ससार का उच्छेद कर सकता है ।

सुना जाता है कि यूरोप में युद्ध की तैयारियां हो रही हैं । पाश्चात्य लोग युद्ध की तैयारी कर रहे हैं तो तुमने भी क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी आन्तरिक शत्रुओं को जीतने की तैयारी की है या नहीं ? बाह्य युद्ध की अपेक्षा आन्तरिक युद्ध करना उचित है । बाह्य युद्ध करने में मान व हिंसा, रक्तपात तथा धन-जन की हानि तो होती ही है, साथ ही दूसरों को लूटने को, पददलित करने की मनोवृत्ति-वैरवृत्ति भी हृदय में उत्पन्न होती है । ज्यो-ज्यो वैरवृत्ति बढ़ती जायेगी, त्यो-त्यो ससार में अशांति का साम्राज्य बढ़ता जायेगा और परिणाम यह होगा कि ससार में सुख और शांति अदृश्य हो जाएगी । इसमें विपरीत अगर वैरवृत्ति का त्याग करके क्रोध, मान, माया और लोभ को, जिनके कारण संसार में विध्वंसकारी विप्लव जागता है, जीतने के लिए कपायात्मा के साथ दया, क्षमा आदि अहिंसात्मक शस्त्रों द्वारा आन्तरिक युद्ध किया जाये तो दूसरों को लूटने को, पददलित करने की जो मलीनवृत्ति है, उस पर विजय प्राप्त किया जा सकता है । वैर पर

विजय प्राप्त करने से आत्मशांति तो मिलेगी ही, विश्व में भी शांति स्थापित हो जाएगी। विश्व में सुख-शांति स्थापित करने के लिए दया, क्षमा आदि अहिंसात्मक साधनों द्वारा कषायात्मा को जीतना ही एकमात्र अमोघ मार्ग है। आज “शठ प्रति शाठ्यम्” अर्थात् वैर का बदला वैर से लेने की नीति प्रयोग में लाई जा रही है। मगर इस प्रकार के वैर-युक्त व्यवहार से ससार में कदापि सुख-शांति की स्थापना नहीं हो सकती है और न हो सकती है। क्योंकि शान्ति स्थापित करने का यह मार्ग ही नहीं है। शान्ति स्थापित करने का सच्चा और अमोघ मार्ग तो “शठ प्रत्यपि सत्यम्” अर्थात् वैर का बदला भी क्षमा से देना है। विश्वशांति की स्थापना तो तभी हो सकती है जब थप्पड़ का बदला भी क्षमा से दिया जाये। शास्त्रकार तो बहुत प्राचीन समय से ही पुकार-पुकार कर यह बात कह रहे हैं, परन्तु अब गांधीजी जैसे राजनीतिज्ञ भी यही कहते हैं। दूसरों को शांति पहुंचाने से ही शांति प्राप्त हो सकती है। दूसरों को अशांत करके स्वयं शांति की अभिलाषा करने से शांति नहीं मिल सकती। अशांति बढ़ाने से शांति नहीं बरन् अशांति ही फैलेगी।

सन् १९१४ में अंग्रेजों और जर्मनों के बीच महायुद्ध हुआ था। कहा जाता है कि इस युद्ध में अंग्रेजों ने जर्मनों को पराजित किया था और शांति स्थापित की थी। परन्तु वह शांति राख ढकी अग्नि के समान किस प्रकार उत्पात मचाने वाली थी, यह आज प्रत्यक्ष देखा या सुना जा सकता है। इस घटना से इतना सार अवश्य निकलता है कि शस्त्र-बल से किसी को थोड़े समय के लिए भले ही पराजित कर दिया जाये परन्तु ऐसा करने से शांति स्थापित नहीं हो

सकती । जब तक हृदय में से वैरवृत्ति नहीं निकल जाती तब तक अशांति नहीं मिट सकती । अशांति को दूर करना आवश्यक है । दूसरो को शांति पहुंचाने से ही शांति उत्पन्न हो सकती है । वैर का बदला वैर से लेने से तो वैर ही बढ़ता है । अतएव वैरवृत्ति का विनाश करने के लिए तथा विश्व में शांति की स्थापना के लिए कषायात्मा को जीतना अनिवार्य है । जो आत्मा मैत्रीपूर्ण आचार और विवेकपूर्ण विचार द्वारा कषाय को जीतने का प्रयत्न करता है, वह कषाय को जीत सकता है और विश्व में शांति भी स्थापित कर सकता है ।

प्रश्न हो सकता है कि किस प्रकार जाना जा सकता है कि हमने कषाय को जीत लिया है ? इस प्रश्न का सामान्य उत्तर यही दिया जा सकता है कि अपने व्यवहार से ही पता लग सकता है कि वास्तव में हमने कषाय को जीत लिया है या नहीं ।

आचार और विचार के एकीकरण से ही इष्ट कार्य की सिद्धि होती है । निश्चय और व्यवहार में आचार तथा विचार एक ही होना चाहिए । महापुरुषों की मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति एक ही प्रकार की होती है ।

**मनस्येक वचस्येक कार्यैरेक महात्मनाम् ।**

अर्थात् महात्माओं के मन में, वचन में तथा कार्यों में एक ही सरीखी प्रवृत्ति होती है ।

जो व्यक्ति क्रोध, मान, माया और लोभ को जीत लेता है, उस व्यक्ति का व्यवहार सरल बन जाता है निश्चय में जो कषाय-विजयी होता है वह व्यवहार में भी



कषायजित कहलाता है । गौतम स्वामी के व्यवहार से ही केशी स्वामी ने उन्हें जितात्मा तथा कषायविजयी कहा था । गौतम स्वामी का निश्चय व्यवहार में न उतरा होता तो केशी स्वामी उन्हें कषायविजयी के रूप में किस प्रकार पहचान सकते थे ? गौतम स्वामी के व्यवहार ने ही प्रकट कर दिया कि उनमें क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है । जो निश्चय में होता है वही व्यवहार में आता है । व्यवहार से ही निश्चय का पता लगता है । जब कोई वृक्ष ऊपर से हरा-भरा दिखाई देता है तो उसकी जड़ भी हरी-भरी होने का अनुमान किया जा सकता है । इसी प्रकार व्यवहार से निश्चय का अनुमान किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त निश्चय के साथ व्यवहार की भी आवश्यकता रहती है । केवल निश्चय या केवल व्यवहार को पकड़ कर बैठ जाने से काम नहीं चल सकता । निश्चय और व्यवहार दोनों से ही इष्ट कार्य सिद्ध होता है । वर्षा हो मगर बीज या अंकुर न होगा तो क्या उगेगा ? इसी प्रकार बीज या अंकुर हो मगर वर्षा न हो तो भी अंकुर कैसे बढ़ेगा ? वर्षा हो और बीज भी हो, तभी अंकुर उग सकता है । इसी तरह निश्चय और व्यवहार दोनों से ही काम चल सकता है । किसी एक से नहीं ।

संसार में अनेक मत मतान्तर हैं । इन मत मतान्तरों की विपुलता के कारण लोगों की बुद्धि चक्कर में पड़ गई है । पर हमें तो वही मानना चाहिए जो केशी स्वामी और गौतम स्वामी ने कहा है । हमें वही बात मान्य होनी चाहिए जो वीतराग प्रभु सर्वज्ञ तीर्थंकर ने बतलाई है । अगर कोई बात हमारी समझ में न आवे तो भी अपने हृदय में ऐसा

दृढ विश्वास होना चाहिए कि—

तमेव सच्च निस्सकियं ज जिणेहि पवेइयं—एवं सद्वह-  
माणा, एवं पत्तयमाणा एवं रोयमाणा, देवाणुप्पियाणं आणाए  
आराहिय भवइ ?

हंता गोयमा ! भवइ ।

अर्थात्—कदाचित् कोई वान अपनी बुद्धि में न आती  
हो तो उस पर हृदय में ऐसा दृढ विश्वास होना चाहिए कि  
वीतगग जिन भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह सत्य है और  
उसके विषय में मुझे किसी भी प्रकार का सदेह नहीं है ।  
मैं उनके कथन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखता हू ।  
गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा - इस प्रकार कह कर जो  
आपके वचन पर श्रद्धा रखता है वह आराधक है ? भगवान्  
ने उत्तर दिया—हाँ, गौतम ! वह जीव आराधक है । इस  
प्रकार तीर्थंकर भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह अपनी बुद्धि  
में न आये तो भी उनके कथन पर श्रद्धा रखनी चाहिए ।  
श्रद्धा आत्मा को प्रकाशित करने वाली दीपिका है — आत्मा  
को ज्योतिर्मयी बनाने वाला दिव्य दीपक है ।

कहने का आशय यह है कि चित्त की शुद्धि अथवा  
भावविशुद्धि का महत्त्व केशी महाराज तथा गौतम स्वामी  
ने भी बतलाया है । अतएव भावसत्य द्वारा चित्त की शुद्धि  
करने का प्रयत्न करना चाहिए । ससार में संयोग तो अनेक  
प्रकार के प्राप्त होते हैं परन्तु उन संयोगों के कारण अपने भावों  
में अशुद्धता नहीं आने देना चाहिए । विषम संयोग प्राप्त  
होने पर भी अजना सती की भाँति चित्त को शुद्ध रखना  
चाहिए ।

भावसत्य का फल बतलाते हुए भगवान् ने बतलाया है कि भावसत्य से हृदय की शुद्धि होती है । भावविशुद्धि से करण और योग की विशुद्धि होती है । इस प्रकार विशुद्ध अन्तःकरण वाला जीवात्मा अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना कर सकता है और जो अर्हत्प्ररूपित धर्म की आराधना करता है वही परलोक में धर्म की आराधना कर सकता है ।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि अर्हत्-धर्म की आराधना और परलोक की आराधना क्या भिन्न-भिन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ दोनों को भिन्न कहकर लक्षण द्वारा दोनों का सम्बन्ध बतलाया गया है । इस लक्षण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि अर्हत् धर्म की आराधना आस्तिक ही कर सकता है । जो आस्तिक नहीं है—नास्तिक है, वह अर्हत्-धर्म की आराधना नहीं कर सकता ।

भगवान् महावीर के युग में भी अनेक नास्तिक थे और आजकल तो इस मत की बहुत प्रबलता हो गई है । आधुनिक भौतिक विज्ञानवेत्ता भी कहते हैं कि पाँच भूतों के सम्मिलन से जीवन पैदा होता है और जब पाँचों भूत बिखर जाते हैं तो मृत्यु हो जाती है । कोई आत्मा न परलोक में जाता है, न परलोक से आता है । आत्मा जब तक रहता है तभी तक जीवन है और उसी का हट जाना मृत्यु है । भृगु पुरोहित के पुत्र देवभद्र तथा यशोभद्र जब समय धारण कर रहे थे, तब उसके पिता भृगु ने कहा था—

जहा य अग्नी अरणी असतो,

खोरे घयं तेल्लमहातिलेनु ।

एमेव ताया ! सरीरसि सत्ता,  
समुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

अर्थात्—जैसे अरणि में अग्नि, दूध में घी और तिल में तेल प्रत्यक्ष से न दिखाई देने पर भी संयोगबल से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार, हे बालको ! पचभूतात्मक शरीर में से जीवात्मा उत्पन्न होता है और शरीर के नाश के साथ ही वह नष्ट हो जाता है । शरीर का नाश होने के पश्चात् चेतन नहीं रहता । (तो फिर धर्म किस लिए ? और संयम लेने की क्या आवश्यकता है ?)

चार्वाक मत का कथन है कि पाच महाभूतो से ही कोई शक्ति उत्पन्न होती है और शरीर के साथ ही वह क्षीण हो जाती है । परन्तु वास्तव में चेतना शक्ति का क्षय कभी हो ही नहीं सकता । अरणि में अग्नि, दूध में घी, और तिल में तेल भले ही प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो तथापि वह अव्यक्त रूप से रहता अवश्य है इसी प्रकार शरीर धारण करते समय कर्म से लिप्त चेतन तत्त्व विद्यमान होता है और शरीर क्षीण होने पर दूसरे शरीर में चला जाता है । पिता के कथन के उत्तर में पुत्रों ने कहा थाः—

नौ दूंदियगेऽभ्रमुत्तभावा,  
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।

अज्झत्थहेउं निययस्स वंधो,  
ससारहेउं च वयति वधं ॥

— उत्तरा०, १४, १६

अर्थात्—पिताजी ! आत्मा अमूर्त होने के कारण इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और अमूर्त होने

के कारण ही वह नित्य भी है । आत्मा यद्यपि नित्य है, तथापि जीवात्मा में अज्ञान आदि दोष मौजूद होने के कारण वह कर्मों से बद्ध होता है । यह बधन ही संसार-परिभ्रमण का कारण है, ऐसा महापुरुषों का कथन है ।

जितने अमूर्त द्रव्य है, सभी नित्य हैं । आकाश अमूर्त है तो वह नित्य है । परन्तु आकाश द्रव्य में जीव की तरह पर-सयोग से परिणमन नहीं होता, जब कि जीवात्मा (कर्म-बद्ध आत्मा) कर्म के वश होकर छोटे-बड़े आकारों में परिणत होता है और उच्च-नीच गतियों में गमन करता है ।

आत्मा अमूर्त होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं है । इन्द्रियाँ एक-एक विषय को ही ग्रहण करती हैं । जो विषय जिस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है, उस विषय को दूसरी इन्द्रिय ग्रहण नहीं कर सकती । सुनने का काम कान और देखने का काम आँख ही कर सकती है । अगर कोई व्यक्ति सुनने के लिए कान बन्द करके आँख खुली रखे अथवा देखने के समय आँख बन्द करके कान खुला रखे तो वह सुन या देख नहीं सकता । कारण यही है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ही ग्रहण कर सकती हैं । परन्तु आत्मा सब के विषय को ग्रहण कर लेता है और आत्मा होने के कारण ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में शक्तिमान् होती हैं । आत्मा जब शरीर में से निकल जाता है तो इन्द्रियाँ शरीर में रहती हुई भी अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं । मृत व्यक्ति की इन्द्रियाँ मृतक शरीर में मौजूद तो रहती हैं, लेकिन आत्मा के अभाव में वह काम नहीं कर सकती । इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि आत्मा की मौजूदगी में ही इन्द्रियाँ अपना

विषय ग्रहण कर सकती है । इस प्रकार आत्मा सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियो का स्वामी है ।

आत्मा की विद्यमानता में ही प्रत्येक काम हो सकता है । राजा भी तभी तक दण्ड दे सकता है जब तक शरीर में आत्मा है । आत्मा के निकल जाने पर राजा भी शरीर को दण्ड नहीं देता । आत्मा-विहीन शरीर या तो भस्म कर दिया जाता है या जमीन में गाड़ दिया जाता है ।

पुरोहित के पुत्र कहते हैं — आत्मा स्थूल आँखों से देखा नहीं जा सकता । वह अन्य इन्द्रियो द्वारा भी नहीं जाना जा सकता । वह आत्मा अमूर्त है । अमूर्त आत्मा मूर्त इन्द्रियो द्वारा किस प्रकार जाना जा सकता है ? आत्मा भले ही इन्द्रियग्राह्य नहीं है, फिर भी उसका अस्तित्व मानना पड़ता है । आत्मा को माने बिना काम नहीं चल सकता । परन्तु बहुत से नासमझ लोग नास्तिकों की कल्पित बातों में इसलिए फँस जाते हैं कि आत्मा न मानने से दान, धर्म, तप, शील आदि कुछ भी नहीं करना पड़ता और जीवन विषयभोग में व्यतीत हो जाता है । इन प्रकार विषयानन्द में फँस कर लोग नास्तिकता स्वीकार कर लेते हैं । परन्तु जिन महापुरुषों ने विषयसुख तथा ससार-सम्पदा का त्याग किया है उन पर अविश्वास करके आत्मा को स्वीकार न करना और जो विषयसुख के दास बने हुए हैं उनके कथन पर विश्वास करके, विषयलोलुप बनकर जीवन को नष्ट भ्रष्ट करना कहा तक उचित है ? इस प्रश्न पर गम्भीर विचार करना आवश्यक है ।

- देवभद्र और यशोभद्र अपने पिता भृगु पुरोहित से कहते हैं - पिताजी ! आप आत्म-तत्त्व को भूल कर ही ऐसा

कह रहे हैं कि आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं किन्तु दूध में घी की तरह शरीर में ही जीवनशक्ति है । सचाई यह है कि आत्मा और शरीर तलवार तथा म्यान की तरह जुदा-जुदा हैं । तलवार और म्यान अलग-अलग हैं फिर भी तलवार म्यान में रहती है । इसी प्रकार आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं पर आत्मा शरीर में रहता है । आत्मा अमूर्त तथा अविनाशी है । शरीर मूर्त और विनश्वर है । आत्मा अजर-अमर और शरीर शीण होने वाला है ।

प्रश्न हो सकता है कि अगर आत्मा अमूर्त और अविनाशी है तो मूर्त और विनश्वर शरीर के साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकार हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मिथ्यात्व आदि कारणों से ही आत्मा जन्म-घारण करता है और मरता है । आत्मा का जैसा अध्यवसाय होता है, वैसा ही उसका जन्म-मरण होता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि परमात्मा ही आत्मा को उत्पन्न करता और मारता है, परन्तु गम्भीर विचार करने पर यह कथन किसी भी प्रकार ठीक और युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता । इस स्रग्ध में गीता में भी स्पष्ट कहा है :—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥

अर्थात्— परमात्मा कर्ता नहीं है, कर्म कराता नहीं है, लोक का सर्जन करता नहीं है और न किसी को दण्ड ही देता है । यह सब स्वभाव से ही होता है । जैसे मुह में मिर्च डालने से चरपराहट लगती है और शक्कर डालने से मिठास मालूम होती है, उसी प्रकार कर्म का फल भी

स्वभावतः मिलता है । परमात्मा कर्म का फल देने या जन्म-मरण कराने के भगड़े में नहीं पड़ता । ऐसा होने पर भी कुछ लोग परमात्मा या काल आदि पर सारी जिम्मेदारी डाल कर कहते हैं—हम क्या करें ? काल ही ऐसा आ गया है । परमात्मा ने ही यह सब किया है । परन्तु इस प्रकार परमात्मा या काल आदि पर बोझा डालना अज्ञान है ।

शास्त्र कहता है कि तुम्हीं कर्म के कर्त्ता और तुम्हीं कर्म के भोक्ता हो । तुम स्वयं अपना सुवार या बिगाड़ कर सकते हो । स्वभाव, काल आदि की सहायता तुम्हारे कार्य में अपेक्षित अवश्य है परन्तु कर्म के कर्त्ता तो तुम स्वयं हो । तुम पुरुषार्थ करोगे तो तुम्हारे कार्य में काल आदि की सहायता भी तुम्हें मिलेगी । कहावत है—“हिम्मत मरदा मददे खुदा ।” इस कहावत का आशय यह है कि तुम हिम्मत रखोगे तो दूसरों की सहायता भी तुम्हें मिल जायेगी । हा, तुम पुरुषार्थ या प्रयत्न नहीं करोगे तो दूसरों की सहायता से वंचित रहोगे । अतएव अपना उत्तरदायित्व दूसरों पर मत डालो । अपना काम आप ही करना होगा ।

पुत्रों का युक्तिसंगत कथन सुन कर भृगु पुरोहित समझ गया । भृगु पुरोहित ने तथा उसकी पत्नी ने देवभद्र और यशोभद्र को समय ग्रहण करने की सहर्ष अनुमति दी । इतना ही नहीं, किन्तु स्वयं भी समय ग्रहण करके आत्म-कल्याण किया । शास्त्रकारों ने यह घटना शास्त्र में सुरक्षित रखी । इस घटना से सार ग्रहण करके तुम भी आत्मसुधार करके आत्मकल्याण करो ।

कहने का तात्पर्य यह है कि आस्तिक ही अर्हत्-प्ररूपित



धर्म की आराधना करता है वही वास्तव में आस्तिक है । इस प्रकार भगवान् महावीर ने भावसत्य को ही धर्म की आराधना का मूल कारण बतलाया है । अतएव धर्म की आराधना करने के लिए भावसत्य को जीवन में स्थान दो और हृदय की शुद्धि करो ' इसी में आत्मा का कल्याण है ।



# इक्यावनवाँ बोल

## करणसत्य

पिछले बोल मे भावसत्य का विचार किया गया है । भावसत्य से होने वाले लाभ के विषय मे भगवान् ने कहा है— भावसत्य से जीवात्मा भावविशुद्धि प्राप्त करता है और भावविशुद्धि से करण तथा योग की भी विशुद्धि होती है । अब गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं कि करण-सत्य क्या है ? और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? प्रश्नोत्तर यह है :—

### मूलपाठ

प्रश्न—करणसच्चेण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—करणसच्चेण करणसत्ति जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहा कारो यावि भवइ ॥५१॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! करणसत्य से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर — करणसत्य (सत्य प्रवृत्ति करने) से सत्य क्रिया करने की शक्ति उत्पन्न होती है और सत्यप्रवृत्ति में स्थित जीवात्मा जैसा कहता है वैसा ही करता है ।

## व्याख्यान

करण का सामान्य अर्थ है—साधन । कर्त्ता जिस साधन की सहायता से क्रिया करता है उस साधन को 'करण' कहते हैं । जैसे कुम्भार चाक की सहायता से घड़ा बनाता है, अतएव चाक करण है । इसी प्रकार इन्द्रिया भी करण हैं । कर्त्ता इन इन्द्रियो से जैसा चाहे वैसा काम ले सकता है । आत्मा ( कर्त्ता ) ससार की वृद्धि करने में भी इन्द्रियो का उपयोग कर सकता है और ससार से मुक्त होने में भी उपयोग कर सकता है ।

आज लोग साधारण कलम के लिए भी परतन्त्र हो रहे हैं । प्राचीन समय में बरू की कलम बनाई जाती थी, मगर अब तो होल्डर और फाउन्टेनपेन का प्रचार बढ़ गया है । लोग समझते हैं कि मुभीते के साधन बढ़ जाने से हम सुखी हो गए हैं पर वास्तव में इन साधनों द्वारा सुख नहीं बढ़ा, परतन्त्रता ही बढ़ी है और खर्च भी बढ़ गया है । पहले बरू की कलम बनाने में कितना कम खर्च होता था ? मैं जब ससारावस्था में था तो बाजार से कुछ बरू खरीद लाया था । मैं जब तक ससारावस्था में रहा तब तक वे बरू काम में आते रहे और जो बचे वे मेरे दीक्षा के बाद दूसरों के काम आये होंगे । इस प्रकार पहले थोड़े से खर्च में काम चल सकता था और परतन्त्रता भी नहीं भोगनी पड़ती थी ।

जैसे लिखने के लिए कलम करण है, उसी प्रकार कलम बनाने के लिए चाकू करण है । तुम लोग बम्बई जाते हो । जिस साधन से तुम बम्बई जाते हो वह साधन चाहे रेलगाड़ी हो, मोटर हो या हवाई जहाज हो, करण है । इसी तरह आत्मा के लिए इन्द्रिया करण हैं । आत्मा चाहे तो इन्द्रियो द्वारा ससारवृद्धि भी कर सकता है और चाहे तो ससार से मुक्त होने के काम भी कर सकता है ।

भगवान् कहते हैं— करणसत्य से करण में सत्यता आती है और जब करण में सत्यता आती है तो जीव जैसा कहता है वैसा ही करके दिखा देता है । अगर उससे कोई काम नहीं हो सकता तो वह स्पष्ट कह देता है । जैसे आनन्द आदि श्रावको ने भगवान् से कहा था कि हम में संयम धारण करने की शक्ति नहीं है, मगर हम जो बात स्वीकार करेंगे, उसका पूर्ण रूप से पालन करेंगे ।

करण में सत्यता होगी तो कार्य भी बराबर सिद्ध होगा । चाकू अच्छा होगा तो कलम भी अच्छी बन सकती है । अगर चाकू ही अच्छा न हुआ तो खराब चकू से कलम की नोक ठीक नहीं निकलेगी । इसी भाँति जिस व्यक्ति में करण-सत्य होगा, वह जैसा बोलेगा वैसा ही कर दिखाएगा । करण में सत्यता आ जाने से कार्य में सरलता आए बिना नहीं रहती । जब करण में सत्यता आ जायेगी तो हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखाने के और, इस लोकोक्ति के अनुसार कहना कुछ, करना कुछ की भिन्नता नहीं रह सकती । फिर तो जैसा उच्चार होगा वैसा ही आचार होगा । अर्थात् वाणी तथा व्यवहार में भिन्नता नहीं रह जाएगी ।

आजकल के लोग प्रायः उच्चार के अनुसार आचार

नहीं करते, अर्थात् कहने के अनुसार कार्य नहीं करते । मानो, वे यह सोचते हैं कि उच्चार के पश्चात् आचार की आवश्यकता ही क्या है ! परन्तु शास्त्र कहता है कि वाणी के अनुसार कार्य न करने का कारण करणसत्य का अभाव ही है । जिसमें करणसत्य होगा वही व्यक्ति चार को आचार में उतारेगा, जो व्यक्ति जैसा बोलता है वैसा ही आचरण करता है, वही व्यक्ति लोक में प्रशंसा का पात्र बनता है । अरब देश के विषय में कहा जाता है कि वहाँ के लोग बहुत कम भूठ बोलते हैं । यह उन लोगों के लिए प्रशंसा की बात है, मगर भारतवासी कैसा बोलते हैं, इस बात का विचार करो । भारतीय भूठ तो नहीं बोलते ? अगर कहा जाये कि भारत में भूठ बोले बिना काम नहीं चलता, इस कारण भूठ बोलना पड़ता है तो इसका उत्तर यह है कि वास्तव में सत्य बोले बिना काम नहीं चल सकता । उदाहरणार्थ - किसी आदमी को खूब भूख लगी है । वह भूठ बोलता है । कहता है—'मुझे भूख नहीं लगी ।' ऐसी दशा में क्या उसका काम चल सकेगा ? उसका भूख का दुख दूर हो सकेगा ? अगर यह कहा जाये कि ऐसी जगह भूठ बोलने से काम नहीं चल सकता तो इसका अर्थ यह हुआ कि भोले लोगों को ठगने के लिए भूठ बोले बिना काम नहीं चल सकता ।

लोग समझ बैठे हैं कि हम भूठ बोलकर चाहे जिस तरह ठगें । हमें कौन देखता है ? पर शास्त्रकार कहते हैं—दूसरा कोई देखे या न देखे, पर तुम्हारा खुद का आत्मा और परमात्मा तो देखता है । अगर तुम परमात्मा को और अपने आत्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो जैसा कहते हो वैसा

ही आचरण करके दिखाना चाहिए कहना कुछ और करना कुछ, इस पद्धति को असीकार करने से तुम्हारा आत्मा सतुष्ट नहीं होता और परमात्मा भी प्रसन्न नहीं होता । कथनी और करनी में भिन्नता रखने से जीवन का व्यवहार ठीक तरह नहीं चल सकता । किसी ने कहा है—यह करना चाहिए—यह नहीं करना चाहिए' ऐसा दूसरो से तो कहा जाता है, परन्तु अपने कहने के अनुसार तू आप ही नहीं करता, यह कहा तक उचित कहा जा सकता है । कहना कुछ और करना कुछ, यह भेदनीति सर्वथा अनुचित है ।

जब गृहस्थो के लिए भी यह भेदनीति अनुचित गिनी जाती है तो साधुओ के लिए वह अनुचित और वर्ज्य हो, यह स्वाभाविक ही है । ऐसा होने पर भी कितनेक साधु भी बोलने में और करने में भिन्नता रखते हैं । परन्तु इस प्रकार के अनुचित व्यवहार से परमात्मा प्रसन्न नहीं हो सकता । परमात्मा को प्रसन्न करने के लिए उच्चार को आचार में लाने की अत्यन्त आवश्यकता रहती है ।



# बावनवां बोल

## योगसत्य

करण सत्य अर्थात् सत्य प्रवृत्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है । अब सत्य योग अर्थात् मन, वचन और काय के सत्य व्यापार से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में गीतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं—

## मूलपाठ

प्रश्न—जोगसच्चेण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर जोगसच्चेणं जोगे विसोहेई ॥ ५२ ॥

## शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! योग सत्य से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—योग-सत्य से योगी की विशुद्धि होती है ।

## व्याख्यान

मन, वचन और काय का व्यापार योग कहलाता है। मन, वचन और काय का व्यापार पन्द्रह प्रकार का है। मूल में योग के तीन भेद हैं मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इनके पन्द्रह भेद हैं मनयोग के चार भेद, वचनयोग के चार भेद और काययोग के सात भेद हैं। वचन और काय के साथ मन रहता है किन्तु कभी मन सत्य में प्रवृत्त होता है कभी असत्य में प्रवृत्त होता है। असत्य में मन प्रवृत्त तो होता है मगर योग को सत्य मन में ही प्रवृत्त करना चाहिये। सत्य मन में योग को प्रवृत्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह बतलाने के लिये ही गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है। भगवान् ने उत्तर दिया है कि सत्य-योग से योग की विशुद्धि होती है। मन में सत्य योग को प्रवृत्त करना ही योगसत्य है और योगसत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योग का अर्थ जोड़ना भी है। मन, वचन और काय को किसी के साथ जोड़ना भी योग कहलाता है। मन, वचन और काय को जिसके साथ जोड़ा जाता है उसी का योग कहते हैं। पानी में कोई वस्तु डाली जाये तो वह उस वस्तु का रंग अपना लेता है, इसी प्रकार अगर योग को सत्य में प्रवृत्त किया जाये तो वह सत्य-योग कहलायेगा और यदि असत्य में प्रवृत्त किया जाये तो असत्ययोग कहा जायेगा। इसी तरह अगर सत्य असत्य दोनों में योग मिश्रित किया जाये तो मिश्रयोग कहलाएगा।

तात्पर्य यह है कि योग को सत्य में प्रवृत्त करना



चाहिये । अब प्रश्न यह है कि सत्य किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर देना कुछ कठिन है । सत्य की पूर्ण व्याख्या तो वही महापुरुष कर सकते हैं । जन्होंने अपने जीवन में सत्य को तानेबाने की तरह बुन लिया हो । जिन महापुरुषों ने सत्य को सागोपाग सम्पूर्ण रूप से जीवन में उतार लिया है, उनमें और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रहता । क्योंकि शास्त्र में कहा है कि सत्य ही भगवान् है अर्थात् भगवत्प्राप्ति का सच्चा मार्ग सत्य ही है ।

सत्य की पूर्ण व्याख्या करना यद्यपि अपने लिए कठिन अवश्य है, फिर भी प्रत्येक मनुष्य अपने पुरुषार्थ द्वारा सर्वथा न सही, आशिक रूप में भी अपने ध्येय तक पहुँच ही सकता है । इस कथन के अनुसार अपनी शक्ति के अनुसार यहाँ यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायेगा कि सत्य क्या है ?

साधारणतया सभी मनुष्य सत्य का स्वरूप समझने की अभिलाषा रखते हैं, परन्तु वही लोग सत्य को ठीक तरह समझ सकते हैं, जिन्हें सत्य हृदय से प्रिय है । सत्य का उपासक बनने की इच्छा रखने वाला सत्य के समक्ष तीन लोक की सम्पदा को ही नहीं वरन् अपने प्राण को भी तुच्छ समझता है । किन्तु जो लोग किसी सम्प्रदाय, धर्म या मत के पीछे मतवाले बन जाते हैं और स्वार्थवश होकर सत्यासत्य का विवेक भूल जाते हैं, वे सत्य का स्वरूप नहीं समझ सकते । वे सत्य को अपने जीवन में उतार भी नहीं सकते । जीवन को नीतिमय प्रामाणिक, धार्मिक तथा उन्नत बनाने के लिए सर्वप्रथम सत्यमय बनाना आवश्यक

है । अतएव यहाँ सत्य के विषय में कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता है ।

जो नित्य है, अविनाशी है और विकारों से रहित है, वह सत्य कहलाता है । अविनाशोपन को प्राप्त करने के लिए जो व्यवहार किया जाता है वह भी सत्य है । श्रीस्थानागसूत्र के चौथे स्थान में सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है—

चउव्विहे सच्चे पणत्ते तजहा काउज्जुयया, भासुज्जु-  
यया भावुज्जुयया अविसवायणा जोगे ।

अर्थात्—काय की सरलता, भाषा की सरलता और मन, वचन, काय के योगों की सरलता का नाम सत्य है ।

जिस विचार, वाणी और कार्यप्रणाली में त्रिकाल में भी फेरफार न हो, जिसे आत्मा निष्पक्षभाव से ग्रहण करे, हृदय में सम्पूर्ण रूप से जिसके स्थित हो जाने पर भय, ग्लानि, अहंकार, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि कुत्सित भाव नष्ट हो जाएं तथा जो भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में होगा अथवा जिसके द्वारा आत्मा को सच्ची शांति प्राप्त हो, उसे सत्य कहते हैं ।

योगदर्शन के साधन-पाद के तीसरे सूत्र के भाष्य में वेदव्यास जी ने सत्य की व्याख्या करते हुए कहा है:—

सत्य यथार्थं वाङ्मनसो यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं  
तथा वाङ्मनश्चेति ।

परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्तायदि न वचिता भ्रान्ता  
वा प्रतिपत्तिवध्या वा भवेदिति ।

भाव यह है कि मनोयोगपूर्वक वाणी की यथार्थता होना सत्य कहलाता है । अर्थात् जैसा देखा हो, समझा हो,

वैसा ही दूसरों को दिखाया जाये, समझाया जाये तथा सुनाया जाये, यही सत्य है । किन्तु अगर वाक्चातुर्य से या असावधानी से उन्हीं शब्दों द्वारा दूसरों को भ्रमणा उत्पन्न हो तो उसे सत्य नहीं कहा जा सकता । संक्षेप में वास्तविक विचार, वाणी तथा व्यवहार सत्य कह जाता है । महाभारत में भी कहा है --

**अविकारितम सत्य सर्ववर्णेषु भारत !**

अर्थात्--समस्त वर्णों में विकाररहित रहने वाले को सत्य कहते हैं ।

सत्य की मूर्ति किसी पक्षण की बनी नहीं होती और न उसका कोई स्थान ही नियत होता है । इस देह में रहे हुए जीव की भाँति सत्य सर्वत्र व्याप्त है । कोई वस्तु या कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ सत्य न हो । जिस वस्तु में सत्य नहीं है वह वस्तु ही किसी काम की नहीं रहती । जैसे सूर्य में सत्य वस्तु प्रकाश है । अगर सूर्य में से प्रकाश निकल जाये तो उसे कोई भी सूर्य नहीं रहेगा । दूध में सत्य वस्तु घा है । अगर दूध में से घी निकल जाये तो उसे वास्तव में दूध नहीं कहा जा सकता । कहने का आशय यह है कि सत्य उस स्वाभाविक और वास्तविक वस्तु का नाम है, जिसके होने से किसी वस्तु, विचार, वाणी या काय वगैरह के नाम रूप तथा गुणों में परिवर्तन न हो सके । सत्य अपरि-र्त्तनशील और स्वाभाविक है ।

सत्य एक व्यापक और सार्वभौम सिद्धान्त है । ससार में विभिन्न मत हैं और उनके सिद्धान्त अलग-अलग हैं । कुछ मतों के ब्राह्म सिद्धान्तों में तो इतनी अधिक भिन्नता

होती है कि एक मतानुयायी दूसरे मत के अनुयायी से मिल भी नहीं सकता । यही नहीं वरन् इन सिद्धान्तों को पकड़े रखकर वे प्रायः महायुद्ध मचा देते हैं । ऐसा होने पर भी अगर सब मतावलम्बी गम्भीरतापूर्वक निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि धर्म का पाया सत्य पर ही टिका है और वह सत्य सब का एक है । अगर इस सत्य का सच्चा स्वरूप समझा जाये तो जो लोग धर्म के नाम पर परस्पर द्वेष रखकर कलह करते हैं, वे भी कलह और द्वेष का त्याग करके भाई-भई की तरह एक दूसरे के गले मिलेंगे और प्रेमपूर्वक भेटने के लिए तैयार हो जाएंगे ।

प्रत्येक मनुष्य सत्य का पूजन कर सकता है । सत्य का पूजन करने में जाति या धर्म का कोई बन्धन नहीं है । यही नहीं वरन् जो कोई भी चाहे वह किसी भी जाति का या किसी भी धर्म का हो—सत्य का आचरण करता है । वह सच्चा धर्मात्मा बन जाता है । सत्य-पूजा की सामग्री के लिये साधारणतया एक कौड़ी भी नहीं खर्चनी पड़ती, परन्तु कभी-कभी सत्यपूजा के लिये इतना अधिक आत्म-त्याग करना पड़ता है कि ससार का कोई भी त्याग उसकी बराबरी नहीं कर सकता । पूछा जा सकता है कि सत्य की पूजा किस प्रकार करनी चाहिए ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही दिया जा सकता है कि—‘सत्य चर ।’ अर्थात् सत्य का आचरण करो । मन, वचन और काय से सत्य का आचरण करना ही सत्य की सच्ची पूजा है ।

सत्य का पूर्ण स्वरूप तो केवली भगवान् ही जानते हैं । हम लोग स्वयं अपूर्ण हैं । हम पूर्ण सत्य का वर्णन

किस प्रकार कर सकते हैं ? केवली भगवान् जितना जानते हैं उतना वे भी कह नहीं सकते, क्योंकि योग तो समयानुसार ही प्रवर्तित होता है। ऐसी स्थिति में वे जितना जानते हैं, उस सब का वर्णन किस प्रकार कर सकते हैं ? हम लोग भी जितना देखते हैं उतना वर्णन नहीं कर सकते, तो फिर जो अखिल संसार को हाथ की रेखा की तरह देखते हैं, वे सब का कथन किस प्रकार कर सकते हैं ? इस प्रकार पूर्ण सत्य तो अनिर्वचनीय अकथनीय है। पूर्ण सत्य की परिसीमा पर पहुचने से मन और वाणी भी उसी में समा जाते हैं। अतएव पूर्ण सत्य अनिर्वचनीय है। यहा जिस सत्य का कथन किया गया है वह तो व्यावहारिक सत्य है। जो वास्तविकता से विरुद्ध नहीं है और जिसके विषय में किसी प्रकार का कपट सेवन नहीं किया गया है, वह व्यावहारिक सत्य है। इस सत्य के साथ योग का सबन्ध जोड़ना योगसत्य है। इम योगसत्य से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा है। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—योग-सत्य से योग की विशुद्धि होती है।

योगसत्य और योग-प्रसत्य में क्या अन्तर है ? यह बात एक व्यावहारिक उदाहरण देकर समझाता हूँ। मान लीजिये एक सेठ के पास कोई आदमी दम रु० उधार लेने आया। सेठ के पास तिजोरी में रुपया है मगर वह उस आदमी को देना नहीं चाहता और न यही चाहता है कि मागने वाले को बुरा लगे। अतएव सेठ मागने वाले से कहता है—“मैं तुम्हें रुपया अवश्य देता, मगर अभी शिलक में रुपया न होने के कारण असमर्थ हूँ।” ऐसा कहने वाले

सेठ ने अपना योग असत्य में प्रवृत्त किया या नहीं ? सेठ मिथ्या बोला लेकिन उस आदमी को सेठ के कथन पर विश्वास नहीं हुआ । उसने मन में यही सोचा होगा— यह सेठ झूठ बोलता है । यह कैसे माना जा सकता है कि उसके पास दस रुपया भी नहीं है ! सेठ तो यह सोचता है कि मेरे तिजोरी में रुपया है या नहीं, यह कौन देखता है ? मगर वह यह नहीं सोचता कि दूसरा कोई देखे या न देखे, मेरा मन तो जानता है कि तिजोरी में रुपया है, फिर भी मैं मिथ्या बोला और रुपया न देने के लिए कपट किया । इस प्रकार योग को असत्य में प्रवृत्त करना योग असत्य है । अगर सेठ उस आदमी से यह कह देता कि मेरे पास रुपया तो है पर इस समय मैं तुम्हें रुपया नहीं दे सकता । ऐसा कहने से सत्य की रक्षा होती । ऐसे सत्य में योग को प्रवृत्त करना योगसत्य है । इसी प्रकार सेठ यदि यह कहता कि मैं दस रुपया तो नहीं देता पांच दे सकता हूँ, तो यह भी सत्ययोग ही कहलाता । हा, सेठ ने यह कहा होता कि मेरे पास दस रुपया तो नहीं हैं, पांच ही है । तुम पांच रुपया ले जा सकते हो, यह कथन भी एक प्रकार से असत्य है; पर इसे मिश्र कहा जा सकता है । क्योंकि इस कथन में सत्य असत्य का मिश्रण है । ऐसे मिश्र में योग को प्रवृत्त करना मिश्रयोग कहलाता है ।

चौथा व्यवहारयोग है । वस्तु न होने पर भी विकल्प से वस्तु मानना अथवा एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप करके कथन करना विकल्प कहलाता है । जैसे— खाट शोर करती है । वास्तव में खाट शोर नहीं करती वरन् खाट पर बैठे आदमी शोर मचाते हैं । कोई कहता है— गाव भाग

गया । यहा यह कथन किया गया है कि गाव भागता है, परन्तु गाव मे बसने वाले लोग भ गते है-गाव नही । फिर भी व्यवहार में यही कहा जाता है कि सारा गाव भाग गया । वस्तु में सत्-असत् का निर्णय न करके व्यवहार मे जैसा कहा जाता है, वैसा ही कपटरहित मन से कहना व्यवहार है ऐसे व्यवहार मे योग को प्रवृत्त करना व्यवहारयोग कहलाता है ।

वचनयोग और काययोग के भी इसी प्रकार जुदे-जुदे भेद हैं । सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार, इन चारो मे से जिस योग को जिसके साथ जोडा जायेगा वह योग वैसा ही कहलाएगा । भगवान् ने सत्य मे योग जोडने का फल यह बतलाया है कि योगसत्य से योग की विशुद्धि हाती है अर्थात् आत्मा क्लेश कर्म के विपाक से रहित होता है ।

जैसे झाडू से घर का कचरा साफ किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे मन, वचन तथा काय की असत्य-प्रवृत्ति रूपी जो कचरा भरा हुआ है, उसे योगसत्य रूपी झाडू से साफ किया जाता है । किसी विशिष्ट व्यक्ति को घर आने का आमन्त्रण तभी दिया जाता है जब अपना घर पहले से ही साफ कर लिया हो । घर साफ-सुथरा न हो तो महान् पुरुष को घर पर आने का निमन्त्रण नही दिया जाता । इसी प्रकार अगर अपने आत्ममंदिर मे परमात्मा-देव को पधराना हो तो हमे आत्म-मंदिर मे से असत्य योग की प्रवृत्ति रूपी कचरे को बाहर निकाल देना चाहिए । ऐसा करना आवश्यक है ।

कितने ही लोग कहा करते हैं हमारा मन सामायिक मे नहीं लगता । पर जब तक मन असत्य योग मे प्रवृत्त हो रहा है तब तक वह सामायिक में कैसे लगेगा ? सामायिक मे मन एकाग्र करना हो तो मन को सत्ययोग मे प्रवृत्त करना चाहिए। जब मन सत्ययोग मे लग जायेगा तो मन सामायिक मे स्थिर हुए बिना नहीं रहेगा ।

अगर तुम्हारे मन, वचन और काय का व्यापार सत्ययोग मे प्रवृत्त होगा तो तुम्हारे योग की अवश्य विशुद्धि होगी और जब योग की विशुद्धि होगी तब तुम्हे किसी प्रकार का सकट नहीं सहन करना पड़ेगा और न दूसरे के शरण में ही जाना पड़ेगा । जो लोग योग को सत्य मे प्रवृत्त करते हैं, उनका सकट टल जाता है ।





# तिरेपनवां बोल

## मनोगुप्ति

ठीक तरह परमात्मा को पहचान कर विशुद्ध भाव से वन्दन-नमस्कार करके उसे सदा सहायक बनाने में अनेक विघ्न बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इन विघ्न-बाधाओं को दूर करने के लिए तथा उनसे बचने के लिए भी साधुत्व अंगीकार किया जाता है। यद्यपि साधुजन विघ्न-बाधाओं को जीतने के लिए ही सांसारिक वस्तुओं का त्याग करके सयम स्वीकार करते हैं, फिर भी मन, वचन और काय कभी-कभी साधुता की मर्यादा से बाहर निकल जाते हैं। उन्हें मर्यादा में रखने के लिए भगवान् ने मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का विधान किया है। मन की गुप्ति से अर्थात् मन को काबू में रखने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतमस्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

## मूलपाठ

प्रश्न—मणगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर मणगुत्ताए जीवे एगगंजणयइ एगगचित्तो  
णं जीवे मणगुत्तो सजमाराहए भवइ ॥ ३३ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न - भते ! मनोगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— मनोगुप्ति ( मन के सयम ) से जीवात्मा में एकाग्रता उत्पन्न होती है और एकाग्र-चित्त वाला जीवात्मा सयम का आराधक बनता है ।

### व्याख्यान

यह प्रश्न पहले योगसत्य के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर करने में आया है । योगसत्य तभी रखा जा सकता है जब मन, वचन और कार्य की गुप्ति अर्थात् रक्षा की जाती है । इसलिए योगसत्य के अनन्तर तीन गुप्तियों के विषय में प्रश्न किया गया है ।

मानव-शरीर में मन की प्रधानता है । अगर मन की गुप्ति अर्थात् रक्षा की जाये तो वचनगुप्ति तथा काय-गुप्ति भी सरलतापूर्वक रखी जा सकती है । मन, मानव-शरीर का प्रधान अंग होने के कारण उसकी रक्षा करना आवश्यक है । मन बहुत चंचल होता है, अतएव मन की चंचलता को रोकने के लिए शास्त्रों में तथा ग्रन्थों में खूब ऊहापोह किया गया है । मन की चंचलता के विषय में गीता में भी कहा है । —

चञ्चल हि मनः कृष्ण ! प्रसादि बलवद् दृढम् ।  
तस्याह निग्रह मन्ये, वायीरिव सुदुष्करम् ॥

अर्थात्—हे कृष्ण ! मन बहुत चंचल है । वह प्रमथन स्वभाव वाला है, दृढ़ है और बलवान् है । उसे वश में करना मुझे तो वायु को वश में करने के समान अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है ।

इस प्रकार मन की चंचलता दूर करने के सबन्ध में अर्जुन को भी शका हुई थी । दूसरे भक्त भी कहते हैं कि—हे प्रभो ! मेरा मन ऐसा है कि जिन कामों के करने से हानि सहनी पड़ती है, उन्हीं कामों में बार-बार प्रवृत्त होता है । ऐसा मन किस प्रकार वश में किया जा सकता है ?

इस तरह मन को वश में करना कठिन माना जाता है । परन्तु ज्ञानियों का कथन है कि यह कार्य जितना कठिन समझा जाता है, उतना कठिन नहीं है । यह ठीक है कि मन चंचल है मगर ऐसी बात नहीं है कि वह वश में हो ही न सके । यदि मन वश में किया हो न जा सकता हो तो शस्त्रकार ऐसा करने का उपदेश ही क्यों देते ? जो कार्य वास्तव में अशक्य है उसे करने का उपदेश कौन देता है ? तिलो से तेल निकालने का उपदेश देना तो स्वाभाविक और उचित है कि तु वालू में से तेल निकालने का उपदेश कोई नहीं देता । क्योंकि ऐसा होना अशक्य है । मन वश में तो किया जा सकता है परन्तु उसके लिये सक्रिय प्रयत्न करने की आवश्यकता है । इसीलिये यह उपदेश दिया जाता है कि मन को वश में करने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो । जिन प्रयत्नों द्वारा मन वश में किया जा सकता है उन प्रयत्नों द्वारा उसे वश में करके अनेक पुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, करते हैं और करेंगे ।

मन, वचन और काय को वश में करने के लिए ही

शःस्त्रकारो ने तीन गुप्तियों का विधान किया है। तीन गुप्तियाँ और पाँच समितियाँ तो साधुता का प्राण हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह आठो प्रवचनमाता हैं।

गुप्ति का अर्थ रक्षा करना होता है। मन, वचन और काय को वश में रखना, उनकी रक्षा करना गुप्ति है। मन, वचन और काय को वश में रखने का अर्थ उन्हें नष्ट कर देना नहीं है। इसका अर्थ यह है कि जैसे घोड़े को लगाम आदि द्वारा वश में रखा जाता है, उसी प्रकार मन, वचन, काय को वश में रखना गुप्ति है।

जैसे सीखा हुआ घोड़ा अपने सवार को निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा देने में समर्थ होता है, उसी प्रकार मन, वचन तथा काय आत्मसिद्धि प्राप्त करने में अगर सहायक बन जाँएँ तो कहना चाहिए कि उनकी गुप्ति हुई है। निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर सवार घोड़े से उतर पड़ता है, उसी प्रकार आत्मसिद्धि होने के बाद इन्द्रियों की सहायता लेने का भी त्याग कर दिया जाता है। अलवृत्ता जब तक आत्मा का उद्देश्य सिद्ध नहीं हुआ है तब तक मन, वचन, काय से विवेकपूर्वक काम लेना पड़ता है। मन, वचन तथा काय से विवेकपूर्वक काम लेना ही गुप्ति है। मन, वचन, काय को नष्ट कर देना गुप्ति नहीं है। यह तो आत्महत्या है। अतएव मन, वचन तथा काय को निवृत्ति में प्रवृत्त करना ही गुप्ति है। किसी भी वस्तु से निवृत्त होने के लिए प्रवृत्ति करना आवश्यक है। प्रवृत्ति के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती और निवृत्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतएव मन, वचन और काय को निवृत्त करने के लिए सर्वप्रथम उन्हें आर्तध्यान से हटा कर धर्म-ध्यान

मे प्रवृत्त करना चाहिए, ऐसा न करके अगर इन्द्रियो को एकान्त निवृत्तिमय बनाया जाये तो परिणाम सुन्दर नहीं आ सकता। इस कारण इन्द्रियो को सर्व प्रथम आर्त्तध्यान से बाहर करके धर्मध्यान में प्रवृत्त करना चाहिए।

प्रसंग के अनुसार यहाँ आर्त्तध्यान पर विचार करना आवश्यक है। दुःखपूर्ण ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है। शास्त्र में भी कहा है

अट्टज्भाणे चउविहे चउपडियारे पणत्ते ।

अर्थात्—आर्त्तध्यान कैसा होता है और उसका स्वरूप क्या है यह नीचे की कविता में स्पष्ट रूप से समझाया गया है —

इष्ट वियोग विकलता भारी, अरु अनिष्ट संयोग दुखारी ।  
तन की व्याधि मन हि मन भूरे अग्र सोच करि वञ्चित पूरे ।  
ये आरत के चारो पाये, महा मोह-रस से लिपटाये ।

अर्थात् किसी इष्ट वस्तु का वियोग होने पर व्याकुल होना पहला आर्त्तध्यान है। शास्त्र कहता है कि जिस वस्तु के वियोग से तू दुःखी हो रहा है, वह वस्तु अगर वास्तव में तेरी होती तो उसका वियोग ही क्यों होता? जो वस्तु नष्ट हो गई है, वह वास्तव में तेरी नहीं है। फिर भी उस वस्तु से तू दुःख मानता है, इसका प्रधान कारण तेरा मिथ्या मोह है।

अनिष्ट वस्तु के संयोग के कारण विकल होना दूसरा आर्त्तध्यान है। व्याधि उत्पन्न होने से दुःखी होना तीसरा आर्त्तध्यान है और भविष्य सम्बन्धी चिन्ता करके दुःखी होना चौथा आर्त्तध्यान है। इस चौथे आर्त्तध्यान का रूप बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं —

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,  
इमं च मे किञ्चमिमं अकिञ्चं ।

त एवमेवं लालप्पमाणं,  
हरा हरति त्ति कंहं पमाए ?

— उ० १४, १५

अर्थात्—यह मेरा है और यह मेरा नहीं है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है, इस प्रकार बड़बडाते हुए प्राणी को रात और दिन रूपी चोर (आयु को) चुरा रहे हैं । ऐसी दशा में प्रमाद क्यों करना चाहिए ?

इस प्रकार भविष्य के विचार से जो दुःख उत्पन्न होता है, वह आर्त्तध्यान का चौथा भेद है ।

किसी भी साधारण वस्तु के कारण किस प्रकार प्रपञ्च खड़ा हो जाता है, इस विषय में एक घटना सुनी है । एक आदमी नीलाम में पलग खरीद लाया । वह पलग कारीगरी का अद्भुत नमूना था । अतएव उस पलग के कारण उस आदमी के घर साठ हजार का दूसरा सामान खरीदा गया । यह बात अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ती है किन्तु घर में एक चीज बसाने पर कितना प्रपञ्च और कितना खर्च करना पड़ता है, इस घटना से यह बात समझी जा सकती है । तुम एक सुन्दर बटनो का सेट खरीदोगे तो बटनो के अनुकूल सुन्दर सिलाई वाले घुले कपड़े पहनने की भी आवश्यकता प्रतीत होगी । जब तुम सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होओगे तो बकिया छतरी और सुन्दर बूट आदि की भी आवश्यकता रहेगी । अब विचार करो कि एक सामान्य बटन के कारण कितना खर्च करना पड़ा ? इसी प्रकार तुम

लोग बारीक वस्त्र पहन कर सोचते हो कि हमें कपड़ा सस्ता मिला, परन्तु इस बारीक वस्त्र के पीछे कितना अधिक खर्च करना पड़ता है और परिणाम-स्वरूप किस प्रकार आर्त्तध्यान में पड़ना पड़ता है, इस बात का विचार करोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि जीवन में संयम और सादगी रखने से ही आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मोह के कारण यह चार प्रकार का आर्त्तध्यान किया जाता है । इस प्रकार के आर्त्तध्यान को धर्मध्यान या शुक्लध्यान के द्वारा ही जीता जा सकता है । शुक्लध्यान आत्मविकास की उच्च श्रेणी है । अतएव अगर धर्मध्यान किया जाये तो आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है और फिर धीरे-धीरे शुक्लध्यान की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है ।

धर्मध्यान किसे कहते हैं और धर्मध्यान से आर्त्तध्यान किस प्रकार दूर हो सकता है, इस विषय में कहा है:—

केवलिभाषित वाणी माने, कर्मनाश का उद्यम ठाने ।

पूरव कर्म उदय पहचाने, पुरुषाकार लोकथिति जाने ।

धर्मध्यान के चारो पाये, जे समझे ते मारग आये ।

अगर इष्टवियोग के कारण आर्त्तध्यान हो तो केवलि-भाषित वाणी पर विश्वास करके धर्मध्यान में प्रवृत्ति करनी चाहिये और यदि अनिष्टसंयोग के कारण आर्त्तध्यान हो तो कर्मों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए । शास्त्रकार का कथन है कि आर्त्तध्यान के प्रसंग पर धर्मध्यान करने से कठिन बन्ध भी शिथिल पड़ जाता है । शरीर में व्याधि हो तो पूर्व कर्मों का स्मरण करके सोचना चाहिए कि—मैंने ही यह व्याधि उत्पन्न की है, तो मुझे दुःख क्यों मनाना

चाहिए ? जब किसी की वस्तु मैंने उधार ली है तो मुझे वापिस सौंपनी ही चाहिए ।

गांधीजी जब अफ्रीका में थे तो उन्हें ईसाई बनाने के लिए एक बाई ने बहुत प्रयत्न किया था । जब उसके सब प्रयत्न निष्फल हुए तब उसने गांधीजी से कहा 'अपन पापी तो हैं ही और अग्न से पाप होते हा रहते हैं । अगर हम इन पापों का फल भोगने बैठें तो कही अन्त ही नही आएगा । अतएव हमें ईसा की शरण में जाना चाहिए । जो ईसा की शरण में चले जाते हैं उनके पाप का फल ईसा भोग लेते हैं और शरणागत लोग पाप के फल से बच जाते हैं । इस कथन के उत्तर में गांधीजी ने कहा — 'यह कैसा धर्म है ! पाप से तो डरना नही और पाप के फल से डर कर ईसा की शरण में जाना । यह सर्वथा अनुचित है । 'जब हमने पाप किया है तो उसका फल भी हमें ही भोगा चाहिए । '

इसी प्रकार जब रोग आवे तो सोचना चाहिए कि मेरे किये कर्म मुझे भोगना ही चाहिए । इसमें मुझे दुःख का अनुभव नही करना चाहिए । इस प्रकार विचार करके वेदना के समय दुःख न मानने से अर्थात् आर्त्तध्यान न करने से और उसके बदले धर्मध्यान करने से कमबन्ध भी ढीला पड जाता है ।

इस श्लोक को पुरुषाकार मानकर लोकस्थिति के विषय में विचार करना चाहिए, यह धर्मध्यान का चौथा प्रकार है । स्वर्ग और नरक इस शरीर में है . शरीर में नीचे नरक, मध्य में मनुष्यलोक और ऊपर स्वर्ग है । नवग्रहवेयक के विषय में कहा जाता है कि अपनी गर्दन ही



नवग्रवेयक है । इस प्रकार अपने शरीर को चौदह राजू लोक का नक्शा मानकर लोकस्थिति के विषय में विचार किया जाये तो मन धर्मध्यान में प्रवृत्त होता है ।

कहने का आशय यह है कि धर्मध्यान की सहायता से आर्त्तध्यान से बचाव हो सकता है और मन को एकाग्र किया जा सकता है । धर्मध्यान करना और आर्त्तध्यान से बचते रहना भी मनोगुप्ति का साधन है । मनोगुप्ति के विषय में कहा भी है :—

विमुक्तकल्पनाजालं समत्वेषु प्रतिष्ठितम् ।

आत्माराम मनस्तज्जर्मेनोगुप्तिः सदाहता ॥

अर्थात् कल्पना के जाल से बाहर निकलकर समभाव में स्थिर होना, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में से निकलकर धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्त होना और मन को आत्म-विचार में ही तन्मय कर देना मनोगुप्ति है । मन जब आत्मा में ही रमण करता है अन्यत्र नहीं जाता, तभी पूर्ण मनोगुप्ति होती है ।

साधारणतया तो समिति और गुप्ति का मार्ग साधुओं के लिए है, परन्तु इस मार्ग को समझकर तुम लोग भी अगर मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करोगे तो तुम्हारे आत्मा का भी बहुत लाभ होगा । आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से निवृत्त होना ही गुप्ति है । इस प्रकार की गुप्ति का पालन गृहस्थ भी कर सकता है । मनोगुप्ति का पालन करने से दुःख भी सुख में परिणत हो सकता है ।



# चौपनवाँ बोल



## वचनगुप्ति

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का आपस में धनिष्ठ सम्बन्ध है । अतएव यहा सामान्य रूप से गुप्ति के विषय मे विचार किया गया है । मानव शरीर मे मन की प्रधानता होने से सर्वप्रथम मन की गुप्ति करना आवश्यक है । जब तक मनोगुप्ति नहीं की जाता तब तक वचनगुप्ति और कायगुप्ति नहीं हो सकती ।

वचन की गुप्ति से अर्थात् वाणी पर काबू रखने से जीव को क्या लाभ होता है, यह जानने के लिए गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा :--

## मूलपाठ

प्रश्न— वयगुत्तयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— वयगुत्तयाए निव्वियारत्तं जणयइ, निव्वियारे  
५ जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ ॥ ५४ ॥

## शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! वचनगुप्ति से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— हे गौतम ! वचनगुप्ति ( वाणी के समय ) से जीवात्मा विकाररहित होता है और निर्विकार जीव आध्यात्मिक योग के साधनों से युक्त होकर विचरता है ।

## व्याख्यान

प्रश्न किया जा सकता है कि अगर मन पर नियंत्रण कर लिया जाये तो फिर वाणी के नियन्त्रण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर तो कोई योगी महात्मा ही दे सकते हैं, फिर भी मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उत्तर देने का प्रयत्न करता हूँ :—

तालाब में जैसे पानी की आवश्यकता रहती है, उसी प्रकार पानी की रक्षा करने के लिए पाल बांधने की भी आवश्यकता होती है । पानी के अभाव में पाल बांधने की आवश्यकता नहीं है और पाल बांधे बिना पानी टिक नहीं सकता । तालाब में पाल बांधी हो तो पानी भी टिक सकता है और पानी को टिकाए रखने के लिए पाल बांधना आवश्यक होता है । इसी प्रकार मनोगुप्ति के साथ वचनगुप्ति का होना भी आवश्यक है ।

वचनगुप्ति का साधारण अर्थ वाणी पर काबू रखना है । वचन पर एकदम काबू पा लेना कठिन है । अतएव सर्वप्रथम अप्रशस्त वचन बोलना कम करके प्रशस्त वचन बोलने का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने से वचनगुप्ति का

सम्पूर्ण रूप से पालन हो सकेगा । श्री उत्तगध्ययन सूत्र में वचनगुप्ति के चार भेद बतलाए गए हैं । उसमें कहा हैः—

सच्चा तहेव मोसा य सच्चामोसा तहेव य ।  
चउत्थी असच्चमोसा य वयगुत्तो चउच्चिहा ॥

अर्थात्—वचनगुप्ति चार प्रकार की है—(१) सत्य-वचनगुप्ति (२) असत्यवचनगुप्ति (३) सत्य-असत्य-वचन-गुप्ति और (४) व्यवहारवचनगुप्ति । जो व्यक्ति यह चार प्रकार की वचनगुप्ति रखता है, उसके लिए भगवान् ने कहा है कि वचनगुप्ति रखने के कारण वह व्यक्ति निर्विकार दशा प्राप्त करता है ।

आत्मा का निज स्वरूप में रमण करना निर्विकारीपन है और परवस्तु में रमण करना विकारीपन है । पर-वस्तु चाहे जैसी हो, उसमें रमण करना आत्मा का विकार ही है । पानी में चाहे शक्कर डाली जाये, चाहे नमक डाला जाये, पर-वस्तु के संयोग से कारण पानी विकृत ही माना जाता है । पानी की प्रकृति तो तभी कहलाएगी जब वह अपने स्वरूप में स्थित होगा । इसी प्रकार आत्मा में निर्विकारपन तभी आ सकता है जब आत्मा वचनगुप्ति का पूरा-पूरा पालन करे । बोलने के कारण आत्मा को अपने प्रकृत स्वभाव से च्युत होना ही पड़ता है । लेकिन जब आत्मा मौन अवस्था में रह ही न सकता हो तो ऐसी स्थिति में असत्य वचन न बोलकर सत्य वचन बोलना ही आत्मा के लिए श्रेयस्कर है । अर्थात् अशुभ वचन न बोलकर शुभ वचन बोलना ही लाभकारक है । यद्यपि सत्य वचन बोलना शुभ है परन्तु आत्मा को निज दशा की दृष्टि से तो सत्य

वचन भी उसी प्रकार विकृतिजनक है जैसे शक्कर पानी में विकृतिजनक है । फिर भी जैसे पानी में नमक मिलाने की अपेक्षा शक्कर मिलाना शुभ माना जाता है, उसी प्रकार जब तक वचनगुप्ति का पूर्णरूप से पालन न किया जा सके तब तक असत्य, मिश्र और अशुभ में प्रवृत्त न करते हुये शुभ में अर्थात् सत्य में ही प्रवृत्त करना चाहिए । इस प्रकार सत्य वचन का व्यवहार करने से भी आत्मा में निर्विकार दशा उत्पन्न हो सकती है । विकाररहित पानी किस प्रकार गुणकारी होता है, यह बात डाक्टर लोग भलीभाँति जानते हैं । इसी प्रकार आत्मा जब निर्विकार होता है तो उसमें क्या विशेषता आ जाती है, यह बतलाने के लिए भगवान् ने कहा है कि जब आत्मा निर्विकारी बनता है तभी वह निज-स्वरूप में रमण करता है ।

भगवान् के इस कथन से एक सूचना यह भी मिलती है कि वचनगुप्ति का पालन करके आत्मा को निज-स्वरूप में रमण करना चाहिए । जब तक आत्म-स्वरूपरमणता प्रकट नहीं होती तब तक वचनगुप्ति का पालन सार्थक नहीं होता । साधारण रूप से तो बगुला मछलियों को पकड़ने के लिए चुपचाप रहता है, परन्तु उसकी वचनगुप्ति के पीछे स्वार्थवृत्ति अथवा पर-वस्तु को अपनाने की वृत्ति होने से वह वचनगुप्ति निरर्थक हो जाती है । अतएव वचनगुप्ति अगर आत्म स्वरूपरमण में सहायक न हो तो वह सार्थक नहीं हो सकती । वचनगुप्ति के बिना निर्विकारपन नहीं आ सकता और निर्विकारपन प्रकट हुए बिना निज स्वरूप नहीं साधा जा सकता । अतएव वचनगुप्ति आवश्यक है, परन्तु वचन-गुप्ति निज-स्वरूप साधने के लिए ही होनी चाहिए, स्वार्थ-

पूर्ति के लिए नहीं ।

वचनगुप्ति का जितना अधिक पालन हो सके उतना ही श्रेयस्कर है । आज घर-घर जो क्लेश-कलह होता देखा जाता है, उसका प्रधान कारण वचन पर अकुश न होना भी है । वचन पर अकुश रखा जाये तो बहुतसा कलह शांत हो सकता है । क्षत्रियत्व न रहने के कारण लोग तलवार चलाना तो भूल गये हैं, उसके बदले वचन वाण चलाना सीख गये हैं । मगर वचन-वाण तलवार से भी ज्यादा तीखे होते हैं, अतएव अधिक आघात पहुँचाते हैं । कोणिक की रानी पद्मा ने कठोर वचनों द्वारा कोणिक को इतना उत्तेजित कर दिया था कि महायुद्ध मच गया । इस महायुद्ध में एक करोड़, अस्सी लाख मनुष्य स्वाहा हो गए । लोग तलवार को तो सभाल रखते हैं परन्तु जीभ को वश में नहीं रखते इसी कारण क्लेश-कलह होता है । जीभ कैसी है और किस लिए तथा किस प्रकार उसकी सभाल रखनी चाहिए, इस सम्बन्ध में एक लोककवि ने कहा है । —

जीभ जोग अरु भोग जीभ ही रोग बढ़ावे,  
जिम्या से यश होय, जीभ से आदर पावे ।

जीभ नरक ले जाय, जीभ वैकुण्ठ पठावे,  
जीभ करे फजीत जीभ से जूता खावे ।

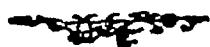
अदल तराजू जीभ है, गुण-अवगुण दोउ तोलिये,  
वैताल' कहे विक्रम सुनो जीभ सम्हाल कर बोलिये ॥

इस प्रकार जीभ की नौक पर गुण और अवगुण दोनों वसे हैं । अगर हम गुण ग्रहण करना चाहते हैं तो हमें जिह्वा से सत्य, प्रिय और पथ्य बोलना चाहिए । हमें एक भी ऐसा

कटुक वचन नहीं बोलना, जिससे दूसरे को दुःख हो और भविष्य में अपने को पश्चात्ताप करना पड़े। अगर जीभ का सदुपयोग करना न आता हो तो मौन साध लेना ही श्रेयस्कर है। कहा भी है—मौन सर्वार्थमाधकम्।' अर्थात् मौन सभी अर्थों को सिद्ध करने वाला है। परन्तु जब बोलना ही हो तो आगे-पीछे का विचार करके सत्य, प्रिय और पथ्य ही बोलना चाहिए। योगशास्त्र में कहा है कि—'जो सत्य वचन बोलता है उसके वचन में सिद्धि बसती है' अर्थात् सत्यभाषी को प्रत्येक कार्य में सिद्धि मिलती है। श्री प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा है कि सत्य के प्रभाव से आग भी शीतल हो जाती है और तनवार भी फूल की माला बन जाती है। इस प्रकार सत्य वचन में सिद्धि का निवास है। जिस जीभ द्वारा सिद्धि देने वाले सत्य वचन बोले जा सकते हैं, उस जीभ को खराब कामों में प्रवृत्त करना सर्वथा अनुचित है। जो व्यक्ति सत्य वचन बोलता है वह कभी वचन-गुप्ति का पूर्णतः पालन करने के लिए निर्विकार बन सकता है और अध्यात्मयोग साध सकता है। अगर कोई व्यक्ति मुख से अविवेकपूर्ण वचन निकलता रहे और अध्यात्मयोग साधने की बात करे तो वह बकवादो व्यक्ति अध्यात्मयोग की साधना किस प्रकार कर सकता है? अध्यात्मयोग साधने के लिये वचन पर काबू रखने का प्रयत्न करो। ऐसे अनेक प्रसङ्ग आ जाते हैं जब गृहस्थ लोग वचन पर काबू नहीं रख सकते, परन्तु उस पर काबू रखने का अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए।

कल्पना करो, तुम्हें एक ऐसा मन्त्र बता दिया जाये कि जिससे तुम्हारे सभी काम सिद्ध होते हो, तो ऐसा मन्त्र

सीखने के लिए कौन उत्सुक नहीं होगा ? ऐसे लोग बहुत ही कम निकलेगे जो ऐसा मन्त्र सीखने के लिए तैयार न हो जाएँ । तो अब तुम्हें बतलाया जाता है कि तुम वचन पर काबू रखो और वचन को अशुभ से निकालकर सत्यरूप शुभ में स्थिर करो तो तुम्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी । किन्तु यह करना तुम्हें कठिन मालूम होता है । वास्तव में वचनसिद्धि प्राप्त करने के लिए वचनगुप्ति की अत्यन्त आवश्यकता है । वचनगुप्ति का पालन करने से वचनसिद्धि अवश्य प्राप्त होगी । अगर तुम वचन सत्य को स्थिर करोगे तो समस्त सिद्धियाँ तुम्हें खोजती आएँगी । वचनगुप्ति का पालन साधु और श्रावक दोनों के लिए उपयोगी और कल्याणकारी है । दूसरा कोई वचनगुप्ति का पालन करे या न करे, तुम अपना कर्तव्य समझकर वचनगुप्ति का पालन करो । इसी में तुम्हारा कल्याण है । अपने कर्तव्य में दृढ़ रहने वाला व्यक्ति आत्म-कल्याण अवश्य करता है । सकट के समय भी कर्तव्य का पालन करना ही कल्याण का मार्ग है ।





# पञ्चपनवां बोल

## कायगुप्ति

शास्त्र का कथन है कि पांच समिति और तीन गुप्ति में समस्त द्वादशांग वाणी का समावेश हो जाता है । इसी कारण उन्हें प्रवचनमाता भी कहते हैं । प्रवचनमाता का पूर्ण-रूप से गुणानुवाद करना सरल काम नहीं है । फिर भी प्रत्येक व्यक्ति अपनी माता का गुणानुवाद तथा भक्तिप्रदर्शन अपनी शक्ति के अनुसार करता ही है । इसी प्रकार मैं प्रवचनमाता का गुणानुवाद करने के लिए उद्यत हुआ हूँ ।

गौतम स्वामी ने मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति का पालन करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न किया है । इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने मन-गुप्ति और वचनगुप्ति से होने वाले लाभ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उसका विवेचन पहले किया गया है । अब यह विचार करना है कि कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

## मूलपाठ

प्रश्न—कायगुत्तयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर — कायगुत्तायाए संवरं जणयइ, सवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोह करेइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न — कायगुप्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर — कायगुप्ति (कायिक सयम) से संवर (पापो का निरोध) होता है और फिर सवर द्वारा जीवात्मा पाप के प्रवाह का निरोध कर सकता है ।

### व्याख्यान

कायगुप्ति के पालन से होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार करना आवश्यक है कि मन और वचन के साथ काया भी रहती है, तो फिर काय के विषय में अलग प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैसे काया मन के साथ रहती है, उसी प्रकार मन से पृथक् भी है । किसी भी सम्पूर्ण शरीर का वर्णन किया जाये तो उस शरीर के सब अङ्ग उसमें आ जाते हैं, परन्तु जब शरीर के प्रत्येक अंग का भिन्न-भिन्न वर्णन किया जाना है तो प्रत्येक को अलग मानकर ही वर्णन करना पड़ता है ।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा— हे गौतम ! कायगुप्ति से जीव को सवर की प्राप्ति होती है और सवर के कारण जीवात्मा आने वाले पापकर्मों का निरोध करने में समर्थ होता है ।

साधारणतया कायगुप्ति का अर्थ है — काय की रक्षा करना अर्थात् काय को निश्चल कर लेना या काय का ममत्व तज देना । परन्तु काय को अप्रशस्त में से हटाकर प्रशस्त

में प्रवृत्त करना भी कायगुप्ति ही है। प्रशस्त और अप्रशस्त की व्याख्या मनःकल्पित नहीं होनी चाहिए वरन् शास्त्र में इनकी जो व्याख्या की गई है वही स्वीकार करना चाहिए। हरएक आदमी अपनी मनमानी व्याख्या करने लगेगा तो ऐसी दशा में प्रशस्त और अप्रशस्त के अनेक रूप हो जाएंगे। अतएव प्रशस्त और अप्रशस्त की शास्त्रसम्मत व्याख्या ही स्वीकार करना चाहिए।

शास्त्र कहते हैं— कायगुप्ति दो प्रकार की होती है। एक सामान्य और दूसरी विशेष। अप्रशस्त में से निकालकर प्रशस्त में काय को स्थिर करना सामान्य कायगुप्ति है और कायगुप्ति के विशेष नियमों का पालन करना विशेष कायगुप्ति। कायगुप्ति का पालन करने वाले को शयन, आसन और वस्तु-स्थापन आदि क्रियाएँ शास्त्रसम्मत रीति से ही करना चाहिए। साधु के शयन के विषय में शास्त्र में कहा है कि साधु को बिना कारण निद्रा नहीं लेना चाहिए। निद्राशील साधु कायगुप्ति का पालन नहीं कर सकता। अगर निद्रा लिए बिना काम चल ही न सकता हो तो गीतार्थ साधु को एक पहर और अगीतार्थ साधु को दो पहर से अधिक नीद नहीं लेना चाहिए। निद्रा लेने के इस विधान में भी अपवाद है। इस अपवाद का सेवन न किया जाये तो अच्छा ही है परन्तु अपवाद सेवन के बिना काम न चल सकता हो तो शास्त्रविधि के अनुसार ही निद्रा ली जा सकती है।

वस्तु को धग्ने-उठाने तथा मल-मूत्र का त्याग करने आदि में भी शास्त्र विहित नियमों का पालन करना चाहिए। इसी प्रकार कायगुप्ति पालने वाले साधु को बैठने आदि में भी कुचेष्टा नहीं करना चाहिए किन्तु शत तथा गम्भीर

होकर बैठना चाहिए । साधु के बैठने तथा गमनागमन के तरीके से साधु की परीक्षा होती है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि श्रेणिक राजा ने अनाथी मुनि को शात तथा गम्भीर भाव से बैठा देखकर ही समझ लिया था कि वे मुनि हैं । कहने का भावार्थ इतना ही है कि साधु का उठना-बैठना वगैरह शास्त्रानुकूल ही होना चाहिए ।

साधुओं के लिए शास्त्र में विशेषतः कायोत्सर्ग करने का विधान किया गया है । कायोत्सर्ग तो तुम श्रावक भी 'भाणेणं मोणेण अप्पाणं वोसिरामि' आदि पाठ बोलकर करते हो । पर केवल पाठ बोल देने से कायोत्सर्ग नहीं होता । कायोत्सर्ग करना सरल नहीं है । कायोत्सर्ग अर्थात् काय का त्याग करना—काया पर तनिक भी ममता न रखना । चाहे जैसा उपसर्ग आवे, काया को डिगने न देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है । उदाहरण के लिए—किसी प्रकार का अपराध न करने पर भी सोमल ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर धधकती हुई आग रख दी थी । फिर भी गजसुकुमार मुनि तनिक भी विचलित न होते हुए कायोत्सर्ग में ही स्थिर रहे । आज जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें तो मच्छर के काटने पर भी स्थिर नहीं रहा जाता । कायोत्सर्ग करना कठिन अवश्य है परन्तु अभ्यास करने पर वह सरल भी है । आजकल के लोग कायोत्सर्ग करने में कितने सहनशील बने रहते हैं, इसके लिए एक सुनी हुई घटना कह सुनाता हूँ ।

एक गरीब श्रावक था । उसने सोचा मेरी नीयत साफ है, फिर भी मुझे कोई उधार नहीं देता । ऐसी दशा में काम चलाने के लिए कोई उपाय करना चाहिये । पड़ोस में रहने वाला सेठ धार्मिक है । जब वह सामायिक में बैठे

तो गले में पहना हुआ उनका कठा क्यों न उतार लिया जाये ? ऐसा विचार कर वह श्रावक, सामायिक में बैठे हुए सेठजी के पास गया । बोला सेठजी ! आपने सामायिक ली है । संसार की समस्त वस्तुओं से सामायिक श्रेष्ठ है । अतएव आप अपनी सामायिक में स्थिर रहे— विचलित न हो । इतना कहकर श्रावक ने सेठ के गले में से कठा निकाल लिया । सेठ सामायिक में स्थिर ही बैठे रहे । वह न कुछ भी बोले और न उन्होंने अपना चित्त ही चंचल होने दिया ।

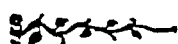
सामायिक पालकर सेठ घर पहुँचा । मुनीम आदि ने पूछा आज आपके गले में कठा क्यों नजर नहीं आता ? सेठ ने सोचा— सच कह दूँगा तो लोग गरीब श्रावक को हैरान करेंगे तो उसने कह दिया— पड़ गया होगा कहीं । तुम कठा की इतनी ज्यादा चिन्ता क्यों करते हो ? इस विषय में किसी को कुछ भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं । जब यह शरीर ही मेरा नहीं तो कठा मेरा कैसे हो सकता है !

कठा ले जाने वाले श्रावक की नीयत साफ थी । जब उसका काम निकल गया तो वह श्रावक कठा वापस ले आया । सेठ ने कहा— कठा मेरा नहीं है । जब यह शरीर ही मेरा नहीं तो कठा मेरा कैसे हो सकता है ? उस श्रावक ने कहा— कठा तुम्हारा नहीं तो मेरा भी नहीं है । मैं इसे अपने पास कैसे रख सकता हूँ ? इतना कहकर श्रावक ने सेठ के सामने कठा रख दिया और वह चलता बना ।

कहने का भावार्थ यह है कि उपसर्ग का आघात लगने पर भी अगर काया विचलित न हो तो ही सच्चा कायोत्सर्ग कहा जा सकता है । तुम्हें भी कायोत्सर्ग में दृढ़ रहना चाहिए

और मानना चाहिए कि हमारे प्रभु ने जब सदैव के लिए कायोत्सर्ग कर दिया है तो मैं थोड़ी देर के लिए भी कायोत्सर्ग में स्थिर क्यों न रहूं ।

इस प्रकार कायोत्सर्ग करना भी कायगुप्ति है । कायोत्सर्ग में काया की ममता तज देनी चाहिए । काया पर से थोड़ा-थोड़ा ममत्व भी उतारने का अभ्यास किया जायेगा तो भी कल्याण होगा । जब एक बार किया हुआ नमस्कार भी कल्याणकारी होता है तो हमेशा किया जाने वाला ऐसा कायोत्सर्ग लाभकारी क्यों नहीं होगा ? मगर कायोत्सर्ग लाभकारी तभी हो सकता है जब काया की ममता छोड़कर कायोत्सर्ग किया जाये । जो व्यक्ति लक्ष्य चूक कर तीर चलाता है, उसका तीर वृथा जाता है । लक्ष्य साधकर चलाया गया तीर ही इष्ट कार्य-साधक होता है । अतएव कायोत्सर्ग करने का लक्ष्य सामने रखकर कायोत्सर्ग किया जायेगा तो अवश्य कल्याण होगा ।



# छुप्पनवां बोल



## मनः समाधि

पिछले बोलों में मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति के विषय में कहा जा चुका है । अब गुप्ति की रक्षा करने के लिए मन को सत्यमार्ग (समाधि) में स्थापित करने की आवश्यकता है । अतएव मन को समाधि में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं.—

### मूलपाठ

प्रश्न—मणसमाहारणयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—मणसमाहारणयाए एगग्गं जणयइ, एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तां विसोहेइ, मिच्छत्तां य निज्जरेइ ॥५६॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भते ! मन को समाधि में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर मन को समाधि में स्थापित करने से एकाग्रता उत्पन्न होती है । एकाग्रता उत्पन्न करके जीव ज्ञान की पर्याये उत्पन्न करता है । ज्ञान की पर्याये उत्पन्न करके सम्यक्त्व की विशुद्धि करता है और मिथ्यात्व का नाश करता है ।

## व्याख्यान

मन का निरोध करने की बात करना जितना सरल है, निरोध करना उतना सरल नहीं है । जहाँ तक मन का निरोध नहीं किया जाता अर्थात् मन को समाधिस्थ नहीं किया जाता तब तक मन एकाग्र नहीं हो सकता । जब मन में एकाग्रता आ जाये तभी समझना चाहिए कि मन समाधिस्थ हो गया है अर्थात् मन का निरोध हो गया है । मन को बहिर्मुख न होने देना—अन्तर्मुख बनाना और आत्मसमाधि में सलग्न करना ही मन का समाधारण है । जब मन में ऐसी समाधि होती है तब मन एकाग्र बनता है और अज्ञान-शक्ति नष्ट होकर ज्ञान की पर्याये ( शक्तिया ) उत्पन्न होती हैं । ज्ञानशक्ति उत्पन्न होने पर सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का नाश होता है ।

सक्षेप में मन की समाधि से एकाग्रता उत्पन्न होती है. एकाग्रता से ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है । ज्ञानशक्ति से मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मन की समाधि का जो फल बतलाया है उसे दृष्टि में रखकर मन का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए और इस बात की संभाल रखनी चाहिए कि मन किसी खराब काम में प्रवृत्त न हो ।



माता-पिता अपनी सतान को गहने पहनाते हैं तो इस बात की सावधानी भी रखते हैं कि कोई गहने न ले जाए अथवा गहनो के लोभ से कोई सन्तान को खराब रास्ते पर न ले जाए या कोई उसे मार न डले । इसी भांति यह सावधानी भी रखनी चाहिए कि मन खराब सगति में न पड़ जाये । मन जब खराब कामो मे प्रवृत्त होने लगे तब उसे वहा से रोककर सत्कर्मी मे प्रवृत्त करना ही मन के निरोध का प्रारम्भ है । इस प्रकार निरोध करने से ही मन एकाग्र होगा और जब मन एकाग्र होगा तभी जीवन मे ज्ञानशक्ति प्रकट होगी । ज्ञान बाहर से नहीं आता । वह तो आत्मा में ही मौजूद है, मगर मन एकाग्र न होने से ज्ञान पर आवरण आ जाता है । अगर मन को एकाग्र किया जाये तो ज्ञान का आवरण हट जाए और ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाए । जब ज्ञानशक्ति प्रकट हो जाती है तब मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और सम्यक्त्व को विशुद्धि होती है ।

वस्तु को विपरीत रूप मे जानना, समझना या मानना मिथ्यात्व है । जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है । अज्ञान के कारण ही भ्रम होता है और भ्रम का निवारण ज्ञान द्वारा ही हो सकता है । ज्ञान मन की एकाग्रता से उत्पन्न होता है और मन की एकाग्रता मन की समाधि से उत्पन्न होती है । अतएव मन को खराब कामो मे जाने से रोकने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए । मन की समाधि मोक्ष-प्राप्ति का कारण है । मनोयोग मोक्षप्राप्ति के लिए सहजयोग है और सहजयोग से

आत्मा का कल्याण होता है। रथनेमि में पहले कितना अज्ञान था। अपने भाई अर्थात् भगवान् नेमिनाथ द्वारा त्यागी हुई राजीमती को अपनी पत्नी बनाने के लिए वह तैयार हो गया था। परन्तु राजीमती ने सदुपदेश द्वारा उसका अज्ञान दूर किया तब वह समय में प्रवृत्त हो गया, क्योंकि उसने ज्ञान द्वारा वस्तु का स्वरूप समझ लिया था। इस प्रकार जब वस्तु का स्वरूप समझ में आ जाता है तो किसी प्रकार का भ्रम नहीं रहने पाता। भ्रम तो अज्ञान के कारण ही उत्पन्न होता है। वस्तु के प्रति जो मोहबुद्धि पाई जाती है वह भी अज्ञान के कारण ही होती है। ज्ञान उत्पन्न होते ही मोहबुद्धि भी नष्ट हो जाती है। मोहबुद्धि का जब नाश हो जाता है तब जड-चेतन का विवेक उत्पन्न होता है। विवेक उत्पन्न हो जाने पर प्रतीत होने लगता है कि पुद्गल जड है, चल है और जगत् की जूठन है और चेतन अनन्त शक्तियों से सम्पन्न ज्योतिर्मय है। इस प्रकार विवेकज्ञान से सासारिक पदार्थों का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाता है। वस्तु का वास्तविक स्वरूप मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की विशुद्धि हुये बिना समझ में नहीं आ सकता। अतएव आत्मकल्याण के लिए मन को समाधिस्थ करने की अत्यन्त आवश्यकता है। मन को सत्यमार्ग पर स्थापित किये बिना एकाग्रता नहीं आती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न नहीं होती और ज्ञानशक्ति उत्पन्न न होने के कारण मिथ्यात्व का नाश नहीं होता तथा सम्यक्त्व की विशुद्धि नहीं होती। परिणाम-स्वरूप आत्मा का कल्याण भी नहीं हो सकता। संक्षेप में, आत्मकल्याण के लिए मन का निरोध करना आवश्यक है।

मन का निरोध करना कठिन है, परन्तु भगवान् कहते

हैं कि अभ्यास करने से मन का निरोध भी किया जा सकता है । आत्मा का कल्याण मन को समाधिस्थ करने से हो सकता है । अतएव मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करने में ही कल्याण है ।

[हम सबका ध्येय आत्मा को सुखी बनाना ही है । मगर प्रश्न यह है कि इस ध्येय की पूर्ति किस प्रकार हो सकती है ? शास्त्र में आत्मा को सुखी बनाने के जो उपाय बतलाये गये हैं, उन्हें अपनाओ, आत्मकल्याण करो । आत्म-कल्याण ही आत्मसुख की चाबी है । ऐकान्तिक और आत्यन्तिक सुख प्राप्त करने से ही आत्मा सुखी हो सकता है । अतएव तुम अगर अपने मन को सत्यमार्ग पर स्थापित करके अर्थात् समाधिस्थ करके आत्मकल्याण की साधना का प्रयत्न करोगे तो निस्सन्देह निराबाध आत्मसुख प्राप्त कर सकोगे ।



# सत्तावनवां बोळ

## वचन-समाधि

मन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से होने वाले लाभ का वर्णन किया जा चुका है। अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

## मूलपाठ

प्रश्न—वयसमाहारणयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर— वयसमाहारणयाए वयसाहारणदसणपज्जवे विसोहेइ, वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहिता सुलहवोहियत्तां निव्वत्तेइ, दुल्लहवोहियत्तां निज्जरेइ ॥५७॥

## शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! वचन के समाधारण से अर्थात् वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— वचन को सत्यमार्ग में स्थापित करने से जीवात्मा दर्शनपर्याय-सम्यक्त्वपर्याय निर्मल बनाता है और

मम्यक्त्व की विशुद्धि करने से सुलभबोधिता प्राप्त करता है तथा दुर्लभबोधिता से निवृत्त होता है ।

## व्याख्यान

वचन को खराब कामों से निवृत्त करके, अच्छे कामों में प्रवृत्त करना ही वचन निरोध का प्रारम्भ है । इस प्रकार वचन का निरोध करने से आत्मा में बहुत शक्ति आती है । वचन का दुरुपयोग न करते हुए परमात्मा के गुणगान में उपयोग करने से स्वाध्याय होता है और स्वाध्याय से आत्मा की शक्ति बढ़ती है ।

कहा जा सकता है कि स्वाध्याय तो पांच प्रकार का बतलाया गया है । उसमें परमात्मा के गुणगान को स्वाध्याय नहीं गिना । ऐसी स्थिति में परमात्मा का गुणगान स्वाध्याय कैसे कहा जा सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि स्वाध्याय दो प्रकार से होता है—भाव से और अर्थ से । परमात्मा का गुणगान करने वाला भाव से तो स्वाध्याय ही करता है । परमात्मा का गुणगान करने में वचन का सदुपयोग करना अथवा शास्त्र में णमोकारमन्त्र की बड़ी महिमा बतलाई है—अतः णमोकार मन्त्र का जाप करने में वचन का सदुपयोग करना भावस्वाध्याय ही है । णमोकारमन्त्र में मन लगाकर वचन द्वारा उसका जाप करना स्वाध्याय ही है । इस प्रकार स्वाध्याय करने से आत्मा का बहुत लाभ होता है ।

जिस वचन का सदुपयोग करने से आत्मा को एकान्त लाभ होता है, उसका दुरुपयोग करके आत्मा का अहित

करना कहां तक उचित है । शास्त्र में तो वचन का महत्त्व बतलाया ही है । उपनिषद् में भी वचन का महत्त्व बतलाने हुए कहा गया है कि 'वणी की शक्ति को नष्ट न किया जाये तो आत्मा को बहुत ही लाभ हो सकता है ।'

इसी अध्ययन के चौदहवें बोल में गीतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है कि स्तवस्तुतिमगल से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—स्तवस्तुतिमगल से जीव ज्ञान दर्शन और चारित्र्य रूप बोधिलाभ करता है ।

इस प्रकार वचन का समाधारण करने से अर्थात् वचन का खराब कामो में दुरुपयोग न करके, अच्छे कामो में सदुपयोग करने से सम्यक्त्व की विशुद्धि होती है । सम्यक्त्व और दर्शन—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । काया से अच्छे काम न हो सके तो भी अगर वचन को अच्छे कामो में प्रयुक्त किया जाये तो भी लाभ हो सकता है ।

वचन द्वारा मनुष्य के स्वभाव की परीक्षा होती है । वाणी के आधार पर मनुष्य के हृदय के भावों का अनुमान किया जा सकता है । जब साधारण मनुष्य भी वाणी से मन के भाव जान लेता है तो क्या परमात्मा वाणी से हृदय के भाव नहीं जानता होगा ? परमात्मा सर्वज्ञ होने के कारण सभी भाव हस्तामलकवत् जानता है । अतएव अपने मन और वचन को खराब कामो में प्रवृत्त न करके परमात्मा के गुण-गान में ही प्रवृत्त करो । इसमें तुम्हारी दृष्टि की भी शुद्धि होगी और आचरण की भी । परमात्मा के गुणगान में ही मन और वचन का उपयोग करने से आत्म का हित कि

प्रकार होता है इस सम्बन्ध में एक सुना हुआ दृष्टान्त देकर समझाता हूँ —

सुनते हैं, श्रीपति नामक एक कवि ने निश्चय किया था कि मैं परमात्मा के सिवाय किसी दूसरे का गुणगान नहीं करूँगा । वह कवि बादशाह अकबर के दरबार में रहता था । कुछ लोगो को श्रीपति कवि की इस प्रतिज्ञा का पता चला । कवि अपनी प्रतिज्ञा में किनना दृढ़ है, इस बात की परीक्षा करने के लिए उन्होंने बादशाह से कवि की प्रतिज्ञा की बात कही । बादशाह ने कहा—अवसर देखकर कवि की प्रतिज्ञा की परीक्षा करके देखूंगा ।

एक दिन कवि राजदरबार में बैठा था । बादशाह ने कवि से कहा— ‘कविराज ! अज एक समस्या की पूर्ति कीजिए ।’ श्रीपति कवि बोले—समस्या की पूर्ति करना मेरा काम है, आप समस्या दीजिये । बादशाह ने कहा—

‘करो मिल आश अकबर की ।’

इस समस्या की पूर्ति कीजिये । समस्या सुनकर कवि समझ गया कि आज मेरी प्रतिज्ञा की परीक्षा हो रही है । पर हर्ज क्या है ? अगर मैं सच्चा कवि हूँ तो समस्या की पूर्ति भी करूँगा और अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी करूँगा । इस प्रकार विचार कर कवि ने इस प्रकार समस्यापूर्ति की —

हरि को यश छाडि औरन को भजे,

जिह्वा जो फटो उस लम्बर की,

अब की दुनिया गुनिया को रटे,

सिर बांधत पोट अटम्बर की ।

श्रीपति एक गोपाल भजे,  
 नहि मानत शक कोउ जव्वर की ।  
 जिसको हरि की परतीति नहीं,  
 'करो मिल आश अकव्वर की ।'

अर्थात् श्रीपति कहते हैं कि जो व्यक्ति परमात्मा का भजन करने में अपनी जीभ का सदुपयोग न करके लोभ-लालच से अथवा किसी अन्य कारण से हमारे के गुणगान करने में जीभ का दुरुपयोग करता है, वह हमारे की भूरी प्रशंसा करके वास्तव में अपने मस्तक पर पाप का बोझ लादता है, ऐसे पापी की जिह्वा फटो । श्रीपति कवि कहते हैं— मैं तो सिर्फ गोपाल का ही भजन कर सकता हूँ और उन्हीं का गुणगान कर सकता हूँ । जिन्हें परमात्मा पर विश्वास न हो वे लोग भले ही अकबर की आशा करें, मगर मैं तो गोपाल के सिवाय और किसी से कोई आशा नहीं करता ।

श्रीपति का कवित्त सुनकर बादशाह प्रसन्न हुआ । लोग समझ गये कि श्रीपति अपनी प्रांतजा के पक्के हैं । बादशाह ने स्वीकार किया कि परमात्मा के सिवाय और कोई बड़ा नहीं है ।

यह घटना वास्तव में घटी है या नहीं, इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । हमें तो इस घटना के वर्णन से इतना ही सार ग्रहण करना है कि जीभ का उपयोग अगर परमात्मा का भजन करने में किया जा सकता है तो फिर हमारे साप्ताहिक कार्यों में उसका दुरुपयोग करने की क्या आवश्यकता है ? परमात्मा को छोड़कर अन्य कामों में जीभ का उपयोग



करना तो, कवि के कथनानुसार एक प्रकार की घृष्टता है । परमात्मा त्रिभुवननाथ हैं, अतः उनका ही गुणगान करना उचित है । परमात्मा तीन भुवन के नाथ हैं अर्थात् तीनों लोको में रहने वाले समस्त जीवों के स्वामी हैं । अतएव जगत् में रहने वाले किसी भी प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व की आसातना न करना परमात्मा की प्रार्थना है । जिसमें जो गुण न हो, उस गुण का उसमें आरोप करना भी उसकी आसातना है । जिसमें जो गुण है, उसके यथार्थ गुण का वर्णन करना और अगर अपने में ऐसा करने की शक्ति न हो तो यह कहना कि— 'जिन भगवान् ने जो कुछ कहा है वह निःशक है, सत्य है ।' इस प्रकार कह कर आत्मा को परमात्मा के गुणगान में प्रेरित करो । ऐसा करने से समझ लो कि तुम्हारा कल्याण तुम्हारे ही हाथ में है ।

भगवान् ने वचननिरोध से अनेक लाभ बतलाये हैं । जिस व्यक्ति को भगवान् पर भरोसा होगा वह परमात्मा का गुणगान करने में ही वचन का सदुपयोग करेगा । इस प्रकार वचन का सदुपयोग और निरोध करने वाला पुरुष अपने आत्मा का अवश्य कल्याण साध सकता है ।



# अट्टावनवाँ बोल



## कायसमाधि

मनःसमाधि और वचनसमाधि करने से जीवात्मा को ज्ञानविशुद्धि और दर्शनविशुद्धि का लाभ होता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। सब कायसमाधि अर्थात् काय का निरोध करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से पूछते हैं:—

### मूलपाठ

प्रश्न—कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?

उत्तर— कायसमाहारणयाए चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहिता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सब्बदुक्खाणमतं करेइ ॥ ५८ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! कायसमाधि से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! काया को सत्यभाव से सयम में स्थापित करने से अर्थात् काया का निरोध करने से जीवात्मा चारित्र के पर्यायो को निर्मल करता है और चारित्र के पर्याय निर्मल करके अनुक्रम से यथाख्यातचारित्र की विशुद्धि करके चार केवली कर्मांशो को खपाता है और तत्पश्चात् वह जीवात्मा सिद्ध बुद्ध मुक्त तथा शान्त होकर सब दुःखो का अन्त करता है ।

### व्याख्यान

काया का निरोध करने से सर्वप्रथम तो चारित्रपर्याय की विशुद्धि होती ३ । अर्थात् उदयभाव के कारण मलीन हुआ क्षायोपशमिकचारित्र निर्मल हो जाता है । उदयभाव की वृद्धि के कारण क्षायोपशमिकचारित्र दब जाता है और ज्यो-ज्यो उदयभाव घटता जाता है, त्यो-त्यो क्षायोपशमिक बढता जाता है । इस प्रकार जो उदयभाव क्षायोपशमिकभाव को दबाता है वह उदयभाव काया का निरोध करने से होन हा जाता है और फलस्वरूप क्षायोपशमिकभाव को शुद्धि होती है और जीवात्मा यथाख्यातचारित्र प्राप्त करता है ।

यथाख्यातचारित्र कुछ बाहर से नहीं आता । वह तो आत्मा के स्वभाव मे ही विद्यमान है । जैसे सूर्य पर बादल आ जाने के कारण सूर्य ढका हुआ या मलीन दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्म के प्रभाव से यथाख्यातचारित्र भी ढका हुआ और मलीन रहता है । जब काया का निरोध किया जाता है तो मोहकर्म के कारण यथाख्यातचारित्र पर चढ़ा हुआ आवरण दूर हो जाता है तथा यथाख्यातचारित्र प्रकट हो

जाता है। महावीर भगवान् कहते हैं कि यथाख्यातचारित्र्य प्रकट होने से केवली अवस्था में विद्यमान रहने वाले चार कर्म - नाम, गोत्र वेदनीय और आयुर्कर्म - नष्ट हो जाते हैं। यह चारो कर्म अघाति कर्म कहलाने हैं, क्योंकि यह चारो आत्मा के गुणो का घात नहीं करते, वरन् मोक्ष-प्राप्ति में बाधा उपस्थित करते हैं। इन चारो कर्मों का नाश होने से आत्मा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परिनिर्वाण पाता है।

काया का निरोध करने से आत्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय का ऊपर थोड़ा-सा विचार किया गया है। काया का निरोध करने के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि मन और वचन का निरोध कर लेने के बाद भी काया का निरोध करने की क्या आवश्यकता है ? तथा काया स्थूल है और चारित्र्य के पर्याय सूक्ष्म है। ऐसी स्थिति में स्थूल काया का निरोध करने पर भी सूक्ष्म चारित्र्यपर्याय किस प्रकार विशुद्ध हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भगवान् महावीर और गौतम स्वामी के बीच श्रीभगवतीसूत्र से जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनका उल्लेख कर देना सहायक होगा। गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया— 'आया भते ! काया वा अन्ने भते ! काया ?' अर्थात् हे भगवन् ! आत्मा और काया एक ही हैं या अलग-अलग ?

भगवान् ने फरमाया— 'गोयमा ! आया वि काया अन्ने वि काया ।' अर्थात् आत्मा और शरीर एक भी है और दोनों भिन्न-भिन्न भी है।

जिस प्रकार दूध और घी एक भी हैं और जुदे-जुदे भी हैं, उसी प्रकार आत्मा और काया एक भी है और

भिन्न-भिन्न भी हैं । अगर दूध और घी एक ही होता तो दूध में से घी निकलता ही कैसे ? और निकालने की आवश्यकता भी क्या थी ? और यदि दोनों भिन्न ही हो तो पानी की तरह दूध में से घी कैसे निकलना ? इसी भाँति आत्मा और काया एक भी है और भिन्न भिन्न भी हैं । काया के नाम पर यह प्रश्न आत्मा के सम्बन्ध में ही किया गया है, अतः काया के सम्बन्ध में किया हुआ यह जुदा प्रश्न अनुचित नहीं है ।

कुछ लोग आत्मा को काया से सर्वथा भिन्न मानते हैं और कुछ लोग दोनों को सर्वथा एक ही मानते हैं । परन्तु यह दोनों एकान्तवाद सच्चे नहीं हैं । क्योंकि आत्मा और शरीर किसी दृष्टि से एक भी हैं, किसी दृष्टि से अलग-अलग भी है । यद्यपि आत्मा और शरीर कथञ्चित् एक भी हैं परन्तु दोनों में अलग हो जाने की शक्ति है और इस कारण वे भिन्न-भिन्न भी हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा और शरीर किसी अपेक्षा से एक हैं तो फिर इन दोनों का सयोग कब से हुआ है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन दोनों का सयोग अनादि से है । कहा जा सकता है कि यदि दोनों का सयोग अनादिकाल से है तो अनादि सयोग छूट कैसे सकता है ? इस शका का समाधान यह है कि दोनों का सयोग अनादि होने पर भी वह सयोग छूट सकता है । घातु और पाषाण का सयोग तथा घी और दूध का सयोग कब से है ? पहले कौन था और पीछे कौन हुआ ? इस प्रश्न का यही उत्तर दिया जा सकता है कि दोनों का सयोग एक ही साथ हुआ है, फिर भी उसे भिन्न किया जा सकता है । इसी प्रकार

कर्म के कारण आत्मा और शरीर का संयोग हुआ है। कर्म का भी आत्मा के साथ संयोग अनादि से है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि आत्मा कभी कर्मरहित हो गया था और फिर कर्म से युक्त हो गया हो। आत्मा एक बार कर्मरहित हो जाने के बाद भी फिर कर्म से लिप्त हो जाता है, ऐसा मान लिया जाये तो सिद्ध भगवान् भी जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं, फिर कर्मों से लिप्त हो जाएँगे। वास्तव में कर्म और आत्मा का संयोग-सम्बन्ध अनादि कालीन होने पर भी, दूध और घा तथा घातु और पाषण की तरह दोनों अलग अलग हो सकते हैं। आत्मा और कर्म का बंध है और इसी कारण आत्मा का मोक्ष होता है अर्थात् आत्मा और कर्म का सम्बन्ध टूट जाता है। सांख्यमत का कथन है कि आत्मा बंधरहित अर्थात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त है, उनके मतानुसार आत्मा के साथ कर्म का बंध होना ही नहीं है। किन्तु यदि आत्मा का किमी के साथ बंध न माना जाये तो आत्मा का मोक्ष भी नहीं हो सकता। क्योंकि जब बंध ही न होगा तो मोक्ष कैसे होगा? बंध है तभी मोक्ष भी है। मोक्ष का अर्थ ही बंधन का छूटना है। जहाँ बन्धन ही न होगा वहाँ उसका छूटना किस प्रकार कहा जा सकता है।

कहने का आशय यह है कि आत्मा और कर्म का संयोग अनादिकालीन होने पर भी टूट सकता है। आत्मा कर्म के संयोग से पृथक् हो सकता है। आत्मा और कर्म का जो संयोग अनादिकालीन कहा गया है, वह प्रवाह की अपेक्षा है। जैसे नदी का बहता पानी देखकर कहा जाता है कि यह वही पानी है जो कल था। परन्तु वास्तव में कल जो पानी था, वह तो वह गया है; फिर भी पानी के

सतत प्रवाह के कारण ऐसा जान पड़ता है कि आज भी वही कल वाला पानी है । इसी तरह कर्म भी प्रवाहरूप में आते रहते हैं और इसी कारण उनका सयोग अनादिकालीन है । वास्तव में कर्म सदा-सर्वदा सरीखे नहीं रहते । जिस प्रकार नदी का पानी पलटता रहता है उसी प्रकार कर्म भी बदलते रहते हैं । कर्म प्रवाहरूप से आत्मा में आते ही रहते हैं, इसीलिए कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल का माना जाता है ।

ऐसा समझकर आत्मा को शरीर से पृथक् करना चाहिए । काया को विषमता में से बाहर निकालकर समता-भाव में प्रवर्तित करना ही काया का समाधारण कहलाता है ।

मन, वचन और काय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रीति से और इसी क्रम के अनुसार प्रश्न करने का कारण यह भी हो सकता है कि केवली भगवान् पहले मनोयोग का निरोध करते हैं, फिर वचनयोग का निरोध करते हैं और तत्पश्चात् काययोग का निरोध करके सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं । अतएव अपन को भी काया का निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिए । काया के निरोध से हम लोग भी सिद्ध हो सकते हैं । कहा भी है:—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय ।

कर्म-मैल का अन्तरा, बूझै विरला कोय ॥

जीव-कर्म भिन्न-भिन्न करो, मनुष्य जनम को पय ।

ज्ञानात्म वैराग्य से, घोरज धर्म लगाय ॥

जीव और शिव अर्थात् सिद्ध में केवल कर्म का ही अन्तर है । जीव कर्मसहित है और सिद्ध कर्मरहित है । सिद्ध

पहले से ही कर्मरहित नहीं होते वरन् जीव में से ही सिद्ध होते हैं । जो जीव कर्मरहित हो जाता है वही सिद्ध कहलाने लगता है । अतएव जीवात्मा को कर्मरहित होकर सिद्ध बनने का प्रयत्न करना चाहिए । यह दुर्लभ मनुष्य-जन्म सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए ही प्राप्त हुआ है । मनुष्यजन्म मोक्ष का द्वार है । मोक्ष-मन्दिर में पहुँचने के बाद वहाँ से फिर वापिस नहीं आना पड़ता । वहाँ आत्मा अनन्त आनन्द में रमण करता है । मोक्ष में जाने के लिए तत्त्व का विचार करके, धर्म की सहायता लेकर जीवात्मा को मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए । जीवात्मा कर्म से मुक्त होने का मार्ग जान सके, इसीलिए कायसमाधारण का प्रश्न पूछा गया है । शास्त्र में सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होने का जो मार्ग बतलाया गया है, उस मार्ग पर अगर जीवान्मा प्रस्थान करे तो वह अवश्य ही अपना कल्याण कर सकता है ।





# उनसठवां बोल



## ज्ञानसम्पन्नता

आत्मा को परमात्ममय बनाने का श्रेष्ठ साधन ज्ञान है । अतएव ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होना है, इस विषय में श्री गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

### मूलपाठ

प्रश्न—नाणसंपन्नयाए ण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—नाणसंपन्नयाए जीवे सद्विभावहिगमं जणयइ  
नाणसंपन्ने ण जीव चाउरंते ससारकंनारे न विणस्सइ, जहा  
सुई समुत्ता न विणस्सइ तथा जीवे समुत्ते संसारे न विणस्सइ,  
नाणविणयतवचरित्ताजोगे सपाउणइ, ससमय-परसमयविसारए  
य सघायणिज्जे भवइ ॥५६॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— ज्ञानसम्पन्न होने से जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और चतुर्गति रूप ससार-अटवी में दुःखी नहीं होता । जैसे सूत्र (सूत-डोरा) सहित सुई गुम नहीं होती, उसी प्रकार सूत्र (आगमज्ञान) से युक्त ज्ञानी पुरुष ससार में भूलता नहीं है और ज्ञान चारित्र्य, तप तथा विनय के योगों को प्राप्त करता है । साथ ही अपने सिद्धान्त और दूसरों के सिद्धान्त को ठीक तरह जानकर असत्य मार्ग में नहीं फँसता है ।

### व्याख्यान

मन, वचन और काय के निरोध के विषय में जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उनके विषय में विवेचन किया जा चुका है । इन प्रश्नोत्तरों में ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की विशुद्धि का खास तौर पर कथन किया गया है । अतएव गौतम स्वामी ने अब ज्ञान की प्राप्ति से होने वाले लाभ के विषय में प्रश्न किया है । इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—ज्ञानसम्पन्न जीवात्मा सभी भावों को अर्थात् तत्त्वों को जान सकता है और तत्त्वों का ज्ञान हो जाने के कारण यह चारगति रूप संसार में विनष्ट नहीं होता । जैसे डोरा वाली सूई कदाचित् नीचे गिर जाये तो भी डोरे के कारण जल्दी मिल जाती है, उसी प्रकार जो जीवात्मा श्रुतज्ञानरूप सूत्र से युक्त है, वह भी चतुर्गतिरूप ससार में विनष्ट नहीं होता । कदाचित् उसे ससार में भ्रमण करना भी पड़ता है तो वह जल्दी ही ससार से बाहर निकल जाता है । इसके सिवाय वह ससूत्र जीव श्रुतज्ञान के प्रभाव से ससार में रहते हुए भी ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य को शीघ्र प्राप्त करके मुक्त हो

जाता है और श्रुतज्ञान के प्रभाव से उस जीवात्मा को प्रत्यक्ष, ज्ञान-अवधि, मन पर्यय, केवल आदि ज्ञान-- भी प्राप्त होते हैं और विनय, तप तथा चारित्र्य की भी प्राप्ति होती है । इतना ही नहीं, वह श्रुतज्ञानी जीव स्वसमय (स्वसिद्धान्त) और परसमय (पर-सिद्धान्त) का ज्ञाता हो जाने के कारण विद्वानों के समागम में भी आता है और उनका सशय निवारण करने में भी समर्थ होता है ।

यहाँ ज्ञान के विषय में जो प्रश्न किया गया है, उसका सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ है, क्योंकि उद्देश, समुद्देश, आज्ञा और अनुज्ञा श्रुतज्ञान में ही होते हैं अर्थात् प्रारम्भ और समाप्ति श्रुतज्ञान की ही होती है । 'श्रुतज्ञान प्राप्त करो' ऐसा उपदेश श्रुतज्ञान के लिए ही दिया जाता है । मतिज्ञान आदि के लिए ऐसा उपदेश देने की आवश्यकता नहीं रहती । यहाँ ज्ञान का सामान्य रूप से कथन किया है, अतः पाँचों ज्ञानों का उसमें समावेश हो सकता है किन्तु वास्तव में इस प्रश्नोत्तर का सम्बन्ध श्रुतज्ञान के साथ ही है ।

इस बोल में यह प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान प्राप्त करने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ? इस पर विशेष विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि ज्ञान का अर्थ क्या है ?

शब्दशास्त्री ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या करते हैं—भावप्रधानता से, कर्तृप्रधानता से और करणप्रधानता से । 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' अर्थात् वस्तु को जानना भावप्रधान ज्ञान है । 'जानातीति ज्ञानम्' अर्थात् जो वस्तु को जानता है वह कर्तृप्रधान ज्ञान है और 'ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु जानी जाये वह करणप्रधान ज्ञान है । इस

तरह भाव, कर्ता और करण को प्रधानता देकर ज्ञान की तीन प्रकार से व्याख्या की जाती है । परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि यहा जो ज्ञान शब्द का प्रयोग किया गया है उसी मे तीनो पदार्थ गतार्थ हो जाते हैं । ज्ञान के तीनो अर्थ वस्तुस्वरूप समझने के लिए हैं--एक दूसरे का खडन करने के लिए नहीं । जिस प्रकार सूत्र साहित्य मे वस्तुस्वरूप समझने के लिए सात नयों का वर्णन किया गया है । यह सातो नय एक दूसरे का विरोध नहीं करते किन्तु वस्तुस्वरूप समझने मे सहायता पहुचाते हैं । इसी प्रकार ज्ञान की तीन व्याख्याएं एक दूसरे का विरोध नहीं करती किन्तु वस्तुस्वरूप समझने मे सहायता देती हैं । यद्यपि सामान्यतया सातो नयो मे भेद है, परन्तु नयभेद एक नय द्वारा दूसरे नय का खडन करने के लिए नहीं है । इसी प्रकार ज्ञान की तीनो व्याख्याएं वस्तु-स्वरूप समझने के लिए है--आपस के खण्डन के लिए नहीं ।

अगर एक नय दूसरे का खडन करे तो वह दुर्नय कहलाता है, उसी प्रकार ज्ञान की व्याख्याएं भी अगर एक दूसरी का विरोध करे तो वह भी मिथ्या हो जाएगी ।

कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वरूप सरल-तापूर्वक समझने के लिए ज्ञान आदि की विभिन्न व्याख्याएं की जाती हैं । हमे भी ज्ञान की व्याख्याओ का उपयोग वस्तु-स्वरूप समझने में करना चाहिए । क्लेशोत्पादक वाद-विवाद करने मे ज्ञान की व्याख्याओ का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए ।

अब मूल प्रश्न पर विचार करें । श्रुतज्ञान प्राप्त करने

से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा ही है कि श्रुतज्ञान द्वारा जीवात्मा सब पदार्थों के यथार्थभाव को जान सकता है । प्रत्यक्षज्ञानियों ने जो कुछ देखा है, वह श्रुतज्ञान से ही जाना जा सकता है । उदाहरणार्थ— हम लोगो ने मेरु पर्वत नहीं देखा है, परन्तु जिनके ज्ञान का आवरण हट गया है और जिन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो गया है, उन्होंने मेरु पर्वत देखा है । अतएव हम लोग श्रुतज्ञान से मेरु पर्वत जानते हैं । प्रत्यक्ष-ज्ञानी पदार्थों को प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानी, प्रत्यक्ष-ज्ञानी द्वारा देखे हुए पदार्थों को श्रुतज्ञान से जानकर उन पर श्रद्धा रखता है । भगवान् महावीर ने जो कुछ देखा या जाना था उसे हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं देख सकते । भगवान् द्वारा देखी और जानी हुई वस्तु हम लोग श्रुतज्ञान से जान सकते हैं । इसी कारण श्रीदशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन में श्रुतज्ञान की महिमा बतलाते हुए कहा है -

सोच्चा जाणइ कल्लानं, सोच्चा जाणइ पावग ।

उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेयं त समायरे ॥

अर्थात् पुण्य को भी सुनकर जान सकते हैं और पाप को भी सुनकर जान सकते हैं तथा पुण्य-पाप को भी सुनकर जान सकते हैं अतएव श्रुतज्ञान प्राप्त करके जो कल्याणकारी हो उसी का आचरण करो ।

पुण्य-पाप सुनकर ही जाना जा सकता है, परन्तु सुनकर हमें करना क्या चाहिए. इस सम्बन्ध में कहा गया है—

श्रूयता धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

अर्थात्—संक्षेप में धर्म का सार सुनकर उसे जीवन में उतारो । सब धर्मों का सार यही है कि जो कार्य तुम्हें अपने प्रतिकूल जान पड़ता हो, दूसरों के प्रति उसका आचरण मत करो ।

श्रीसूयगंडांग सूत्र में भी ऐसा ही कहा.—

एवं खु नाणिणो सार, ज न हिसइ किचणं ।

अर्थात्—ज्ञानीजनों के कथन का सार मात्र यही है कि तुम किसी की हिंसा मत करो—किसी को सताओ नहीं ।

श्रीउत्तराध्यायसूत्र के छठे अध्यायन में सर्वभूत-समभाव रखने के लिए स्पष्टरूप से कहा है :—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए ।

न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥

( श्री उ० अ० ६ )

अर्थात्—अपने ही आत्मा की तरह सर्वत्र, सब प्राणियों को देखकर अर्थान् यह जानकर कि अन्य प्राणियों को भी अपने प्राण उसी प्रकार प्रिय हैं जैसे मुझे हैं, भय और वैर से निवृत्त हुआ आत्मा किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न करे ।

शास्त्र के इस सारगर्भित सूत्र को स्पष्टरूप से समझाने के लिए एक व्यावहारिक उदाहरण देता हूँ.—

मान लो, कोई क्रूर मनुष्य हाथ में तलवार लेकर तुम्हें मारने के लिए तैयार हुआ है । इसी समय कोई दयालु मनुष्य आता है और वह उसे मारने से रोकता है । अब इन दोनों में से तुम्हें कौन-सा मनुष्य अच्छा लगेगा ? इस

प्रश्न का निश्चितरूप से तुम यही उत्तर दोगे कि हमें बचाने वाला मनुष्य ही अच्छा लगेगा । यह बात किसी के कहने से या किसी दूसरे की प्रेरणा से नहीं कहते । यह कथन आत्मसाक्षी का कथन है तो जिस प्रकार तुम्हें यह पसन्द नहीं है कि कोई तुम्हें मारे, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी यह पसन्द नहीं है कि तुम उन्हें मारो । अतएव किसी को न मारना धर्म है । तुम्हारे सामने झूठ बोलकर कोई तुम्हें ठग ले जाये अथवा तुम्हारी कोई चीज चुरा ले ज ये तो क्या तुम यह पसन्द करोगे ? तो क्या दूसरो को ठगना या दूसरो की कोई चीज छीन लेना तुम्हारे लिए उचित है ? अतएव जैसा व्यवहार तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते वैसा व्यवहार तुम दूसरो के साथ भी मत करो । इतना ही नहीं, बल्कि अगर तुम्हारी शक्ति है तो उस शक्ति का उपयोग दूसरो की सहायता के लिए करो । अपनी शक्ति का सदुपयोग करना स्व-पर का कल्याण करना है । शक्ति होने पर भी अगर दूसरो की सहायता में उसका उपयोग नहीं करते तो तुम्हारी शक्ति किस काम की है ? शक्ति होने पर भी दूसरो की सहायता न करने वाला कैसा कहलाता है, इस विषय में एक प्राचीन कथा सुनाता हूँ ।

राजशेखर नामक एक पंडित बहुत संकटमय अवस्था में था । खाने के लिए उसे भरपूर अन्न भी नहीं मिलता था । ऐसी दुःखद अवस्था में भी उसने धीरज नहीं छोड़ा । उसने विचार किया— अगर मैं पुरुषार्थ करूँगा तो मेरी दरिद्रता दूर हो जायेगी । इस प्रकार विचारकर वह आजी-विका की पूर्ति के लिए धारा नगरी में ( वर्तमान धार में ) आया ।

एक दिन राजशेखर पंडित मिट्टी के सकोरा में खराब अनाज साफ कर रहा था। राजा भोज ने घूमने जाते समय यह दृश्य देखा। यह देखकर राजा समझ गया कि यह कोई विद्वान् पुरुष ज न पड़ता है। उसकी विद्वत्ता की जाच करने के लिए उसे लक्ष्य करके राजा भोज ने संकृत में कहा—जो लोग अपना पेट भी नहीं भर सकते, वे इस समार में जीवित रहे तो क्या और जीवित न रहे तो क्या ?

राजा का यह कथन सुनकर राजशेखर के हृदय को बड़ा आघात लगा। उसने संस्कृत भाषा में ही उत्तर दिया—जो शक्तिशाली होकर दूसरे की सहायता नहीं करते वे इस संसार में रहे तो क्या और न रहे तो क्या ?

राजशेखर का करारा उत्तर सुनकर भोज को विश्वास हो गया कि यह कोई विद्वान् पुरुष है। मगर इतना विद्वान् होने पर भी यह इतना गरीब क्यों है ? यह जानने के लिए भोज ने पूछा—किस कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है ? राजशेखर ने कहा—तुम सरीखे उदार राजा सब जगह नहीं हैं। इसी कारण मेरी यह दशा हुई है। यह रहस्यपूर्ण उत्तर सुनकर राजा ने मन में विचार किया—अब मुझे इस विद्वान् की पूरी-पूरी सहायता करनी ही चाहिए।

इस प्रकार विचार कर राजा हाथी से उतर पड़ा और हाथी राजशेखर को दे दिया। राजशेखर सोचने लगा—मुझे तो पेटभर खाना नहीं मिलता ! अब मैं इस हाथी को अपने घर कैसे बाँधूँ ! इस प्रकार विचार कर राजशेखर ने हाथी के मुख के पास अपने कान लगा दिये और अपना सिर इस तरह हिलाने लगा, मानो हाथी पंडित के कान में कुछ कह रहा हो ! यह विचित्र दृश्य देखकर राजा ने पूछा—



‘क्या हाथी कुछ कह रहा है ?’

राजशेखर - जी हाँ । हाथी मुझसे कह रहा है कि मुझे लेकर तुम बांधोगे कहाँ ? अतएव भलाई इसी में है कि तुम राजा को फिर भेंट रूप में मुझे सौंप दो । ऐसा करने से मैं भी आनन्द में रहूँगा और राजा द्वारा जो धन तुम्हें पुरस्कार में मिलेगा, उसे पाकर तुम भी आनन्द में रहोगे ।

राजा भोज राजशेखर का आशय समझ गया । उसने राजशेखर को बहुत-सा धन देकर सुखी बना दिया ।

कहने का आशय यह है कि अपने पास शक्ति हो तो प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को दूसरों के दुःख दूर करने में उसका व्यय करना चाहिए । दूसरों की सहायता करने वाला ही दूसरों से सहायता लेने का अधिकारी है । जो लोग ज्ञान दर्शन-चारित्र्य की वृद्धि करने में सहायक बनते हैं, वे स्व-पर का कल्याण करते हैं ।



# साठवां बोल



## दर्शनसम्पन्नता

पिछले बोल में ज्ञानसम्पन्नता से होने वाले लाभ का विचार रिया गया है । ज्ञानसम्पन्नता से जीवात्मा समस्त पदार्थों के यथार्थ भाव को जान सकता है और फलस्वरूप चतुर्गतिरूप ससार अटवी में दुख नहीं पाता । जैसे डोरा वाली सुई गुमती नहीं, उसी प्रकार ज्ञानी जीव ससार की भूल-भूलैया में नहीं पड़ता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप तथा विनय के योग प्राप्त करता है । इसी प्रकार अपने और दूसरों के सिद्धान्त को भलीभाँति जानकर असत्य मार्ग में फँसता नहीं है ।

भगवान् महावीर ने ज्ञानप्राप्ति का मार्ग बतलाया है । सच्चा ज्ञान, सम्यक्त्व अर्थात् सच्चे दर्शन के अभाव में उत्पन्न नहीं होता । अतएव अब दर्शन के विषय में प्रश्न किया जाता है ।

ज्ञान और दर्शन का परस्पर में सहयोग है । जब ज्ञान होता है तो दर्शन भी होता है और जब दर्शन होता है तब ज्ञान भी होता है । प्रश्न किया जा सकता है कि यदि ज्ञान और दर्शन का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है तो दर्शन

के विषय में अलग प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि श्रुतज्ञान साव्यवहारिक है, जब कि दर्शन सांव्यवहारिक नहीं है। ज्ञान का तो आदान प्रदान हो सकता है पर दर्शन का आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सम्यग्ज्ञान तभी उत्पन्न होता है, जब सम्यग्दर्शन विद्यमान हो। दर्शन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। शास्त्र में कहा है--‘नादसणिस्स नाण।’ अर्थात् जिस व्यक्ति में दर्शन अर्थात् सम्यक् श्रद्धा नहीं होती उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। वही ज्ञान सच्चा है जो सम्यक्त्व के साथ होता है। ज्ञान भी क्षायोपशमिक भाव है और अज्ञान (मिथ्याज्ञान) भी क्षायोपशमिक भाव है। मगर दोनों में सम्यक्त्व होने और न होने के कारण ही अन्तर है। अतएव गौतम स्वामी अब दर्शन के विषय में भगवान् से प्रश्न करते हैं --

### मूलपाठ

प्रश्न—दणसपन्नयाए ण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—दसणसपन्नयाए णं भवमिच्छत्तच्छेयणं करेइ, परं न विज्झायइ, परं अविज्झमाणे अणुत्तरेण नाणदसणेणं अप्पाणं संजोएमाणे सम्मं भावेमाणे विहरइ ॥ ६० ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न-- भगवन् ! दर्शन प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर-- गौतम ! दर्शनसम्पन्न ( सम्यग्दृष्टि ) जीव ससार के मूल मिथ्यात्व अज्ञान का छेदन करता है। उसके

ज्ञान का प्रकाश बुझता नहीं है और उस प्रकाश में श्रेष्ठ ज्ञान तथा दर्शन से अपने आत्मा को संयोजित करके सुन्दर भावनापूर्वक विचरता है ।

## व्याख्यान

भगवान् ने दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का नाश होना बतलाया है । परन्तु मिथ्यात्व का नाश तो क्षयोपशम सम्यक्त्व से भी होता है, फिर दर्शनसम्पन्नता से विशेष लाभ क्या हुआ ? इसका उत्तर यह है कि जैसे खूनी हवा में रखे दीपक के बुझ जाने का भय रहता है, उसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के नष्ट होने का भी भय बना रहता है । क्षायिक सम्यक्त्व के लिए भय नहीं है । इसी कारण भगवान् ने उत्तर में 'पर' शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि दर्शनसम्पन्नता से मिथ्यात्व का पूर्ण नाश होता है और वह क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसके नाश होने का भय नहीं रहता । दर्शनसम्पन्नता से जीव को मिथ्यात्व के नाश के साथ क्षायिक सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती है ।

ससार-भ्रमण का प्रधान कारण मिथ्यात्व ही है । कारण के बिना कार्य नहीं होता । ससार-भ्रमण कार्य का कारण मिथ्यात्व है । दर्शनसम्पन्नता मिथ्यात्व का नाश करती है और कारण के अभाव में कार्य किस प्रकार हो सकता है ? जो वस्तु जैसी है उससे विपरीत मानना ही मिथ्यात्व है । मिथ्यात्व का छेद हो जाने से ससार-भ्रमण भी नहीं करना पड़ता ।

मिथ्यात्व ससार का कारण है और सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है । दर्शनसम्पन्न व्यक्ति मिथ्यात्व का छेदन करके

क्षयिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है । क्षायिक सम्यक्त्व वाला पुरुष या तो उसी भव मे मोक्ष प्राप्त करता है या भव-स्थिति अधिक होने पर अधिक से अधिक तीन भव में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है । क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न होकर नष्ट भी हो जाता है, किन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार उत्पन्न होने के पश्चात् फिर नष्ट नहीं होता । क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होने से परम ज्ञान और परम दर्शन प्राप्त करके दर्शनसम्पन्न व्यक्ति आनन्दपूर्वक क्षायिक ज्ञानदर्शन में रमण करता है ।

सम्यक्त्व के तीन भेद हैं: - ( १ ) उपशम गुण से प्राप्त होने वाला, ( २ ) क्षयोपशम गुण से प्राप्त होने वाला और ( ३ ) क्षायिक गुण मे प्रकट होने वाला सम्यक्त्व । इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वो मे किन्ना अन्तर है, यह बात पानी का उदाहरण देकर समझाई जाती है । एक पानी ऐसा होता है जो मलीन होता है परन्तु दवा डालने से उसका मैल नीचे जम गया है । दूसरे प्रकार का पानी ऐसा होता है कि वह ऊपर से तो स्वच्छ दिखाई देता है परन्तु उसमे मैल साफ नजर आता है । तीसरे प्रकार का पानी वह है जो पहले मलीन था किन्तु उसका मैल नीचे बैठ जाने पर निर्मल पानी नितार कर अलग कर लिया गया है । इस तीसरे प्रकार के पानी के फिर मलीन होने की सम्भावना नहीं है । इसी प्रकार मिथ्यात्व के विपाक मे शान्त हो किन्तु प्रदेश मे उदयाधीन रहता हो, वह क्षयोप-शम से प्राप्त सम्यक्त्व कहलाता है । मिथ्यात्व का उदय जब प्रदेश और विपाक—दोनों मे शान्त हो तब उपशम सम्यक्त्व होता है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से औपशमिक

सम्यक्त्व अच्छा है । तीसरा सम्यक्त्व क्षायिक है । जब मिथ्यात्व प्रदेश और उदय—दोनों से पृथक् हो गया हो अर्थात् मिथ्यात्व किसी भी प्रदेश में अथवा उदय में न रहे तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है ।

एक सम्यक्त्व के होने से ही आत्मा किस प्रकार उन्नत हो सकता है, इस सम्बन्ध में श्रेणिक का उदाहरण दिया गया है । सम्यक्त्व होने पर उसके सहायक अन्य गुण भी उत्पन्न हो जाते हैं और उस अवस्था में आत्मा का भी अभ्युदय होता है ।

राजा श्रेणिक की रानी चेलना थी । चेलना की सदैव भावना बनी रहती थी कि मेरा पति किस प्रकार धार्मिक बने ? उसकी यह मान्यता थी कि अगर मैं अपने पति को धर्मभावना से ओतप्रोत करूँ तो ही सच्ची पतिव्रता पत्नी कहलाऊँ । दूसरी तरफ श्रेणिक सोचता था—‘पत्नी को क्या अभी से धर्म की लत लग गई है । इसे इस लत से किसी प्रकार छुड़ाना चाहिए ।’ इस प्रकार पति और पत्नी—दोनों का ध्येय एक दूसरे से विपरीत था और दोनों ही अपने अपने ध्येय के अनुसार कार्य करने में जुटे हुए थे । रानी सोचती थी महाराज मुझे ठगने का प्रयत्न करते हैं और मैं राजा को शुद्ध करने का प्रयत्न करती हूँ । राजा सोचता था—रानी को धर्म की बीमारी लग गई है और मैं उसे इस बीमारी से बचाने की कोशिश कर रहा हूँ ।

श्रेणिक राजा रानी को धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए कई बार छल-कपट करता था । अतएव रानी ने सबको सूचना कर दी थी कि जो महात्मा चार ज्ञान के

धारक, समर्थ तथा व्रतपावन मे दृढ हो, वही यहां पधारें, क्योंकि यहां राजा की तरफ से, धर्मश्रद्धा से विचलित करने के लिए छल किया जाता है। यहां कोई साधारण साधु न पधारें। इस सूचना पर ध्यान न देकर अगर कोई साधारण साधु यहां पधारेंगे तो वे राजा के कपट-जाल मे फँस जाएँगे और नतीजा यह होगा कि धर्म की अवहेलना होगी। रानी को इस सूचना के कारण श्रेणिक के राज्य मे समर्थ साधु ही आते थे। सामान्य साधुओं ने तो उनके राज्य मे जाना भी बन्द कर दिया था।

एक महात्मा ग्रामानुग्राम विचरते हुए राजगृह में पधारे। राजा ने सुना कि रानी के गुरु राजधानी मे आये हैं। यह सुनकर उसने सोचा—रानी के गुरु को अपमानित करने का यह ठीक अवसर हाथ लगा है। रानी का गुरु भ्रष्ट होगा तो रानी का धर्मगौरव भी हल्का पड़ जायेगा।

इस प्रकार विचार कर राजा ने एक वेश्या को बुलाकर कहा—तू उस साधु के स्थान पर जा और किसी भी उपाय से उसे भ्रष्ट करके वापिस यहां आ। तू मेरा यह काम कर देगी तो तुझे मुह-मागा इनाम दूंगा। वेश्या तो राजा का काम मुफ्त मे ही करने को तैयार थी, तिस पर राजा की सहायता और इनाम मिलने की आशा से उसने तुरन्त हाँ भर ली। वह सिंगार सजकर और कामोत्तेजक अन्य सामान लेकर साधु के स्थान पर गई। साधु ने उसे देखते ही कहा—‘खबरदार! रात्रि के समय हमारे स्थान पर स्त्रियों का आना निषिद्ध है। यह कोई गृहस्थ का मकान नहीं है। यहां साधु रहते हैं।’

वेश्या बोली—महाराज! आपका कहना सही है, मगर

आपका कहना वही मान सकता है जो आपकी आज्ञा माथे चढ़ाती हो । मैं तो दूसरे ही कारण से यहाँ आई हूँ । मैं आपको किसी प्रकार का कष्ट देने नहीं आई । आपका मनोरंजन करने और आपको सुख पहुँचाने के लिए ही आई हूँ ।

इतना कहते-कहते वेश्या, साधु के स्थान में घुस गई । साधु समझ गये कि यह मुझे भ्रष्ट करने की बुद्धि में यहाँ आई है । मैं अपने शीलव्रत पर दृढ़ हूँ किन्तु जब यह बाहर निकलेगी और कहेगी कि मैं साधु के शीलव्रत का भंग कर आई हूँ, तब मेरा कहा कौन सुनेगा ?

महात्मा ने उस समय अपनी लब्धि द्वारा विकराल रूप धारण किया । यह देवकर वेश्या घबराई और कहने लगी - महाराज ! क्षमा करो । मुझे बचाओ । मैं तो राजा श्रेणिक के कहने से आई हूँ । मैं तो अभी यहाँ से भाग जाती, मगर क्या करूँ लाचार हूँ । बाहर ताला लग गया है । बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है । आप मुझ पर दया कीजिये ।

उन महात्मा ने वैक्रिय लब्धि द्वारा अपना वेष ही बदल डाला था । शास्त्र में कारणवश वेष बदल लेने का विधान है । अपवादरूप में साधुलिंग को बदलने का शास्त्र में कथन किया गया है । चारित्र्य की रक्षा तो उस समय भी की जाती है किन्तु अवसर आ जाने पर लिंग बदल डालने का अपवाद मार्ग में कथन है ।

एक ओर यह घटना घट रही है । दूसरी ओर राजा, रानी से कह रहा है - तुम अपने गुरु की इतनी प्रशंसा करती थी, अब जरा उनका हाल तो देखो ! उन्होंने तो एक वेश्या घर में घुसेड रखी है ।



चेलना ने आश्चर्यपूर्ण स्वर से कहा— ऐसा ? मगर जब तक मैं अपनी आखों न देख लू तब तक मान नहीं सकती । अगर यह बात सच होगी तो मैं उन्हें अपना गुरु नहीं मानूंगी । अपन तो सत्य के उपासक हैं । आप जैसा कहते हैं दिखलाइए ।

राजा— मैं तो देख ही चुका हूँ । अब बात बढ़ाने से क्या लाभ है ?

रानी—जब तक मैं अपनी आखों से देख न लूँ तब तक हर्गिज मानने को तैयार नहीं । अगर मैं ऐसा देखूंगी तो उसी घड़ी उन्हें साधु मानना छोड़ दूंगी ।

आखिर राजा, चेलना रानी को साथ लेकर साधु के स्थान पर आया । दरवाजा खोला गया । दरवाजा खुलते ही वेश्या ऐसी भागी आई, मानो पीजरा खुलते ही पक्षी भागकर निकला हो ! आते ही उसने कहा— आप और कोई भी काम मुझ सौंप दें, मगर साधु के पास जाने का काम मुझे न बताइएगा । आज इन महात्मा के तपस्तेज में मैं भस्म ही हो गई होती, मगर उन्हीं की दया से मेरे प्राण बच गए !

वेश्या की बात सुनकर रानी ने राजा से कहा— महाराज ! यह वेश्या क्या कह रही है ? इसके कहने से तो मालूम होता है कि आपने ही इसे यहाँ भेजा था । भले ही आपने इसे भेजा हो मगर मैं तो पहले ही कह चुकी हूँ कि मेरे गुरु को इन्द्राणी भी नहीं डिगा सकती । पर यह जो कह रही है, उस पर विचार कीजिए ।

रानी की बात सुनकर राजा लज्जित हो गया ।

देव को देखकर राजा से कहा— देखिये महाराज ! यह आपके धर्मगुरु जा रहे हैं । हाथ में मछली पकड़ने का जाल लिए, जाते हुए साधु वेषधारी देव को देखकर राजा ने विस्मय के साथ पूछा—‘यह क्या है ?’ उसने उत्तर दिया— राजन् ! मैं मछलिया पकड़ने जा रहा हूँ । मैं तुम्हारी आँखों के सामने आ गया हूँ, इसलिए भले ही मुझे दोषी गिन लो, पर वास्तव में महावीर भगवान् के सभी साधु मेरे समान ही हैं ।

राजा के लिए यह समय सम्यक्त्व से विचलित होने का था, मगर उसकी श्रद्धा तो वज्रलेप के समान दृढ़ थी । उसने उत्तर में कहा—अपनी शिथिलता के लिए अपने आत्मा को दोष दो । सब साधुओं को झूठा कलक मत लगाओ । भगवान् महावीर के साधु तुम सरीखे शिथिलाचारी हो ही नहीं सकते !

राजा श्रेणिक साधु वेषधारी देव को फटकार बतलाकर थोड़ा और आगे बढ़े वहाँ उन्होंने गर्भवती स्त्री की तरह मोटे पेट वाली साध्वी अपनी ओर आती देखी । साध्वी कभी गर्भवती नहीं हो सकती, फिर भी साध्वीवेष में उस गर्भवती को देखकर राजा ने कहा—‘यह कौन अभागिनी है !’ साध्वीवेषधारी देव ने कहा—राजन् ! मैं आज अचानक तुम्हारी दृष्टि में आ पड़ी हूँ । नहीं तो भगवान् महावीर की सभी साध्वियाँ मुझ जैसी दुराचारिणी ही हैं । राजा ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा—‘तुम आप दुराचारिणी हो, इसे कारण सभी साध्वियों को कलकित करना चाहती हो !’

धर्मश्रद्धा को ढिगा देने वाली घटनाएँ देखकर भी

राजा श्रणिक की निश्चल श्रद्धा में भगवान् महावीर के धर्म के प्रति लेशमात्र भी सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ । देव, राजा की धर्मश्रद्धा देखकर चकित रह गया । अन्त में उसने अपना मायाजाल समेट लिया । वह राजा के पास आया और कहने लगा—महाराज ! तुम्हारी धर्मपरीक्षा करने के लिए ही मैंने यह स्वाग रचे थे ।

कहने का आशय यह है कि व्रत-प्रत्याख्यान करने की शक्ति न होने पर भी अगर सच्ची धर्मश्रद्धा कायम रहे अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो आत्मा का कल्याण अवश्य होता है । अगर तुम अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो तुम्हें भी सम्यक्त्व में दृढ़ रहना चाहिए । इस विषम पचमकाल में श्रद्धा को विचलित करने वाली अनेक बातें सुनी और देखी जाती हैं । मगर हृदय में सच्ची श्रद्धा हो तो ससार में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो तुम्हें धर्म से डिगा सके । धर्मश्रद्धा में दृढ़ रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा ।



कहने लगा वेश्या की बातों पर अधिक ध्यान देना ठीक नहीं है । अब यह बत जाने दो ।

रानी ने कहा—ठीक है । यह वेश्या अत्मा की दृष्टि से मेरी बहिन के समान है फिर भी इसकी बात छोड़ देती हूँ । मगर आप भी यह बात जाने दोजिए । अच्छा जरा उन महात्मा के पास तो चलें ।

दोनों महात्मा के पास पहुँचे । देखा, महात्मा किसी दूसरे ही वेष में थे । यह देखकर रानी ने राजा से कहा—यह देखो, यह मेरे गुरु ही नहीं हैं । मैं तो द्रव्य और भाव—दोनों से जो युक्त हूँ उसी को अपना गुरु मानती हूँ । इन महात्मा का वेष मेरे गुरु का वेष नहीं है जब मेरे गुरु का वेष ही नहीं है तो इन्हें अपना गुरु कैसे मान लूँ ?

कुछ लोग कहते हैं कि रजोहरण और मुखपत्ती में क्या धरा है ! परन्तु वास्तव में इनका अधिक महत्व है । चिह्न का कितना अधिक महत्व है ! स्टीमर, मोटर आदि पर जो चिह्न रखा जाता है उनका कितना अधिक महत्व गिना जाता है ? इसी प्रकार मुखवस्त्रिका भी जैनधर्म के साधुओं की निशानी है । श्री उत्तराध्ययन सूत्र में रजोहरण-मुखवस्त्रिका आदि को ऋषीश्वर की ध्वजा कहा है । इसी शास्त्र में कहा है—‘लोगे लिगपयोयण’ अर्थात् लोक में लिग का प्रयोजन है ।

कहने का आशय यह है कि धर्मों द्वारा ही धर्म की पहचान होती है । रानी ने राजा से कहा—महाराज ! धर्म के प्रति इस प्रकार छल-कपट करना छोड़ दो । आखिर रानी की बात राजा के गले उतर गई । बाद में अनाथी

जैसे महानिर्ग्रन्थ के ससर्ग में आने से उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हुई । राजा श्रेणिक सम्यक्त्व के प्रभाव से कसा आत्मलाभ प्राप्त कर सके इस सम्बन्ध में ग्रन्थों में कहा है—

न सेणिओ आसितया बहुस्सुओ,  
न यावि पन्नत्तिधरो न वायगो ।  
सो आगमिस्साइ जिणो भविस्सइ,  
समिक्ख पन्नाइ वर खु दसणं ॥

अर्थात्— राजा श्रेणिक एक नवकारसी भी नहीं कर सका था । वह बहुश्रुत भी नहीं था । साधुपना उसने धारण नहीं किया था और न वह वाचक व्याख्याता ही था । फिर भी शुद्ध सम्यक्त्व के कारण वह भविष्य में पद्मनाभ तीर्थ-ङ्कर होगा ।

श्रेणिक राजा पहले तो धर्म की आवश्यकता ही स्वीकार नहीं करता था । किन्तु भगवान् महावीर के तथा महानिर्ग्रन्थ अनाथी मुनि के ससर्ग में आने के बाद उसमें वज्र-लेप जैसी निष्क श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी । धर्म के प्रति निश्चल श्रद्धा होने के कारण ही श्रेणिक आत्मकल्याण साध सके ।

राजा श्रेणिक सम्यक्त्व में बहुत दृढ़ थे । उनकी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा सुनकर एक देव ने विचार किया— आखिर तो श्रेणिक एक मनुष्य है । मनुष्य को धर्म से विचलित करना कौन बड़ी बात है । एक दिन जब श्रेणिक राजा बाहर घूमने के लिए निकला तो वह देव साधु के वेष में शिकारी का स्वाग सजकर, शक्ति होता हुआ राजा के पास से निकला । राजा के कर्मचारियों ने साधु वेषधारी शिकारी

देव को देखकर राजा से कहा-- देखिये महाराज ! यह आपके धर्मगुरु जा रहे हैं । हाथ में मछली पकड़ने का जाल लिए, जाते हुए साधु वेषधारी देव को देखकर राजा ने विस्मय के साथ पूछा-- 'यह क्या है ?' उसने उत्तर दिया-- राजन् ! मैं मछलिया पकड़ने जा रहा हूँ । मैं तुम्हारी आँखों के सामने आ गया हूँ, इसलिए भले ही मुझे दोषी गिन लो, पर वास्तव में महावीर भगवान् के सभी साधु मेरे समान ही हैं ।

राजा के लिए यह समय सम्यक्त्व से विचलित होने का था, मगर उसकी श्रद्धा तो वज्रलेप के समान दृढ़ थी । उसने उत्तर में कहा-- अपनी शिथिलता के लिए अपने आत्मा को दोष दो । सब साधुओं को झूठा कलक मत लगाओ । भगवान् महावीर के साधु तुम सरीखे शिथिलाचारी हो ही नहीं सकते !

राजा श्रेणिक साधु वेषधारी देव को फटकार बतलाकर थोड़ा और आगे बढ़े वहाँ उन्होंने गर्भवती स्त्री की तरह मोटे पेट वाली साध्वी अपनी ओर आती देखी । साध्वी कभी गर्भवती नहीं हो सकती, फिर भी साध्वीवेष में उस गर्भवती को देखकर राजा ने कहा-- 'यह कौन अभागिनी है ।' साध्वीवेषधारी देव ने कहा-- राजन् ! मैं आज अचानक तुम्हारी दृष्टि में आ पड़ी हूँ । नहीं तो भगवान् महावीर की सभी साध्वियाँ मुझ जैसी दुराचारिणी ही हैं । राजा ने उसे उपालम्भ देते हुए कहा-- 'तुम आप दुराचारिणी हो, इसे कारण सभी साध्वियों को कलकित करना चाहती हो !'

धर्मश्रद्धा को ढिगा देने वाली घटनाएँ देखकर भी

राजा श्रणिक की निश्चल श्रद्धा में भगवान् महावीर के धर्म के प्रति लेशमात्र भी सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ । देव, राजा की धर्मश्रद्धा देखकर चकित रह गया । अन्त में उसने अपना मायाजाल समेट लिया । वह राजा के पास आया और कहने लगा--महाराज ! तुम्हारी धर्मपरीक्षा करने के लिए ही मैंने यह स्वाग रचे थे ।

कहने का आशय यह है कि व्रत-प्रत्याख्यान करने की शक्ति न होने पर भी अगर सच्ची धर्मश्रद्धा कायम रहे अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो आत्मा का कल्याण अवश्य होता है । अगर तुम अपने आत्मा का कल्याण करना चाहते हो तो तुम्हें भी सम्यक्त्व में दृढ़ रहना चाहिए । इस विषम पंचमकाल में श्रद्धा को विचलित करने वाली अनेक बातें सुनी और देखी जाती हैं । मगर हृदय में सच्ची श्रद्धा हो तो संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो तुम्हें धर्म से ढिगा सके । धर्मश्रद्धा में दृढ़ रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा ।



# एकसठवां बोल

## चारित्रसम्पन्नता

शास्त्र में कहा है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह रत्नत्रय ही मोक्ष का मार्ग है । तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।’ अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है । ज्ञान से वस्तु जानी जाती है, दर्शन से जानी हुई वस्तु पर श्रद्धा की जाती है और तब तदनुसार आचरण किया जाता है । गौतम स्वामी और भगवान् महावीर के बीच जो प्रश्नोत्तर हुए हैं, उन पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है । अब गौतम स्वामी चारित्र के विषय में भगवान् से प्रश्न करते हैं.—

### मूलपाठ

प्रश्न—चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चरित्तसंपन्नयाए सेलेसीभाव जणयइ, सेलेसि पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ, तत्रो पच्छा सिज्झइ, वुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥ ६१ ॥



## शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! चारित्र्यसम्पन्नता से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चारित्र्य-सम्पन्नता से जीव शैलेशी (मेरु पर्वत की तरह निश्चल) भाव को प्राप्त करता है । शैलेशीभाव को प्राप्त अनगार बाकी बचे हुए चार कर्मों को खपाता है और फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण को प्राप्त करके समस्त दुःखों का अन्त करता है ।

## व्याख्यान

पूर्ण चारित्र्यसम्पन्नता से जीव शैलेशी-अवस्था प्राप्त करता है । शैलेशी अवस्था अर्थात् कपन-रहित अवस्था प्राप्त करना । जैसे शैल अर्थात् पर्वत अकपन होता है, उसी प्रकार शैलेशी अवस्था को प्राप्त जीवात्मा भी निष्कप बन जाता है । शैल का अर्थ पर्वत और ईश का अर्थ प्रधान है । जैसे सुमेरु पर्वत अटल-अडोल-अचल और अकप है, उसी प्रकार पूर्ण चारित्र्यसम्पन्नता से जीवात्मा मन, वचन तथा काय के योगों को रोककर सुमेरु के समान निश्चलता प्राप्त करता है । चारित्र्यसम्पन्नता से आत्मा लेख्यारहित अवस्था पाता है, ऐसा अर्थ भी घट सकता है, क्योंकि लेख्या के होने पर ही कपन होता है । जीव जब लेख्याहीन हो जाता है तब वह अचल बन जाता है ।

चारित्र्य का अर्थ है—पूर्ण शील अथवा पूर्ण संवर की प्राप्ति । अहिंसा, सत्य आदि उत्कृष्ट संवर की प्राप्ति होना उत्कृष्ट चारित्र्य है । उत्कृष्ट चारित्र्य प्राप्त करके आत्मा

तेरहवे गुणस्थान से चौदहवां गुणस्थान प्राप्त करके अडोन-अकप बन जाता है। अर्थात् मन, वचन तथा काय के योगों का निरोध करके अयोगी बन जाता है। अयोगी होने के बाद जीवात्मा केवली सम्बन्धी चार कर्मों को नष्ट करके पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण जितनी स्थिति भोगकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार वह जीव सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होकर समस्त दुःखों का अन्त करता है।

साधारणतया पुरुष के लिए स्त्री का और स्त्री के लिए पुरुष का त्याग करना शील समझा जाता है। मगर शास्त्र कहते हैं कि शील में समस्त संवर के गुणों का समावेश हो जाता है। सवरगुण में आना ही शील कहलाता है। सब प्रकार से पूर्ण अहिंसक, सत्यवादी अस्तेयव्रती, ब्रह्मचारी तथा निष्परिग्रही होना ही सम्पूर्ण शील है। शील के इन साधनों को कोई पूर्ण रूप में स्वीकार करते हैं, कोई आशिक रूप में। श्रीसूयगडागसूत्र में कहा है— जो व्यक्ति एक देश से भी शील के साधनों को स्वीकार करता है, वह भी मोक्ष का पथिक है। शील का सम्यक् प्रकार से पालन करने वाला ही मोक्ष के मार्ग पर जा सकता है, अन्यथा नहीं।

शीलवान् बनने के लिए सर्वप्रथम हेय, ज्ञेय और उपादेय वस्तु का विवेक करने की आवश्यकता है। हेय, ज्ञेय तथा उपादेय वस्तु का विवेक करके शील का जितना हो सके, उतना पालन निष्कपटभाव से करना चाहिये।

ससार का कोई भी बल चारित्र्य-बल का मुकाबला नहीं कर सकता। लोग धन-जन आदि के बल को बल मानते हैं, मगर शास्त्र का कथन है कि चारित्र्यबल की तुलना कोई बल नहीं कर सकता। चारित्र्यबल हो तो दूसरे

बल स्वतः आ जाते हैं और चारित्र्यबल के अभाव में दूसरे बल निर्बल हो जाते हैं । राम के पास चारित्र्यबल को छोड़कर और क्या था ? लेकिन चारित्र्यबल की बदौलत सभी बल उनके पास आ जुटे । इसके विरुद्ध रावण के पास धन-बल, सत्ताबल, सेनाबल आदि अनेक प्रकार के बल मौजूद थे, सिर्फ चारित्र्यबल उसके पास नहीं था । इसी कारण उसके सब बल निर्बल और निष्फल सिद्ध हुए । इस प्रकार चारित्र्यबल की मौजूदगी में सभी बल आ जाते हैं और चारित्र्यबल के अभाव में सभी बल निष्फल हो जाते हैं । अतएव सिद्ध है कि चारित्र्यबल सभी बलों में महान् है । आज लोग दुःखी होकर दर-दर भटकते हैं । इसका प्रधान कारण चारित्र्यबल का अभाव है । चारित्र्यबल से ही आत्मा का अक्षय कल्याण होता है ।



# बासठ, त्रैसठ, चौंसठ, पैंसठ छांसठवां बोल



## इन्द्रिय-निग्रह

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रश्नोत्तर में भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा कि चारित्र की उत्कृष्टता से जीवात्मा को शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है । इसके बाद वह मुक्त हो जाता है । सवर ही चारित्र है । संवर का स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र में कहा है — इन्द्रियो का निग्रह करना ही सवर है । मगर इन्द्रियनिग्रह क्या है और उससे जीवात्मा को क्या लाभ होता है, इस विषय में अब प्रश्न किया जाता है ।

प्रत्येक कार्य का फल तो मिलता ही है और फल जानने के बाद ही कार्य में शीघ्र प्रवृत्ति होती है । फल दो प्रकार का है—लौकिक और लोकोत्तर । लौकिक फल की इच्छा करना उचित नहीं है । लोकोत्तर फल तो धर्म के साथ ही होता है और उसे जान लेने के बाद धर्मकार्य में प्रवृत्ति हो सकती है ।

आत्मदमन करने के लिए इन्द्रियो का निग्रह करना आवश्यक है । इन्द्रियो का निग्रह किये बिना आत्मविजय प्राप्त नहीं की जा सकती । आत्मा का कल्याण करने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय आदि का निग्रह करना आवश्यक है । इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय आदि इन्द्रियो का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं :—

### मूलपाठ

प्रश्न—सोइंदियनिग्गहेण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सोइंदियनिग्गहेणं मणुप्तामणत्तेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बधइ, पुत्तववद्धं च निज्जरेइ ॥ ६२ ॥

प्रश्न—चक्खिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चक्खिन्दियनिग्गहेणं मणुप्तामणत्तेसु रुवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बधइ, पुत्तववद्धं च निज्जरेइ ॥ ६३ ॥

प्रश्न—घाणिन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बधइ, पुत्तववद्धं च निज्जरेइ ॥ ६४ ॥

प्रश्न—जिह्विन्दियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—जिह्विन्दियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बधइ, पुत्तववद्धं च निज्जरेइ ॥ ६५ ॥

प्रश्न—फासिन्द्रियनिग्रहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— फासिन्द्रियनिग्रहेणं मणुण्णामणुण्णेषु फासेसु रागदोसनिग्रहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न वधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६६ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! श्रोत्रेन्द्रिय (कान) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से मनोज्ञ या अमनोज्ञ (सुन्दर या असुन्दर) शब्दों में राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति होती है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से सुन्दर-असुन्दर रूपों (दृश्यो) में राग-द्वेषरहित प्रवृत्ति होती है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न—भगवन् ! घ्राणेन्द्रिय (नाक) का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—घ्राणेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव सुगन्ध और दुर्गन्ध में राग-द्वेष रहित हो जाता है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बंध नहीं होता और पहले बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है ।

प्रश्न - भगवन् ! जीभ का निग्रह करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीभ का निग्रह करने से स्वादिष्ट-अस्वादिष्ट रसों में जीव राग-द्वेष रहित हो जाता है और इससे राग-द्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बन्ध नहीं होता और पहले बंध हुए कर्मों का क्षय करता है ।

प्रश्न—भगवन् ! स्पर्शन इन्द्रिय के निग्रह से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह से जीव सुन्दर-असुन्दर स्पर्शों में राग-द्वेष से रहित हो जाता है और रागद्वेष के कारण उत्पन्न होने वाले कर्मों का बन्ध नहीं करता और पहले बन्धे हुए कर्मों का क्षय करता है ।

## व्याख्यान

इन्द्रियो के निग्रह करने का अर्थ यह नहीं है कि उन्हें नष्ट कर दिया जाये । इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ है इन्द्रियो पर काबू पाना—उन्हे अपने वश में रखना । स्वयं इन्द्रियों के वश में न हो जाना इन्द्रिय-निग्रह है । जैसे घुड़-सवार घोड़े को अपने काबू में रखता है, वह घोड़े के वश में नहीं हो जाता, उसी प्रकार इन्द्रियो को अपने वश में रखना ही इन्द्रियनिग्रह है । सवार घोड़े को अपने काबू में नहीं रखेगा तो नतीजा यह होगा कि वह नीचे पड़ जाएगा । इसी प्रकार इन्द्रियो पर काबू न पाने का परिणाम है—आत्मा का पतन । इन्द्रियो का निग्रह करने से आत्मा का उद्धार होता है और निग्रह न करने से पतन अवश्यम्भावी है ।

इन्द्रियों का निग्रह करने और न करने में क्या अंतर है और क्या हानि-लाभ है, यह बतलाते हुये एक संस्कृत के कवि ने कहा है :—

विभेषि यदि संसारान्मोक्षप्राप्तिं च कांक्षसि ।  
तदेन्द्रियजयं कर्तुं स्फोरय स्फारपौरुषम् ॥  
आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।  
तज्जयः सम्पदां मार्गो, येनेष्ट तेन गम्यताम् ॥  
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ ।  
निगृहीतानि सृष्टाणि स्वर्गाय नरकाय च ॥

अर्थात्—अगर तू इस संसार से डरता हो और मोक्ष प्राप्त करना चाहता हो तो इन्द्रियो का निग्रह करने का प्रयत्न कर । इन्द्रियो को वश में न करना आपदा का मार्ग है और उन्हें वश में करना सपदा का मार्ग है । इन दोनों में से तुझे जो मार्ग रुचिकर हो, उसी पर तू चल । स्वर्ग और नरक भी इन्द्रियो में ही हैं । इन्द्रियो के निग्रह से स्वर्ग मिलता है और निग्रह न करने से नरक मिलता है । इन दोनों में तुझे जो पसन्द हो, उसे पाने का प्रयत्न कर ।

इन्द्रियो का निग्रह करने के लिए तो सभी कहते हैं, विकट प्रश्न तो यह है कि इन्द्रियो का निग्रह किया किस प्रकार जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पदार्थों के असली स्वरूप का विचार करके उन्हें निस्सार समझना चाहिये और उन निस्सार पदार्थों से विरक्त होकर, इन्द्रियों को उनकी ओर जाने नहीं देना चाहिए । साथ ही, जिन कामो से आत्मा का कल्याण होता हो उन्ही कामो में आत्मा को प्रवृत्त करना चाहिए । इन्द्रियों को वश में करने का यही उपाय है ।



शास्त्र का कथन है कि कान, आँख आदि इन्द्रियां स्वर्ग भी दिलाती हैं और नरक भी दिलाती हैं । चारित्र्य को भ्रष्ट करने वाली बातें कान से सुनना नरक-प्राप्ति का मार्ग है और आत्मकल्याण करने वाली बातें सुनना स्वर्ग-प्राप्ति का रास्ता है । संक्षेप में, आशय यह है कि इन्द्रियों को बुरे कामों में प्रवृत्त न करके भले कामों में प्रवृत्त करना ही इन्द्रियनिग्रह का उपाय है ।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि बुरा काम किसे कहना चाहिए और भला काम किसे कहना चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस कार्य को करने के लिए तुम्हारे अन्तःकरण में विषम भाव उत्पन्न हो वह बुरा काम है और जिसे करने के लिए समभाव उत्पन्न हो वह भला (प्रशस्त) काम है । अगर तुम्हारा आत्मा इन्द्रियों का दास न होगा तो वह स्वयं ही बुरे-भले काम की परीक्षा कर लेगा । अगर तुम्हारी सत्-असत् का विवेक करने का शक्ति का विकास न हुआ हो तो ज्ञानीजनों की शिक्षा के अनुसार बुरे कामों से हटकर भले कामों में लगना चाहिए । यो करते-करते एक न एक दिन तुम्हारा आत्मा इन्द्रियों पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर सकेगा ।

इन्द्रियों का निग्रह करने के लिए सबसे पहले यह देखो कि चीजें महँगी हैं या इन्द्रियाँ महँगी हैं ? तुम्हारे कान महँगे हैं या मोती महँगे हैं ? कहने को तो कह दोगे कि मोती की वनिस्वत कान महँगे हैं, परन्तु मोती गुम जाने पर उसके लिए जितनी चिन्ता करते हो, उतनी चिन्ता क्या उस वक्त भी करते हो जब कान बुरी बातें सुनने को तैयार होता है ? साधारण तौर पर कान से अच्छे और बुरे शब्द

सुनाई देते हैं । कहने का आशय यह नहीं है कि कान का निग्रह करने के लिए कान को नष्ट कर डालो या कानों में फोहा लगा लो ! परन्तु खराब बातों की तरफ कान को जाने मत दो । फिर भी अगर खराब शब्द कान में आ पड़ें तो उन पर ध्यान मत दो, जैसे कि माता-पिता की निन्दा के शब्दों पर ध्यान नहीं दिया जाता है । कान में जो शब्द पड़ें, उनके कारण आत्मा में राग द्वेष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए । शब्द के कारण राग द्वेष उत्पन्न न होने देना ही श्रोत्र-विजय प्राप्त करने का मार्ग है । इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के मनोज्ञ (पसन्द) और अमनोज्ञ (नापसन्द) विषय प्राप्त करके उन पर राग द्वेष न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह का मार्ग है । आँख से माता भी देखी जाती है, वहिन भी देखी जाती है और दूसरी स्त्री भी देखी जाती है । सबको देखने वाली आँख एक ही है, पर दृष्टि में अन्तर होता है । इसी अन्तर के कारण राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है । अतः यह अन्तर न रखते हुए अपनी पत्नी के अतिरिक्त समस्त स्त्रियों को माता या वहिन के समान मानने से आँख का निग्रह हो सकेगा । आँख का निग्रह हो जाने से राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होगा ।

इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय आदि का भी निग्रह करना चाहिए । सारांश यह है कि पसद या नापसद — कोई भी वस्तु सूँघने में चखने में या झूने में आ जाये तो इन्द्रियों को इस प्रकार प्रवृत्त न किया जाये कि इन परिवर्तनशील पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न हो । यह विचार करना चाहिए कि वस्तु तो अच्छी से बुरी और बुरी से अच्छी होती ही रहती है । इसमें मैं रागद्वेष क्यों

करूँ ? इस प्रकार विचार करने से इन्द्रियविजय प्राप्त होती है। पदार्थ किस प्रकार परिवर्तनशील हैं, यह बात एक शास्त्र-प्रसिद्ध उदाहरण द्वारा समझाता हूँ.—

जित्रशत्रु नामक एक राजा था । उसके प्रधान का नाम सुबुद्धि था । सुबुद्धि बड़ा विचारशील था । एक दिन सुबुद्धि राजा के साथ भोजन करने बैठा था । भोजन स्वादिष्ट था । राजा ने प्रधान से कहा— ‘देखो, कितना स्वादिष्ट भोजन है !’ राजा के इस कथन के उत्तर में सुबुद्धि ने कहा—‘इसमें क्या है ? इष्ट से अनिष्ट हो जाना और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तुओं का स्वभाव ही है ।’ राजा ने कहा— ‘प्रधान, तुम तो नास्तिक जान पड़ते हो । क्या यह भी कभी सम्भव है कि अच्छी वस्तु बुरी और बुरी वस्तु अच्छी बन जाए !’

राजा अपने दूसरे कर्मचारियों से इस सम्बन्ध में बात करता तो वे सब राजा की ही बात का समर्थन करते थे । मगर सुबुद्धि तो यही कहता कि तुम लोग चाहो सो कहो । मेरे गुरु ने तो मुझे यही सिखलाया है और मैं यही मानता हूँ कि इष्ट का अनिष्ट और अनिष्ट का इष्ट हो जाना ही पुद्गल का स्वभाव है । पुद्गल का स्वभाव नष्ट हो जाना है, अतएव वस्तु का इष्ट-अनिष्ट हो जाना स्वाभाविक है ।

राजा ने प्रधान को बहुत समझाने की कोशिश की पर प्रधान ने अपनी बात नहीं बदली । प्रधान को अपनी बात पर पूरा भरोसा था । उसने राजा से कहा— जिस बात को मैं सत्य मानता हूँ, उस सत्य को मैं असत्य कैसे कह सकता हूँ ? राजा ने समझ लिया कि प्रधान इस समय हठ पकड़ कर बैठा है । अब इस बात को जाने

दिया जाये !

एक दिन राजा नगर-निरीक्षण करने निकला । प्रधान साथ ही था । नगर के चहुं ओर खाई थी । पानी भर जाने के कारण खाई में से बदबू निकल रही थी । राजा और प्रधान उसी खाई के पास से निकले । खाई से निकलने वाली दुर्गन्ध असह्य थी । राजा ने प्रधान से कहा - प्रधान, देखो इस खाई का पानी कितना बदबूदार है ? इतना कहकर राजा ने अपनी नाक दबा ली । उस समय भी प्रधान ने यही उत्तर दिया - 'महाराज ! इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट हो जाना तो वस्तु का स्वभाव ही है।' प्रधान का उत्तर सुनकर राजा ने कहा - 'प्रधान तुम बहुत हठी हो । क्या सब चीजें ऐसी हो सकती हैं ?' प्रधान बोला - महाराज मैं हठ नहीं करता, वस्तु का सच्चा स्वरूप कह रहा हूँ । आप कुछ भी फरमावें, मुझे तो आपके प्रति भी समभाव रखना है और वस्तु के प्रति भी समभाव रखना है ।

घर पहुँचकर प्रधान ने विचार किया - वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में राजा के साथ मेरा मतभेद बढ़ता चला जा रहा है मुझे किसी प्रकार राजा को अपनी बात की खातिरी करा देना चाहिए कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह सत्य है - असत्य नहीं । इस प्रकार विचार कर उसने अपना एक विश्वस्त आदमी भेजकर, खाई का बदबूदार पानी एक घड़ा भरवाकर मगवाया । प्रधान ने उस पानी को अपने ४६ प्रयोगों द्वारा पण्डित किया । तत्पश्चात् उसने वह पानी राजा के पानी भरने वाले को दिया और कहा - 'महाराज जब भोजन करने बैठें तो पीने के लिए यह पानी रख देना ।

राजा जब भोजन करने बैठा तो उस आदमी ने वही पानी पीने के लिए रख दिया। पानी पीकर राजा ने कहा—अरे, यह पानी तो बहुत मीठा है। यह कहा से भर लाया है? आदमी ने उत्तर दिया—‘यह पानी प्रधानजी ने भेजा है।’ राजा ने प्रधान को उसी समय बुलवाकर कहा—‘तुम इतना मीठा पानी पीते हो और मेरे लिए आज यह भिजवाया है।’ प्रधान ने कहा—‘इस पानी में ऐसा क्या है? यह तो वस्तु का स्वभाव ही है कि वह अनिष्ट के इष्ट और इष्ट से अनिष्ट हो जाती है।’

राजा ने कहा—फिर वही बात करने लगे?

प्रधान मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ। यह पानी उसी खाई का पानी है, जिसकी बदबू के मारे आपने नाक दबा लिया था।

राजा—वह बदबू वाला पानी इतना मीठा कैसे बन सकता है।

प्रधान—महाराज! मैं प्रयोग द्वारा आपके सामने भी उस पानी को ऐसा मीठा बना सकता हूँ।

आखिर राजा ने खाई का दुर्गन्ध वाला पानी मंगवाया। प्रधान से उसे शुद्ध और सुगन्धित बनाने के लिए कहा। प्रधान ने पहने की तरह उस पानी को परिष्कृत कर दिया। इस घटना से राजा को विश्वास हो गया कि वस्तु में परिवर्तन हो सकता है। राजा ने प्रधान के सिद्धांत को स्वीकार करके कहा—प्रधानजी! आप धर्मज्ञ और विचारशील हैं। अतः मुझे केवली प्ररूपित धर्म सुनाइए। सुबुद्धि प्रधान श्रावक था और धर्मतत्त्व का ज्ञाता था।

उसने राजा को धर्मतत्त्व समझाया । श्रावक को धर्म समझाने का अधिकार है, मगर जब वह स्वयं ज्ञाता हो तभी दूसरों को समझा सकता है ! सुबुद्धि प्रधान से धर्मतत्त्व समझकर राजा बारह व्रतधारी श्रावक बना । धीरे-धीरे उसने आत्मकल्याण किया ।

कहने का आशय यह है कि धर्म का ज्ञाता व्यक्ति तो यही मानता है कि इष्ट से अनिष्ट और अनिष्ट से इष्ट होना ही वस्तु का स्वरूप है । इस प्रकार वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर मनुष्य इष्ट वस्तु पर राग और अनिष्ट वस्तु पर द्वेष धारण नहीं करता, वह समभाव ही रखता है । वह भलीभाँति जानता है कि जो वस्तु थोड़ी देर के लिए इष्ट प्रतीत होती है और फिर अनिष्ट मालूम होने लगती है, उसके खातिर मैं अपने आत्मा में राग द्वेष क्यों उत्पन्न होने दूँ ! वस्तु आत्मा का उत्थान भी करती है और पतन भी करती है । वस्तु के निमित्त से जब आत्मा में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है तो ऐसी अवस्था में आत्मा का पतन होता है और समभाव उत्पन्न होने से आत्मा का उत्थान होता है । जिस वस्तु के निमित्त से आत्मा का उत्थान हो सकता है, उसे आत्मपतन का कारण क्यों बनाया जाये ?

इस प्रकार विचार कर इन्द्रियो का निग्रह करने वाला व्यक्ति अवश्य ही आत्मकल्याण का भागी होता है ।

सभी शास्त्रकार और सभी धर्मावलम्बी इन्द्रियो के निग्रह की बात करते हैं । इस विषय में प्रायः किसी का मतभेद नहीं है । सभी लोगो का कथन है कि इन्द्रियो का निग्रह करने से आत्मा का कल्याण हो सकता है । गीता में भी कहा है—हे अर्जुन ! तूमे आत्मा का कल्याण करना

हो तो सबसे पहले इन्द्रियो का निग्रह कर इन्द्रियनिग्रह से आत्मा का उत्थान होता है और इन्द्रियो के अधीन बनने से आत्मा का पतन होता है । अतएव इन्द्रियों को वश में रखो । उन्हें पदार्थों के प्रलोभन में मत जाने दो । पर्वत पर से एक ही पैर फिसल जाये तो कौन कह सकता है कि कितना पतन होगा ? इसी प्रकार एक भी इन्द्रिय अगर काबू से बाहर हो गई तो कौन कह सकता है कि आत्मा का कितना पतन होगा ! इसलिए अगर तुम अपने आत्मा को सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा शांत करके दुःख-मुक्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम इन्द्रियो का निग्रह करो । इन्द्रिय-निग्रह ही आत्मविजय का अमोघ साधन है ।



# सड़सठवां बोल



## क्रोधविजय

पिछले बोल में इन्द्रिय-निग्रह के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। इन्द्रियो का निग्रह करने से राग और द्वेष जीते जा सकते हैं और इसी कारण लोग इन्द्रियो को जीतने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न करते हैं। इन्द्रियनिग्रह से जीते जाने वाले राग और द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभ से उत्पन्न होते हैं। इसलिए अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि क्रोध आदि कषाय किस प्रकार जीते जा सकते हैं और उनके जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न—कोहविजएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—कोहविजएणं खंति जणयइ, कोहवेयणिज्ज कम्मं न बधइ, पुव्वबद्धं च तिज्जरेइ ॥ ६७ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! क्रोध को जीतने से आत्मा को क्या लाभ होता है ?



उत्तर—गीतम ! क्रोध को जीतने से जीव क्षमा गुण प्राप्त करता है, क्रोध से उत्पन्न होने वाले कर्मों का बन्ध नहीं करता और पहले बन्धे हुए कर्मों का क्षय करता है ।

## व्याख्यान

भगवान् ने क्रोध को जीतने से क्षमा गुण का प्रकट होना कहा है । नाम से तो क्षमा को सभी लोग जानते हैं मगर वास्तविक क्षमा कैसी होती है यह बहुत कम लोगों को मालूम है । क्रोध की उत्पत्ति के कारण और क्रोध के चरितार्थ करने की शक्ति मौजूद होने पर भी क्रोध न पैदा होने देना ही असली क्षमा है ।

क्षमा धारण करना तलवार की धार पर चलने के समान कठिन काम है । कभी-कभी शस्त्र का आघात सहन कर लेना सरल होता है, परन्तु वचन का आघात शस्त्र के आघात की अपेक्षा अधिक दुःखदायक होता है । इसी कारण कटुक वचन सुनकर क्षमाशील रहना मुश्किल हो जाता है । शास्त्रकार कहते हैं—लोहे के तीखे वाण सह लेना सरल है, पर वचन-वाण सहना कठिन है । शास्त्र में कहा है.—

मुहुत्तदुक्खा हु ह्वन्ति कटया, अओमया ते वि तओ सुउद्धरा ।  
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि, वेराणुबंघाणि महब्भयाणि ॥

( दस०, ६-३-७ )

अर्थात्—लोहे के कांटों को सह लेना, उन्हें निकालकर बाहर फेंक देना तथा उनकी पीड़ा से मुक्त हो जाना इतना ज्यादा कठिन नहीं है, मगर वचन-वाण का आघात महाभयानक, दुःखदायक तथा वैर का अनुबन्ध कराने वाला

होने के कारण सहन करना कठिन है ।

तात्पर्य यह है कि कटुक वचन सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है । क्रोध आने पर क्षमा धारण करने वाले बहुत थोड़े होते हैं । क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है —

कोहो पीड पणासेइ, माणो विणयनासणो ।

मायामित्ताणि नासेइ, लोहो सब्बविणासणो ॥

( दस० ८-३७ )

इस गाथा में शास्त्रकार ने कहा है कि जब क्रोध उत्पन्न होता है तो प्रीति नष्ट हो जाती है और अनुकम्पा का भी नाश हो जाता है । इस प्रीतिनाशक क्रोध को क्षमा के द्वारा ही जीतना चाहिए । क्रोध को जीत लेने से क्षमा प्रकट होती है और क्षमा के होने पर क्रोध जीता जा सकता है । इस प्रकार क्रोधविजय और क्षमा में अन्योन्य सम्बन्ध है ।

जब कोई कटुक वचन कहता है तभी क्रोध और क्षमा की परीक्षा होती है । कहा भी है —

जी जी कर बतलावतां, काने क्रोध न आय ।

आड़ा टेढ़ा बोलतां, खबर क्षमा की थाय ॥

अर्थान्—जब कोई नम्रता-पूर्वक बोल रहा हो तो सामने वाले को क्रोध उत्पन्न ही कैसे होगा ? यह क्रोधी है या क्षमावान् है, इस बात की परीक्षा तो तभी होती है जब उससे आड़े टेढ़े वचन बोले जाए ।

तुम लोग हमारे साथ भक्तिपूर्वक बातचीत करते हो और हमारे प्रति नम्रता का व्यवहार रखते हो । ऐसी दशा में हमें क्रोध क्यों उत्पन्न होगा ? हाँ, कही बाहर जाने पर

हमें कटुक वचन सुनने पड़ें और उस वक्त भी हम क्रोध न करें, वरन् क्षमा रखें, तभी कहा जा सकता है कि हमने क्रोध पर विजय पा ली है ।

जब क्रोध उत्पन्न हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह कटुक वचन इस बात की कसौटी हैं कि हमारे अन्तःकरण में क्षमा है या नहीं ? कसौटी पर चढ़ाने से ही खरे सोने का पता चलता है । इसी प्रकार कटुक वचन की कसौटी पर ही क्षमा की परीक्षा होनी है ।

क्रोध करने से कितनी अधिक हानियाँ होती हैं, इस विषय में कहा है.—

कोहो अप्पीइकरो उव्वेयकरो य सगइनिद्वलणो ।  
 वेरणुबधज्जलणो जलणो वरगुणगण-वणस्स ॥  
 कोहंथा निहणंति पुत्तां मित्तां गुरुं कलत्तां च ।  
 जणय जणणि अप्पि पि निग्वणा किं च न कुणंति ॥  
 कोहणी पज्जलिओ न केवलं दहइ अप्पणो देह ।  
 सत्ताविईय परपिहु पहवइ परभवविणासाय ।  
 ता कोहमहाजलणो विज्झवियव्वो खमाजलेण सया ॥

यहां कहा गया है कि क्रोध अप्रीति उत्पन्न करता है, उद्वेग पैदा करता है और सद्गति का नाश करता है । क्रोध वैरानुबन्ध का बाप है और सद्गुणों के समूह रूपी वन को भस्म कर देता है । क्रोधाग्नि दूसरों को ही नहीं जलाती किन्तु क्रोधी को भी अवश्य जलाती है । क्रोध यह भव भी विगाड़ देता है और पर भव भी विगाड़ देता है । अतः इस क्रोधाग्नि को क्षमा के जल से सदा बुझाना चाहिए ।

क्रोध अग्नि से भी अधिक भयानक है । अग्नि एक

होने के कारण सहन करना कठिन है ।

तात्पर्य यह है कि कटुक वचन सुनकर क्रोध आना स्वाभाविक है । क्रोध आने पर क्षमा धारण करने वाले बहुत थोड़े होते हैं । क्रोध का परिणाम कितना बुरा होता है, इस सम्बन्ध में शास्त्र में कहा है —

कोहो पीड पणासेइ, माणो विणयनासणो ।

मायामित्ताणि नासेइ, लोहो सब्बविणासणो ॥

( दस० ८-३७ )

इस गाथा में शास्त्रकार ने कहा है कि जब क्रोध उत्पन्न होता है तो प्रीति नष्ट हो जाती है और अनुकम्पा का भी नाश हो जाता है । इस प्रीतिनाशक क्रोध को क्षमा के द्वारा ही जीतना चाहिए । क्रोध को जीत लेने से क्षमा प्रकट होती है और क्षमा के होने पर क्रोध जीता जा सकता है । इस प्रकार क्रोधविजय और क्षमा में अन्योन्य सम्बन्ध है ।

जब कोई कटुक वचन कहता है तभी क्रोध और क्षमा की परीक्षा होती है । कहा भी है —

जी जी कर बतलावतां, काने क्रोध न आय ।

आड़ा टेढ़ा बोलतां, खबर क्षमा की थाय ॥

अर्थान्— जब कोई नम्रता-पूर्वक बोल रहा हो तो सामने वाले को क्रोध उत्पन्न ही कैसे होगा ? यह क्रोधी है या क्षमावान् है, इस बात की परीक्षा तो तभी होती है जब उससे आड़े टेढ़े वचन बोले जाए ।

तुम लोग हमारे साथ भक्तिपूर्वक बातचीत करते हो और हमारे प्रति नम्रता का व्यवहार रखते हो । ऐसी दशा में हमें क्रोध क्यों उत्पन्न होगा ? हाँ, कही बाहर जाने पर

हमें कटुक वचन सुनने पड़े और उस वक्त भी हम क्रोध न करें, वरन् क्षमा रखें, तभी कहा जा सकता है कि हमने क्रोध पर विजय पा ली है ।

जब क्रोध उत्पन्न हो तब ऐसा विचार करना चाहिए कि यह कटुक वचन इस बात की कसौटी हैं कि हमारे अन्तःकरण में क्षमा है या नहीं ? कसौटी पर चढ़ाने से ही खरे सोने का पता चलता है । इसी प्रकार कटुक वचन की कसौटी पर ही क्षमा की परीक्षा होती है ।

क्रोध करने से कितनी अधिक हानियाँ होती हैं, इस विषय में कहा है .—

कोहो अग्नीकरो उद्वेयकरो य सगइनिहलणो ।  
 वेरणुबधज्जलणो जलणो वरगुणगण-वणस्स ॥  
 कोहंधा निहणंति पुत्तां मित्तां गुरुं कलत्तां च ।  
 जणय जर्णणि अग्निं पि निगवणा किं च न कुणंति ॥  
 कोहणी पज्जलिओ न केवल दहइ अग्णो देह ।  
 सत्ताविईय परपिहु पहवइ परभवविणासाय ।  
 ता कोहमहाजलणो विज्झबियवो खमाजलेण सया ॥

यहा कहा गया है कि क्रोध अप्रीति उत्पन्न करता है, उद्वेग पैदा करता है और सद्गति का नाश करता है । क्रोध वैरानुबन्ध का बाप है और सद्गुणों के समूह रूपी वन को भस्म कर देता है । क्रोधाग्नि दूसरों को ही नहीं जलाती किन्तु क्रोधी को भी अवश्य जलाती है । क्रोध यह भव भी विगाड़ देता है और पर भव भी विगाड़ देता है । अतः इस क्रोधाग्नि को क्षमा के जल से सदा बुझाना चाहिए ।

क्रोध अग्नि से भी अधिक भयानक है । अग्नि एक

ही भव का नाश करती है मगर क्रोध उह-पर भव दोनों का विनाशक है । अर्थात् दोनों भवों को बिगाड़ता है । क्रोध की यह आग आत्मा में ही उत्पन्न होती है । अपना आत्मा स्वतः क्रोध को पैदा करता है । क्रोध से क्रोध बढ़ता ही जाता है, इस कारण अनेक भवों का वैरानुबन्ध क्रोध से ही होता है । जब प्रीति का नाश हो तो समझना चाहिए कि मुझमें क्रोध उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार उद्वेग होने पर भी यही समझना चाहिए कि मुझमें क्रोध पैदा हुआ है, क्योंकि अप्रीति या उद्वेग उत्पन्न होने का कारण क्रोध ही है । क्रोध ही दुर्गति में ले जाता है । जैसे अग्नि थोड़े ही समय में रुई के ढेर को भस्म कर टालती है उसी प्रकार क्रोध भी आत्मा के समस्त शुभ गुणों को भस्म कर देता है । क्रोध उत्पन्न होने पर मनुष्य आंगे होते हुए भी धन्वा बन जाता है । तब वह क्रोधाव मनुष्य अपने पुत्र, मित्र, गुरु तथा स्त्री आदि स्वजनो को भी नष्ट कर देता है । उस समय क्रोधाव मनुष्य में से दयाभाव निकल जाता है ।

मुना है, मेवाट के एक गांव में किसी मनुष्य ने क्रोध के आवेश में आकर पत्नी से अपनी स्त्री का सिर फोड़ डाला था । यह देखकर उसकी लड़की चिल्लाई — 'मेरे पिता मेरी माँ को मार रहे हैं !' लड़की की चिल्लाहट सुनकर वह अपनी लड़की पर भी क्रुद्ध हो गया । उसने लड़की को पत्थर पर पछाड़ दिया और अन्त में आप भी अपघात करके मर गया ।

क्रोध के आवेश में ऐसे-ऐसे न जाने कितने अनर्थ होते रहते हैं ! अतएव क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए ।

सूत्र में भी कहा है :—

उवसमेण हणे कोहं ।

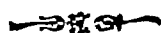
अर्थात्— उपशम-क्षमा से क्रोध का नाश करना चाहिए ।

जब अग्नि बढ़ती जा रही हो तो उसे बुझाने के लिए उसके विरोधी पदार्थ - पानी का उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार क्रोध को उपशान्त करने के लिए क्षमा का ही अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये । क्रोध करने से दूसरो को जो हानि होती है उसकी अपेक्षा स्वयं क्रोध करने वाले को अधिक हानि उठानी पड़ती है । क्रोधी मनुष्य क्रोध करते समय समझता है कि मैं दूसरे की हानि कर रहा हूँ, परन्तु यह मान्यता पड़ोसी का घर जलाने के लिए अपने घर में आग लगाने के समान मूर्खतापूर्ण है । अपने घर में आग लगाने से पड़ोसी का घर जल भी सकता है और नहीं भी जल सकता, किन्तु अपना घर तो जल ही जाता है । इसी प्रकार क्रोध करने से दूसरो की हानि हो या न हो, मगर क्रोध करने वाले की हानि तो हो ही जाती है ।

स्व० केसरीचन्द जी भंडारी ने मुझे अंगरेजी की एक पुस्तक दिखाई थी । उस पुस्तक में यह बतलाया गया था कि क्रोध उत्पन्न होने पर शरीर से बर्छी, कटार, छुरी आदि शस्त्रो सरीखे पुद्गल निकलते हैं । जिस मनुष्य पर क्रोध किया जाता है उसे अगर क्रोध न आये अर्थात् उसमें क्षमा-भाव हो तो वे शस्त्र सरीखे पुद्गल शांत हो जाते हैं । अगर सामने वाले में भी क्रोध उत्पन्न हुआ तो उस दशा में दोनों

कारण दस प्रकार के यतिधर्म में क्षमा को पहला स्थान दिया गया है ।

जैसे साधुओं के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई जाती है उसी प्रकार श्रावको के लिए भी क्षमा धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता है । साधु को लक्ष्य करके चतुर्विध सघ को क्षमा धारण करने की बात कही गई है । अतएव जो पुरुष क्रोध के वश न होकर क्षमाशील रहेगा, वही अपना कल्याण कर सकेगा ।





# अड़सठवां बोल

## मानविजय

मानव-जीवन को सफल तथा सार्थक करने के लिए शास्त्रकारों ने चार कषायों का त्याग करना आवश्यक बतलाया है । कषाय का सामान्य अर्थ है—संसार । मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय संसार को वृद्धि करते हैं । संसार से मुक्त होने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है । कषायों का त्याग न करने से संसार की वृद्धि होती रहती है । शास्त्र में कहा भी है.—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,

माया य लोहो य पवड्डमाणा ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया,

सिंचति मूलाइ पुणवभवस्स ॥

( दश० ८, ४० )

अर्थात्—क्रोध तथा मान का निग्रह करना कठिन है

के वे शस्त्र सरीखे पुद्गल आपस में टकराते हैं और फल-स्वरूप संग्राम मच जाता है। शास्त्र में कहा है कि कषाय-समुद्घात से भयङ्कर संग्राम हो जाता है। क्रोध हो तो संग्राम होता ही है। इसीलिए शास्त्रकार ऊँचे स्वर में कहते हैं—क्षमा के द्वारा क्रोध को जीतो। अगर तुम्हारे भीतर क्षमाभाव होगा तो दूसरे का क्रोध आप ही शांत हो जाएगा। परन्तु लोग थप्पड़ का जवाब घूँसे से और गाली का उत्तर गाली से देना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि रगड़े-भगड़े बढ़ते हैं। शास्त्रों में और ग्रन्थों में कहा है कि वैर से वैर बढ़ता है और क्रोध करने से क्रोध अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। अतएव क्रोध का जवाब क्रोध से न देकर और गाली का बदला गाली से न देकर क्षमा द्वारा क्रोध को जीतना चाहिए। इसी में अत्मा का कल्याण है। कहा भी है:—

दीधा गाली एक है, पलटे होय अनेक ।

जो गाली पलटै नहीं, रहे एक की एक ।

अर्थात् किसी ने किसी को गाली दी और गाली खाने वाला अगर बदले में गाली नहीं देता है तो वह गाली एक की एक ही रह जायेगी और गाली देने वाला आखिर शान्त हो जाएगा। इससे विपरीत, अगर गाली का बदला गाली से दिया गया तो गालियों की परम्परा बढ़ती ही जायेगी और भगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा। अतः क्रोध उत्पन्न होने पर उसे क्षमा से जीतना उचित है। शास्त्र में साधु के लिए तो यहां तक कहा है कि—हे साधु! अगर किसी के साथ तुम्हारा क्लेश हुआ है तो जब तक तुम उसे उपशांत नहीं कर लेते, तब तक तुम आहार-पानी लेने के

लिए नहीं जा सकते । क्रोध को उपशांत किये बिना तुम लाये हुए आहार-पानी का उपभोग नहीं कर सकते, विहार नहीं कर सकते. यहा तक कि शौच के लिए भी नहीं जा सकते । कदाचित् तुम कहोगे कि जिसके साथ क्लेश हुआ है, उसे क्षमा कर मैं उपशाति करता हू लेकिन सामने वाला शांत नहीं होता तो मैं क्या करूँ ? इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्र कहता है-- सामने वाला उपशात हो या न हो, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है, किन्तु तुम तो क्षमा का याचन-प्रदान करके उपशात बनो ! इससे तुम आराधक ही रहोगे ।

क्रोध को जीतने का सरल उपाय क्षमा ही है । दस प्रकार के यतिधर्म मे भी क्षमा को ही सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । कारण यह है कि जैसे समस्त पदार्थों के लिए पृथ्वी ही आधार है, उसी प्रकार क्षमा ही समस्त गुणों का आधार है ! आधारभूत पृथ्वी ही स्थिर न रहे तो आधेय पदार्थ किस प्रकार स्थिर रह सकेंगे ? इसी प्रकार सब गुणों का आधार क्षमा ही न रही तो दूसरे गुण किस प्रकार टिक सकेंगे ? अतएव क्षमा की सर्वप्रथम आवश्यकता है । साधुओं का वर्णन करते हुए कहा है :--

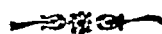
पहलुं लक्षण साधुनुं, क्षमा तणो भडार ।

कठिन वचन सहे जगतनां, क्रोध न करे लिगार ॥

तुम लोग प्रतिक्रमण मे 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ बोलते हो, कि--' हे क्षमाश्रमण ! मैं तुम्हे वन्दन करता हूं । ' साधुओं मे क्षमा के साथ और-और गुण भा होते हैं, मगर क्षमागुण की प्रधानता के कारण ही उन्हें 'क्षमाश्रमण' कहते हैं । साधु का प्रधान गुण क्षमा ही है और इसी

कारण दस प्रकार के यतिधर्म में क्षमा को पहला स्थान दिया गया है ।

जैसे साधुओं के लिए क्षमा की अनिवार्य आवश्यकता बतलाई जाती है उसी प्रकार श्रावको के लिए भी क्षमा धारण करने की अनिवार्य आवश्यकता है । साधु को लक्ष्य करके चतुर्विध सघ को क्षमा धारण करने की बात कही गई है । अतएव जो पुरुष क्रोध के वश न होकर क्षमाशील रहेगा, वही अपना कल्याण कर सकेगा ।



# अड़सठवां बोल

## मानविजय

मानव-जीवन को सफल तथा सार्थक करने के लिए शास्त्रकारों ने चार कषायों का त्याग करना आवश्यक बतलाया है । कषाय का सामान्य अर्थ है—संसार । मतलब यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—यह चार कषाय संसार की वृद्धि करते हैं । संसार से मुक्त होने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है । कषायों का त्याग न करने से संसार की वृद्धि होती रहती है । शास्त्र में कहा भी है.—

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,

माया य लोहो य पवड्डमाणा ।

चत्तारि एए कसिणा कसाया,

सिंचति मूलाइ पुणवभवस्स ॥

( दश० ८, ४० )

अर्थात्—क्रोध तथा मान का निग्रह करना कठिन है

और माया तथा लोभ दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जाते हैं । संक्षेप में, यह चारों कषय संसार के मूल का सिंचन करते रहते हैं ।

मुमुक्षु जीवों को मसर की असारता जानकर चारों कषायों का त्याग करना चाहिए । चारों कषायों को जीतने का उपाय शास्त्रकारों ने यह बतलाया है :—

उवसमेण हणे कोहं, माण मद्वया जिणे ।

मायमज्जवभावेण, लोहं सतोसओ जिणे ॥

( दश० ८, ३६ )

अर्थात्— क्रोध को क्षमा द्वारा जीतना चाहिए, मान को मृदुता-नम्रता से जीतना चाहिए, माया को सरलता से जीतना चाहिए और लोभ को सतोष से जीतना चाहिए ।

क्रोध को जीतने से जीवात्मा को क्षमागुण की प्राप्ति होती है, क्रोध में उत्पन्न होने वाले नवीन कर्मों का बन्धन नहीं होता और पूर्व कर्मों को निर्जरा होती है । क्रोध को जीतने से आत्मा को यह अपूर्व लाभ होता है । अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि मान किम प्रकार जीता जा सकता है और उसे जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न—माणविजएण भते । जीवे कि जणयइ ?

उत्तर—माणविजएणं मद्व जणयइ, माणवेयणिज्जं कम्म न बधइ, पुव्ववद्धं च निज्जरेइ ॥ ६८ ॥

## शब्दार्थ

प्रश्न — भगवन् ! मान जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— मान को जीतने से आत्मा मे मृदुता का अपूर्व गुण प्रकट होता है, मानजन्य कर्म का बन्ध नहीं करता और पहले बन्धे कर्म का क्षय करता है ।

## व्याख्यान

मृदुता एक महान् गुण है। शास्त्र में कहा है कि मान पर विजय प्राप्त करने से ही मृदुता का महान् गुण प्रकट हो सकता है । जिसमें नम्रता होती है, वह व्यक्ति महान् समझा जाता । धातुओं में सोना इस कारण कीमती माना जाता है कि उसमे नम्रता होती है। सोने को जितना ज्यादा पीटा जाता है, वह उतना ही नम्र बनता जाता है और जब वह एकदम निर्मल और नम्र हो जाता है तब वह कुन्दन कहलाता है । रत्न को ग्रहण करने की शक्ति कुन्दन में ही होती है । इसीलिए पहले के लोग रत्न को सोने में जड़ने के लिए कुन्दन का उपयोग करते थे । जिस प्रकार नम्र बनाया हुआ सोना, रत्न को पकड़ लेता है, उसी प्रकार गुणरूपी रत्न को वही ग्रहण कर सकता है, जिसमे नम्रता हो । नम्रता प्राप्त करने के लिए मान को जीतने की आवश्यकता है । मान को जीतने से ही नम्रता आती है और जब नम्रता आती है तब मान-जन्य नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता और मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की भी निर्जरा होती है ।

शका की जा सकती है कि मानजन्य बन्धे हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं ? इसका समाधान यह है कि अगर मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा न हो सकती तो शास्त्र में ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है ।

यहां यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह ऐसा कहा है कि 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् क्रिये कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता । इससे विपरीत यहां यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है । इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध जान पड़ता है । इसकी सगति किस प्रकार बिठलाई जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है —

कर्म भोगने तो पड़ते हैं, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके हैं । पहला तरीका यह है कि कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा उद्दीरणा करके भोगा जाये और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना प्रवाधा काल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय में आयें और तब भोगे जाएँ । उदाहरणार्थ— रोगी को रोग का दुःख तो सहन करना ही पड़ता है, परन्तु दवा का उपयोग करने से रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है । इसी प्रकार कर्म भोगने तो पड़ते हैं परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय में आते हैं वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते हैं । लेकिन जिन कर्मों की तपश्चर्या आदि द्वारा उद्दीरणा की जाती है वे जल्दी और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं । कर्मों को प्रदेश से भोगना



भी भोगना है और विपाक से भोगना भी भोगना है। दोनों प्रकार से कर्म भोगे जाते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष क्रोध, मान, माया और लोभ आदि को जीतकर तथा तपश्चर्या द्वारा कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को उज्ज्वल बनाते हैं। इस प्रकार धर्मक्रियारूपी आग में अगर कर्मांकुर दग्ध न किये जाएँ तो उन्हें विपाक से भोगना पड़ता है और तब महान् कष्ट होता है। इस तरह जब कर्म सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं तो फिर उन्हें महाकष्टपूर्वक क्यों भोगना चाहिए? इस प्रकार विचार करके ज्ञानीजन कर्म की निर्जरा करने का प्रयत्न करते हैं। जब थोड़ा-सा प्रयास करने से ही कर्म-विपाक का घोर कष्ट टल सकता है तो पहले थोड़ा सा कष्ट सहन न करके विपाक के समय महादुःख सहना कौनसी बुद्धिमत्ता है? कर्म-विपाक के महान् कष्ट से बचाने के लिए ही भगवान् ने मान को जीतने का उपदेश दिया है। क्योंकि मान को जीतने से जीवन में नम्रता आएगी और नम्रता से कर्मों की निर्जरा होगी। इस शास्त्रीय विषय को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—

एक रोगी को भयङ्कर रोग हुआ। उसने वैद्य से शरीर की परीक्षा करवाई। वैद्य ने रोगी से कहा 'अगर तुम्हें 'इन्जेक्शन' लगा दिया जाये तो तुम रोग की भयङ्करता से बच सकते हो। तुम एक-दो इन्जेक्शन लगवा लो। यह सुनकर रोगी ने वैद्य से कहा—'मेरा शरीर बहुत कोमल है, इन्जेक्शन कैसे ले सकता हूँ? कोई पीने की दवा दे दो।' वैद्य बोला—'जैसी तुम्हारी मर्जी! मैंने तो तुम्हें रोग से मुक्त होने का उपाय बताया है।' रोगी ने इन्जेक्शन नहीं लिया और परिणाम यह हुआ कि उसका रोग भयङ्कर हो

शका की जा सकती है कि मानजन्य बन्धे हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं ? इसका समाधान यह है कि अगर मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा न हो सकती तो शाम्भ्र मे ऐसा न कहा गया होता कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है ।

यहा यह भी पूछा जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह ऐसा कहा है कि 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये कर्मों को भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं मिलता । इससे विपरीत यहां यह कहा गया है कि मान को जीतने से पहले बन्धे हुए कर्मों की निजरा होती है । इन दोनों कथनों मे परस्पर विरोध जान पड़ता है । इसकी सगति किस प्रकार विठलाई जा सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है: —

कम भोगने तो पड़ते हैं, परन्तु उनके भोगने के मुख्य दो तरीके हैं । पहला तरीका यह है कि कर्मों को तपस्या आदि के द्वारा उदीरणा करके भोगा जाये और दूसरा तरीका यह है कि कर्म अपना प्रवाधा काल समाप्त होने पर स्वाभाविक रीति से उदय मे आयें और तब भोगे जाएँ । उदाहरणार्थ— रोगी को रोग का दुःख तो सहन करना ही पड़ता है, परन्तु दवा का उपयोग करने से रोग की तीव्रता कम हो जाती है और साथ ही रोग जल्दी और सरलता से भोग लिया जाता है । इसी प्रकार कर्म भोगने तो पड़ते हैं परन्तु जो कर्म स्वाभाविक रूप से उदय मे आते हैं वे लम्बे समय तक और कष्टपूर्वक भोगे जाते हैं । लेकिन जिन कर्मों की तपश्चर्या आदि द्वारा उदीरणा की जाती है वे जल्दी और सरलतापूर्वक भोगे जा सकते हैं । कर्मों को प्रदेश से भोगना

तो उसे अपने अंग पर शस्त्रक्रिया करानी ही होगी । पहले इन्जेक्शन लेने मात्र से शरीर ठीक हो सकता था, पर तब उसने वैद्य का कहना नहीं माना । अब शस्त्रक्रिया कराने का समय आ गया । अगर अब शस्त्रक्रिया नहीं कराता है तो प्राण जाने का वक्त आएगा ।

इसी प्रकार इस समय कर्मरूपी जो रोग लगा है, वह धर्मक्रियारूपी दवा का नियमित सेवन करने से शान्त हो सकता है । अगर धर्मक्रियारूपी दवा सेवन न की गई या सेवन करने में देरी की गई तो कर्म रोग बढ़ जायेगा और परिणाम-स्वरूप इतना दुःख सहन करना पड़ेगा कि उसका कहना भी कठिन है । अतएव कर्मरोग को उपशान्त करने के विषय में गम्भीर विचार करो । ज्ञानीजनों ने तपश्चर्या आदि आध्यात्मिक औषधों द्वारा उसे शान्त करने का जो अमोघ उपाय बतलाया है, उसे भलीभाँति काम में लाओगे तो तुम्हारा कर्म रोग शांत हो जयेगा और अधिक दुःख भी सहन नहीं करना पड़ेगा ।

कुछ लोग कहते हैं कि धर्मक्रिया करने में कष्ट सहन करना पड़ता है । परन्तु जानियो का कथन है कि कष्ट धर्म करने से नहीं वरन् पूर्व कर्म से होता है । अगर धर्म-राधन करते समय होने वाले कष्ट सहन कर लिये जायें तो कर्मोदय के कारण होने वाले कष्टों से सहज ही छुटकारा मिल सकता है । ऐसी दशा में अगर थोड़ा कष्ट सहकर भी भविष्य में आने वाले भयानक दुःखों से बचाव हो सके तो क्या बुराई है ?

कहने का आशय यह है कि अगर मान-जन्य कर्मों

गया । आखिरकार रोग से परेशान होकर वह फिर वैद्य के पास पहुंचा और बोला - ‘इन्जेक्शन देना हो तो भले दे दीजिये मगर इस भयङ्कर रोग को शांत कीजिये ।’

वैद्य ने कहा— अब यह रोग इन्जेक्शन से भी नहीं मिट सकता । रोग बहुत बढ़ गया है । अब तो ऑपरेशन करना पड़ेगा । पहले इन्जेक्शन लगवा लिया होता तो मिट सकता था ।

ऑपरेशन की बात सुनकर रोगी घबराया । वह वैद्य से कहने लगा—ऑपरेशन करने के लिए मेरा जी नहीं चाहता ।

वैद्य ने कहा— जैसी तुम्हारी मर्जी !

रोगी का रोग दिन-दिन बढ़ता गया । वह बेहद परेशान हो गया । तब वह फिर वैद्य के पास पहुंचा । बोला— वैद्यराज ! इन्जेक्शन या ऑपरेशन—जो कुछ करना हो करो, मगर मुझे इस महामुसीबत से उबारो ।

वैद्य ने फिर शरीर की जांच की । उसे मालूम हुआ— रोगी का सारा शरीर सड़ गया है । अब सारे शरीर को चीरना पड़ेगा । उसने रोगी को अपना विचार बतलया । अग की शस्त्रक्रिया करानी पड़ेगी यह सुनकर रोगी बहुत घबराया और बोला मैं अपने प्रिय शरीर पर शस्त्रक्रिया कैसे करा सकता हूँ !

वैद्य ने अन्तिम चेतावनी देते हुए कहा— अभी तो अग चीरने से ही शरीर ठीक हो सकता है, लेकिन बाद में अग चीरने पर भी ठीक नहीं होगा । यह रोग ही ऐसा भयङ्कर है कि फिर वह प्राण लिए बिना शांत नहीं होगा ।

अब अगर रोगी को अपने प्राणों की रक्षा करनी है

मुझे जो ऋद्धि-सिद्धि मिली है उसका उपयोग भगवान् की ऐसी सेवा में करना चाहिए जैसी सेवा आज तक किसी भी राजा ने न की हो । अपनी इस शुभ भावना को कार्यरूप में परिणत करने का भी राजा को सुयोग मिल गया । राजा ने सुना—भगवान् महावीर इस ओर पदार्पण कर रहे हैं । यह समचार पाते ही राजा की प्रसन्नता का पार न रहा । उसने बड़े उत्साह के साथ प्रजाजनो को आज्ञा दी कि भगवान् को वन्दना करने के लिए जाते समय ऐसी तैयारी की जाये जैसी आज तक किसी ने न की हो । जब राजा में इतना उत्साह हो तो प्रजा के और उसके नौकर-चाकरवर्ग में भी उत्साह हो आना स्वाभाविक है । भगवान् को वन्दना करने के लिए राजा दशार्णभद्र ने अपूर्व तैयारी की और प्रस्थान किया । राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अभिमान हुआ कि मेरे समान ऐसी तैयारी करके भगवान् को वन्दना के लिए और कौन गया होगा ? लोगो को नवीन कपड़ा या जूना मिल जाने पर भी जब अभिमान हो जाता है तो राजा को अपनी ऋद्धि देखकर अगर अभिमान उत्पन्न हुआ तो आश्चर्य ही क्या है ? मगर लोगो को समझना चाहिए कि ऐसे राजा का भी अभिमान न रहा तो दूसरो की तो बात ही क्या है ?

राजा दशार्णभद्र सबको दान-मान-सन्मान आदि से सन्तुष्ट करता हुआ अपनी ऋद्धि-सम्पदा के साथ भगवान् की वन्दना के लिए निकला । दूसरी तरफ शक्रेन्द्र भी भगवान् की वन्दना के लिए आये थे । इन्द्र ने राजा को ऋद्धि के साथ वन्दना करने आते देखा पर उसने राजा के हृदय के अभिमान को भी जान लिया । ज्ञानी इन्द्र ने विचार

की निर्जरा करनी हो तो मान को जीतने का प्रयत्न करो । मान बड़ो-बड़ो को पतित कर देता है । इसलिए अभिमान त्यागो । इस विषय में एक कवि ने ठीक ही कहा है :—

मान रे मानव ! मान बुरी अति, मान गुमान न मान न नीको,  
मान मिटे सम्मान बधे परम न, करो शुभ वाक्य यति को ।  
मान किया अपमान लहै नवि मान लहे वर देवपुरी को।  
मानव देह समान नहीं कछु धर्म सु मान के जाति मली को ॥

इस कविता का भावार्थ यह है हे पुरुष ! मान-अभिमान करना बहुत बुरा है । अभिमानी व्यक्ति को अपमान का दुःख भोगना पड़ता है और अभिमन का त्याग करने वाले को बदले में सम्मान प्राप्त होता है । निरभिमान व्यक्ति को इन्द्र भी नमस्कार करता है । यह बात सिद्ध करने के लिए शास्त्रकार ने श्री उत्तराध्ययन सूत्र में एक ऐतिहासिक उदाहरण उद्धृत किया है :—

दसण्णरज्ज मुदियं चइत्ताणं मुणी चरे ।

दसण्णभट्ठो निखतो सक्ख सक्केण चोइश्रो ॥

( उत्तरा० १८, ४४ )

अर्थात् — शकेन्द्र की प्रेरणा होने से प्रसन्न और पर्याप्त दशार्ण-राज्य को त्याग कर दशार्णभद्र ने त्यागमार्ग अपनाया ।

दशार्णभद्र राजा ने अभिमान त्याग कर किस प्रकार त्यागमार्ग अपनाया, इस विषय में निम्नलिखित कथा प्रचलित है—

आजकल जिसे मन्दसौर कहते हैं उसका प्राचीन नाम दशार्णपुर है । दशार्णपुर का राजा दशार्णभद्र था । राजा धर्मनिष्ठ और भावनाशील था । उसने विचार किया —

हुआ हूँ ।' इस प्रकार कहकर इन्द्र ने राजा के त्याग की प्रशंसा की और मुनि से क्षमायाचना की ।

त्याग करने की शक्ति मनुष्य में ही होती है । देव में मनुष्य जितनी त्याग शक्ति नहीं होती । इसी कारण देवभव की अपेक्षा मनुष्यभव बहुमूल्य माना गया है । मनुष्य अभिमान न करे तो देवों को भी जीत सकता है । श्रीदश-वैकलिकसूत्र में भी कहा —

देवा वि त नमंसति जस्स घम्मे सया मणो ।

अर्थात्—जिसका मन सदा धर्म में अनुरक्त रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।

धर्म का आचरण करने के लिए मनुष्य को जैसी सामग्री प्राप्त है, वैसी देव को भी प्राप्त नहीं है । अगर देवों को भी जीतना है तो मान को जीतो । मान करके दशार्णभद्र राजा इन्द्र को नहीं जीत सका । त्याग करके उमने इन्द्र को पराजित कर दिया । मुनिवन्दन करते समय आजकल भी उनका नामस्मरण किया जाता है—

दशार्णभद्र राजा, वीर बच्चा घरी मान,  
पछि इन्द्र हरायो, दियो छः काया ने अभयदान ।

यह बात ध्यान में रखकर तुम भी अभिमान को तजो । धर्म के प्रताप से ही इन्द्र, एक राजा के चरणों में नत हुआ था । राजा ने अभिमान छोड़ा तो इन्द्र को भी उसके चरणों की वन्दना करनी पड़ी । अतः अभिमान त्यागो । इसी में आत्मा का कल्याण है । जो अभिमान का त्याग करता है वह अपने आत्मा का उत्थान करता है और जो अभिमान करता है वह अपने आत्मा को पतित करता है ।

किया—राजा का अभिमान दूर कर देना चाहिए और उसे सत्यमार्ग दिखलाना चाहिए । इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने अपनी वैक्रिय लब्धि से एक ऐसा हाथी बनाकर उतारा कि उसके सामने राजा की मारी ऋद्धि फीकी पड़ गई ।

राजा अभिमान के वश होकर विचारने लगा — इन्द्र ने मेरी ऋद्धि की तुच्छता दिखलाई है और एक प्रकार से मुझे पराजित किया है । ऐसी स्थिति में मुझे क्या करना चाहिए ? मैं इन्द्र की होड़ नहीं कर सकता, क्योंकि इन्द्र अपनी वैक्रिय लब्धि से इच्छानुसार ऋद्धि बना सकता है । तो फिर इन्द्र को जीतने के लिए क्या उपाय करना चाहिए ? यह ठीक है कि मैंने अभिमान किया सो उचित नहीं था, मगर अब पकड़ी हुई टेक किस प्रकार सिद्ध की जाये ? इन्द्र को जीतने का मेरे पास एक ही उपाय है — त्याग । त्याग के अतिरिक्त और किसी भी उपाय से वह पराजित नहीं हो सकता ।

इस प्रकार विचार कर दशार्णभद्र राजा ने सर्वविरति सयम स्वीकार किया । अब वेचारा इन्द्र क्या करे ? उसने सोचा — प्रथम तो मैं दीक्षा ही नहीं ले सकता — ऐसा त्याग ही नहीं कर सकता । कदाचित् दीक्षा ले लू तो भी मुझ इन मुनि से लघु शिष्य ही बनना पड़ेगा । अतएव श्रेयस्कर यही है कि इन मुनि से क्षमावाचना करके पवित्र हो जाऊँ ।

इस प्रकार विचार कर इन्द्र ने मुनि को नमस्कार किया और कहा — ‘ भगवन् की वन्दना करने के लिए आप सगीखी तैयारी वास्तव में किसी ने नहीं की है और अब आपका त्याग भी अपूर्व है । आपके त्याग से मैं प्रभावित



# उन्हत्तरवां बोळ

## माया-विजय

जीवन को निष्कपट बनाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है । क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं । इन चारों कषायों से आत्मा का पतन होता है । आत्मा का उत्थान करने के लिए चारो कषायों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है । क्रोध पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्षमा-गुण की प्राप्ति होती है और मान को जीतने से नम्रता-गुण को । क्रोधविजय और मान-विजय से होने वाले लाभों पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है । अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि माया को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है ?

## मूलपाठ

प्रश्न — मायाविजयं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर — मायाविजयं अज्जवं जणयइ, मायावेयणिज्जं कम्म न बंधइ, पुण्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६६ ॥

वृक्षों में भी जो वृक्ष नम्र रहता है वह अच्छा समझा जाता है और जो अकड़ा रहता है वह ठूँठ कहलाता है । नम्र वृक्ष में फल भी रसीले और मीठे लगते हैं, जबकि अकड़े रहने वाले वृक्ष के फल कटुक और खराब होते हैं । उदाहरणार्थ—आम और एरण्ड को देखो । आम नम्र होता है तो उसके फल मधुर और सुन्दर होते हैं । एरण्ड अकड़ा रहता है तो उसके फल कटुक होते हैं । इस प्रकार जहाँ नम्रता होती है वहाँ अन्यान्य गुण भी आ जाते हैं । कहावत भी है—‘जो नम्रता है वह परमात्मा को गमता है ।’ अर्थात् जो नम्रता धारण करता है वह परमात्मा का भी प्रिय बन सकता है ।

इसलिए तुम अपने जीवन में नम्रता को स्थान दो । नम्रता स्वार्थ की पूर्ति करने के लिए भी धारण की जाती है । मगर स्वार्थ की पूर्ति के लिए धारण की गई नम्रता में और अभिमान के त्याग से आने वाली नम्रता में बहुत अन्तर है । यहाँ जिस नम्रता की बात चल रही है वह अभिमान का त्याग करके उत्पन्न करनी है । अभिमान करने से आत्मगौरव की भी रक्षा नहीं हो सकती । आत्मगौरव की रक्षा तो अभिमान त्यागने से ही होती है । इसके अतिरिक्त अभिमान त्यागने से तथा जीवन में निरभिमानीता तथा नम्रता को स्थान देने से मान-जन्य कर्म भी नहीं बधते और मान के कारण पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जंघा हो जाती है । अतएव अभिमान त्यागने का प्रयत्न करो और नम्रता धारण करो । ऐसा करने में ही मनुष्यजन्म की सार्थकता और सफलता है ।



उसकी आत्मा तो भलीभांति जानती ही है कि मैं कपट का सेवन कर रहा हूँ । कोई अपने छल-बल से किसी अपढ़ आदमी को पाच और पांच ग्यारह कहकर भले ही ठग ले, मगर वह स्वयं तो जानता है कि पाच और पांच दस होते हैं । मैं तो कपट करके ही ग्यारह मनवा रहा हूँ । इस प्रकार अपना ही आत्मा कपट की निन्दा करता है । आज तो वही चतुर समझा जाता है जो दूसरो को ठगने में चतुर हो । वकील भी वही होशियार गिना जाता है जो भूठे को सच्चा और सच्चे को भूठा साबित कर सकता ।

सुना है, एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था । इतने में उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये । वकील ने अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी । मगर पत्नी मुह के आगे हाथ लगाकर रुदन कर रही थी । वकील ने रोने का कारण पूछा । कहा—‘क्यों, अपने घर किस बात की कमी है ? देखो, आज ही पचास हजार आये हैं । मैं कितना होशियार हूँ और मेरी कितनी ज्यादा कमाई है, यह सब जानते बूझते भी तुम रो रही हो ?’

वकील की पत्नी ने कहा—मैं तुम्हे देखकर रो रही हूँ ।

वकील—क्यों ? मैंने कोई बुरा काम किया है ?

वकील पत्नी — आपने सच्चे को भूठा और भूठे को सच्चा बनाया है । यह क्या कम खराब काम है ? आप पचास हजार पाकर फूले नहीं समाते, मगर जिसके एक लाख हूब गये और एक लाख घर से देने पड़े, उसके दुःख

## शब्दार्थ

प्रश्न—भते ! माया को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! माया को जीतने से जीव को आर्जव (सरलता) की प्राप्ति होती है और माया से वेदे जाने वाले कर्मों का बन्ध नहीं होता और पहले बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा होती है ।

## व्याख्यान

जो माया को जीतता है वही सरलता रख सकता है और जो सरलता रखता है वही माया को जीत सकता है । भावों की वक्रता ही माया कहलाती है , शास्त्र में कहा है :—

मायी मिच्छादिद्वी, अमायी सम्मादिद्वी ।

अर्थात्—कपट ही मिथ्यात्व है और सरलता ही सम्यक्त्व है । यही बात ध्यान में रखकर माया का त्याग करना चाहिए । माया का त्याग करने से ही आत्मा में सरलता आयेगी और जब सरलता आएगी—माया न रह जाएगी—तब आत्मा का कल्याण होने में देरी नहीं लगेगी ।

ससार में प्रायः अनेक लोग जान-बूझकर मायाजाल में फँसते हैं । जो मायाचार करना जानता है उसे आज 'पोलिटिकल' जैसा सुन्दर विशेषण लगाया जाता है । मगर शास्त्र में मायाचारी मनुष्य की निन्दा ही की गई है । मायाचारी अपनी माया से भले ही दूसरों को ठगता हो पर

उसकी आत्मा तो भलीभांति जानती ही है कि मैं कपट का सेवन कर रहा हूं । कोई अपने छल-बल से किसी अपढ़ आदमी को पांच और पाच ग्यारह कहकर भले ही ठग ले, मगर वह स्वयं तो जानता है कि पांच और पांच दस होते हैं । मैं तो कपट करके ही ग्यारह मनवा रहा हूं । इस प्रकार अपना ही आत्मा कपट की निन्दा करता है । आज तो वही चतुर समझा जाता है जो दूसरों को ठगने में चतुर हो । वकील भी वही होशियार गिना जाता है जो भूठे को सच्चा और सच्चे को भूठा साबित कर सकता ।

सुना है, एक होशियार वकील भोजन करने बैठा था । इतने में उसका एक मुवक्किल आया और उसने पचास हजार रुपये के नोट वकील के सामने रख दिये । वकील ने अपनी चतुराई का गर्व प्रकट करते हुए अपनी पत्नी की ओर निगाह फेरी । मगर पत्नी मुंह के आगे हाथ लगाकर रुदन कर रही थी । वकील ने रोने का कारण पूछा । कहा—‘क्यों, अपने घर किस बात की कमी है ? देखो, आज ही पचास हजार आये हैं । मैं कितना होशियार हूं और मेरी कितनी ज्यादा कमाई है, यह सब जानते वृक्षते भी तुम रो रही हो ?’

वकील की पत्नी ने कहा—मैं तुम्हे देखकर रो रही हूं ।

वकील—क्यों ? मैंने कोई बुरा काम किया है ?

वकील पत्नी—आपने सच्चे को भूठा और भूठे को सच्चा बनाया है । यह क्या कम खराब काम है ? आप पचास हजार पाकर फूले नहीं समाते, मगर जिसके एक लाख हूब गये और एक लाख घर से देने पड़े, उसके दुःख

का क्या पार होगा ? मुझे नहीं मालूम था कि आप इस प्रकार पाप का पैसा पाकर आनन्द मान रहे हैं ।

वकील—हमारा घन्वा ही ऐसा है । ऐसा न करें तो काम कैसे चले ?

पत्नी—आप सत्य को असत्य बनाते हैं, इसके बदले सत्य की सत्य बनाने की ही वकालत क्यों नहीं करते ? सच्चा मुकदमा ही लें तो क्या आपका काम नहीं चलेगा ? मैं चाहती हूँ कि आप प्रतिज्ञा ले ले कि भविष्य में कोई भी भूठा मुकदमा आप हाथ में नहीं लेंगे ।

पत्नी की बात वकील के गले उतर गई । वकील ने भूठा मुकदमा न लेने की प्रतिज्ञा की । उसने अपने मुवक्किल से कहा—आप यह रुपया ले जाइए और किसी प्रकार अपने प्रतिवादी को सन्तुष्ट कीजिए । दरअसल आज उसे कितना दुख हो रहा होगा ? आज मैं अपने वाक्चातुर्य से न्यायाधीश के सामने भूठे को सच्चा और सच्चे को भूठा सिद्ध करने में सफल भी हो जाऊँ किन्तु जब परलोक में मुझे पुण्य-पाप का हिसाब देना पड़ेगा तब क्या उत्तर दूंगा ? कहा भी है.—

होयगो हिसाब तब मुख से न आवे ज्वाब,  
‘सुन्दर’ कहत लेखा लेगो राई—राई को ॥

वकील की बात सुनकर मुवक्किल भी चकित रह गया और कहने लगा—वास्तव में वकील-पत्नी एक सत्य-मूर्ति है, जिसने पचास हजार को भी ठोकर लगा दी ।

इस घटना के आधार पर तुम किसे महान् मानोगे ? स्त्री को या पुरुष को ? हमारे लिए तो स्त्री-पुरुष का कोई

भेद नहीं है । जो सत्य-सरलता रखता है वही महान् है । शास्त्र में भी कहा है— 'त सच्च खु भयव' अर्थात् सत्य ही भगवान् है । हम लोग सत्यमूर्ति भगवान् महावीर के शिष्य हैं । हमें उनके कथन पर विश्वास रखकर कपटभाव का त्याग करना चाहिए ।

सत्याचरण की प्रतिज्ञा ले लेने से वकील की पत्नी अत्यन्त प्रसन्न हुई । उसने कहा— हम लोगों को भले ही कष्ट सहन करने पड़ें, लेकिन पाप की कमाई करना उचित नहीं है । दूसरे दिन वकील ने वादी और प्रतिवादी को बुलाकर दोनों के बीच सन्तोषजनक समझौता करा दिया ।

कहने का आशय यह है कि छल-कपट करने वाले को लोग होशियार समझते हैं परन्तु जब कपटी का ध्यान अपनी ओर जाता है तो उसे पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रहता । अतएव छल-कपट का त्याग करके और माया ममता को छोड़कर आत्महितैषी लोगों को सरलता का आश्रय लेना चाहिये । लोगों में कपट होने के कारण ही आज कचहरियाँ निभ रही हैं । पहले जब लोगो में सरलता थी तो पंचायत में ही झगड़े का समाधान हो जाता था । सुनते हैं, अब फिर पंचायत की पद्धति आरम्भ हो रही है । परन्तु यह पद्धति तभी लाभदायक हो सकती है जब कपट का त्याग करके सत्यता और सरलता को जीवन में स्थान दिया जाये । सत्यता और सरलता रखना ही सुमति है तथा कूड़-कपट और माया-ममता रखना ही कुमति है । अगर हम सुमति चाहते हैं तो कपट का त्याग करना अनिवार्य है ।

जो लोग सत्यता और सरलता का महत्व समझते हैं, वे मस्तक पर अनेक संकट आ पड़ने पर भी सत्यता

और सरलता का परित्याग नहीं करते । शास्त्र में इस बात के ज्वलन्त उदाहरण मौजूद हैं कि सत्यता और सरलता के द्वारा किस प्रकार आत्मा का कल्याण किया जा सकता है । उन उदाहरणों में से अनेक उदाहरण तुम्हें सुनाये भी गये हैं । फिर भी तुम इस ओर पेक्षा ही धारण किये हो, यह उचित नहीं । सत्यता और सरलता की उपेक्षा करने का परिणाम आखिर दुःख ही आता है । रावण ने साधु का वेष पहनकर कपटपूर्वक सीता का हरण किया और राम की मर्यादा का उल्लंघन किया था । मगर जब उसका कपट खुल गया तो कितना भीषण परिणाम आया ? कपट भ्रष्ट होने पर दुष्परिणाम होता ही है । अतएव कपट का त्याग करके सरल-सत्य व्यवहार करो । इससे अन्त में तुम्हारा भला ही होगा । अजना में कपट होता और सरलता न होती तो अन्ततः वह प्रकट हुए बिना न रहता । मगर उसमें सरलता थी और साथ ही सत्यता थी अतएव वह यही विचारती थी कि आखिर तो 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् विजय सत्य की ही होती है ।

श्रीभगवतीसूत्र में भगवान् से गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है :—

प्रश्न—से णूण भंते ! अयिर पलोद्वड्ढ, थिरं न पलोद्वड्ढ ?

उत्तर—हंता, गोयमा !

अर्थात्—हे भगवन् ! अस्थिर पलटता है और स्थिर नहीं पलटता है, यह बात सच है ? भगवान् उत्तर देते हैं—हाँ, गौतम ! यह सच है ।

यही बात सत्य के विषय में समझना चाहिए, क्योंकि



सत्य भी स्थिर और शाश्वत है । सत्य सदा साथ ही रहता है । अतएव सत्य को जीवन में स्थान दो । सत्य को अपना नाना भगवान् को अपनाना है ।

कहते हैं, एक बार कबीर ने चलती चक्की देखी और उसमें से गेहूँ का आटा निकलते देखा । यह देखकर उन्होंने कहा—

चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय ।

दोनों पुड़ के बीच में, साबित बचा न कोय ॥

कबीर चलती चक्की देखकर रो पड़े और कहने लगे— इस पृथ्वी और आकाशरूपी विश्वव्यापी चक्की के पाटो में से कोई भी जीव नहीं बचे सका । सभी को मरना पड़ा है । कबीर का यह कथन पास में खड़े एक मनुष्य ने सुना और वह बोला—

चक्की चले तो चलन दे, सबका मेदा होय ।

कीले से लागे रहो, बाल न बांका होय ॥

अर्थात्—चक्की चलती है और गेहूँ का आटा हो रहा है तो होने दो । अगर परमात्मा या सत्यरूपी कील को पकड़े रहोगे तो तुम्हारा बाल भी बांका नहीं हो सकता । कहा भी है :—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।

अर्थात्—इस परिवर्तनशील संसार में जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता है ।

परन्तु जो सत्य की कीली को पकड़ रखता है, उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता । उसकी रक्षा अवश्य होती है । अतएव परमात्मारूपी कीले को पकड़े रहो तो तुम्हारी रक्षा

होगी । परमात्मा के सान्निध्य में ( समीप में ) आना ही योग है । कहा भी है — ‘सयोगो योग इत्युक्तः ।’ अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का सयोग होना ही योग कहा जाता है । आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने के लिए ही अष्टविध योग की क्रिया की जाती है । तुमसे कुछ अधिक नहीं हो सकता तो सत्य का अवश्य पालन करो । सत्याचरण करना भी आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने का साधन है । तुम चाहे जैसी दुःखमय अवस्था में होओ अगर तुम परमात्मारूपी जीवन से जीवित हो तो तुम्हारे आत्मा का कल्याण हुए बिना रह ही नहीं सकता । तथास्तु ।



# सत्तरवां बोल



## लोभ—विजय

परमात्मा का सच्चा नाम-संकीर्तन करने के लिए कषाय का त्यागना आवश्यक है। जब तक हृदय में कषाय-भावना है तब तक परमात्मा की सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। कषाय का त्याग करना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना। कषाय को जीतने से आत्मा को बहुत लाभ होता है। क्रोधविजय, मानविजय और माया-विजय से होने वाले लाभों पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में शैताम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

### मूलपाठ

प्रश्न - लोहविजयण ! भते ! जीवे किं जणयइ-?

उत्तर - लोहविजयणं संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुब्बवद्ध च निज्जरेइ ॥ ७० ॥

होगी । परमात्मा के सान्निध्य में ( समीप में ) आना ही योग है । कहा भी है — 'सयोगो योग इत्युक्तः ।' अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा का सयोग होना ही योग कहलाता है । आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने के लिए ही अष्टविध योग की क्रिया की जाती है । तुमसे कुछ अधिक नहीं हो सकता तो सत्य का अवश्य पालन करो । सत्याचरण करना भी आत्मा और परमात्मा के बीच एकता स्थापित करने का साधन है । तुम चाहे जैसी दुःखमय अवस्था में होओ अगर तुम परमात्मारूपी जीवन से जीवित हो तो तुम्हारे आत्मा का कल्याण हुए बिना रह ही नहीं सकता । तथास्तु ।



# सत्तरवां बोल



## लोभ—विजय

परमात्मा का सच्चा नाम-संकीर्तन करने के लिए कषाय का त्यागना आवश्यक है। जब तक हृदय में कषाय-भावना है तब तक परमात्मा की सच्ची प्रार्थना नहीं हो सकती। कषाय का त्याग करना अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतना। कषाय को जीतने से आत्मा को बहुत लाभ होता है। क्रोधविजय, मानविजय और माया-विजय से होने वाले लाभों पर पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। अब लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में गौताम स्वामी, भगवान् महावीर से प्रश्न करते हैं:—

## मूलपाठ

प्रश्न - लोहविजएण ! भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर - लोहविजएणं संतोसं जणयइ, लोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुच्चबद्धं च निज्जरेइ ॥ ७० ॥

## शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! लोभ को जीतने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— लोभ को जीतने से आत्मा सन्तोष प्राप्त करता है, लोभ-वेदनीय कर्मों का बध नहीं करता और पहले बन्धे कर्मों की निर्जरा करता है ।

## व्याख्यान

अवगुणों में लोभ सबसे बड़ा अवगुण है । लोभ से लौकिक हानि भी होती है और लोकोत्तर हानि भी होती है । लोभ का कही थोभ ( विश्राम ) नहीं होता । इसी कारण लोभ को वैतरणी नदी की उपमा दी गई है । लोभ-तृष्णा कैसी है, इस विषय में एक कवि ने कहा है :—

आशानाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,  
रात्र आहवती वितर्कगहना धैर्य-द्रुमध्वसिनी ।  
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,  
तस्या पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वरा ।

इस श्लोक में कवि कहता है कि आशा नदी-वैतरणी नदी के समान है । तृष्णा, लोभ, आशा, यह सब पर्यायवाची शब्द हैं । जो लोग इस तृष्णा नदी के प्रवाह में फँस जाते हैं, उनके हृदय में ऐसे अनेक संस्कार उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण दुःख भोगने पड़ते हैं और संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है ।

आशारूपी नदी में मनोरथरूपी जल भरा है । नदी

के पानी का तो अन्त आ सकता है परन्तु मनोरथ का अन्त नहीं आ सकता । श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—दो माशा सोने की इच्छा रखने वाले की करोड़ों की सम्पत्ति से भी आशा-तृष्णा शान्त नहीं हुई । इस प्रकार आशा-तृष्णारूपी नदी के मनोरथरूपी जल से बाहर निकलना बड़ा कठिन है । बड़ी-बड़ी नदियों को पार करने में तो बहुत से लोग समर्थ हुए होंगे, पर आशा-नदी को पार करने में कोई विरले ही समर्थ हो पाते हैं । साधारण लोग इस नदी को पार नहीं कर सकते ।

आशा-नदी में मनोरथरूपी जो पानी भरा हुआ है, उसमें तृष्णा की तरंगें उठती रहती हैं । जैसे नदी में मगर-मच्छ होते हैं, उसी प्रकार आशा नदी में भी द्वेषरूपी मगर-मच्छ होते हैं । वे आपस में ही एक दूसरे को खा जाते हैं । वे यह विचार नहीं करते कि जैसे मैं दूसरे को खा जाता हूँ वैसे ही दूसरा कोई मुझे भी खा जाएगा । इसी प्रकार ससार में पड़े लोग राग द्वेष के वश होकर एक दूसरे पर आक्रमण करना चाहते हैं । वे यह नहीं विचारते कि जिस प्रकार हम दूसरे पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार दूसरे हमारे ऊपर भी आक्रमण करेंगे ।

नदी में जब पूरा आता है तब किनारे के छोटे छोटे पौधे भी बह जाते हैं । आशा नदी भी अपने किनारे पर उगे हुए धैर्य आदि गुणरूपी पौधों को बहा ले जाती है । नदी में भँवर पड़ते हैं और उनमें बड़े-बड़े आदमी भी डूब जाते हैं, उसी प्रकार आशा नदी में भी मोहरूपी भँवर पड़ते हैं जिनमें बड़े-बड़े भी डूब मरते हैं । आशा-नदी के दोनों ओर चिन्तारूपी दो किनारे हैं । अन्य नदियों को तो नौका

आदि द्वारा पार किया जा सकता है, लेकिन आशा-नदी को पार करना अत्यन्त कठिन है । इस दुस्तर नदी को कोई शुद्ध मन वाला योगीश्वर ही पार कर सकता है ।

नाव में बैठ कर कोई भी दुस्तर नदी पार की जा सकती है । बल्कि ऐसी अवस्था में नदी एक क्रीडास्थली बन जाती है । इसी प्रकार जो लोग शुद्ध भावना के साथ परमात्मा का शरण ग्रहण करते हैं, उनके लिए यह ससार भी क्रीडाघाम बन जाता है । परमात्मा के शरण में जाने पर यह दुःखमय ससार भी सुखमय बन जाता है । अतएव अगर दुःखमय ससार को सुखमय बनाना चाहते हो तो परमात्मा का तथा परमात्म-प्ररूपित धर्म का शरण स्वीकार करो ।

कहने का आशय यह है कि आत्मा को आशा-नदी पार करनी चाहिए । अगर तुम आत्मा को आशा-नदी के परले पार पहुंचाना चाहते हो तो परमात्मा के शरण में जाओ और कुछ भी न बन पड़े तो परमात्मा का नाम-कीर्तन ही करो । शास्त्र में कहा है—

एको वि णमुक्करो जिणवरवसहस्स बद्धमाणस्स ।

ससार-सायराओ तारेइ नर व नारि वा ॥

परमात्मा को किया गया एक भी नमस्कार जब आत्मा को ससार-समुद्र से पार कर देता है तो फिर एक नदी को पार करा देना कौन बड़ी बात है ? अतः संसार-समुद्र को पार करने के लिए परमात्मा के शरण में जाना चाहिए । परमात्मा के शरण में जाने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है ।



आज केवल कहने का जमाना नहीं रहा । अब कार्य कर दिखाने का समय आ गया है । इसलिए तुन सुनने या कहने में ही न रहो वरन् आत्मा का कल्याण करने वाले कार्यों में लगे । पूज्य श्री श्रीलाल जी महाराज कहा करते थे - अपना शरीर नष्ट करने के लिए तो एक सुई की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरों का शरीर नष्ट करने के लिए तलवार, बन्दूक आदि बड़े शस्त्रों की जरूरत पड़ती है । इसी प्रकार जब दूसरों को उपदेश देना हो तो हेतु-दृष्टान्त आदि की आवश्यकता रहती है परन्तु जब अपनी ही आत्मा का कल्याण करना हो तो अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रहती । सिर्फ आत्मा को सरल बना कर आत्मा का कल्याण करने वाले अनुष्ठान करने की ही आवश्यकता होती है ।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा का नाम-सकीर्तन करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है तो फिर लोभ को जीतने के विषय में भगवान् से क्यों प्रश्न किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि लोभ को जीतने से ही परमात्मा के नाम का सच्चा सकीर्तन हो सकता है । लोभ में पड़े हुए लोग परमात्मा का सकीर्तन करते-करते दूसरे प्रलोभनों में फँस जाते हैं और तुच्छ वस्तु के लिए महान् वस्तु का त्याग कर देते हैं । जैसे मूर्ख मनुष्य थोड़े से लाभ के बदले कीमती वस्तु का त्याग कर देते हैं, उसी प्रकार बहुत से लोग नौ निदानों में से किसी प्रकार के निदान (नियाणा) द्वारा अपनी धर्मक्रिया बेच डालते हैं । जब लोभ जीत लिया जायेगा तो इस प्रकार की भूल नहीं होगी । लोभ-विजयी पुरुष महान् परिश्रम से प्राप्त वस्तु

व्यर्थ नष्ट नहीं करेगा ।

कल्पना कीजिये, किसी को खान खोदते समय एक कीमती हीरा मिला । अब दूसरा आदमी उससे कहता है— 'यह हीरा मुझे दे दो, मैं तुम्हे पाच सेर मिठाई देता हूँ ।' हीरा वाले पुरुष को भूख भी लगी है । फिर भी क्या वह मिठाई के बदले हीरा दे देगा ? इस प्रश्न का उत्तर नकार में ही मिलेगा । वह यही सोचेगा कि मेरा हीरा कीमती है । मैं मामूली कीमत की मिठाई के बदले अपना मूल्यवान् हीरा कैसे दे दूँ ? अगर वह हीरे को कीमती समझता हुआ भी मिठाई के बदले में दे देता है तो उसे मूर्ख ही कहना होगा । इसी प्रकार नाम-सकीर्तनरूपी रत्न को तुच्छ वस्तु के बदले में दे देना मूर्खता ही है । जो लोग नाम-सकीर्तन को कीमती समझ कर ससार के किसी भी पदार्थ के साथ उसकी अदल-बदल नहीं करते, वही उसका महान् फल प्राप्त कर सकते हैं । पर यह महान् फल तभी प्राप्त हो सकता है जब लोभ पर विजय प्राप्त कर लो जाये । इस प्रकार लोभ को जीते बिना परमात्मा के नाम-कीर्तन का यथेष्ट लाभ प्राप्त नहीं हो सकता ।

अगर कोई सौ रुपया देकर तुम्हे भगवान् महावीर को गाली देने के लिए कहे तो क्या तुम भगवान् को गाली दोगे ? नहीं ; भले ही तुम्हे रुपये की आवश्यकता है, फिर भी तुम भगवान् को गाली नहीं दोगे । ऐसा करने का कारण यही है कि तुमने भगवान् के लिए सौ रुपये का लोभ त्याग दिया है । जैसे तुमने सौ रुपये का लोभ छोड़ रखा है, उसी प्रकार कोई हजार का लोभ छोड़ने वाला भी मिल सकता है । इसी प्रकार जो महान् लोभ त्याग देता है वही नाम-

संकीर्तन का लाभ प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत जो लोभ नहीं तजता वह तुच्छ वस्तु के बदले में नाम-संकीर्तन के महान् लाभ से वंचित हो जाता है। अरणक श्रावक को देव ने कुण्डल की दो जोड़ियाँ दी थी, लेकिन अरणक ने उन्हें अपने पास नहीं रखा, क्योंकि वह उसकी परिग्रह की मर्यादा से बाहर थी। अगर अरणक ने लोभ न जीता होता तो क्या वह मर्यादा में स्थिर रह सकते थे ? जो व्यक्ति अपनी वस्तु को अनमोल मान कर पुद्गल के मोह में नहीं पड़ता है, वही अपनी वस्तु की रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार परमात्मा के नामसंकीर्तन के फल की रक्षा भी वही कर सकता है जो नामसंकीर्तन के बदले में ससार की कोई भी वस्तु नहीं चाहता।

तुममें से कोई कह सकता है कि हम परमात्मा के नामसंकीर्तन के बदले में सांसारिक पदार्थों की इच्छा करते ही कहा हैं ! ऐसा कहने वाले को यही उत्तर दिया जा सकता है कि अनेक लोग हमारे पास आते हैं और कहते हैं— मुझे अमुक काम के लिए जाना है, अतः मागलिक सुनना चाहता हूँ। हालांकि साधु को किसी भी समय मागलिक सुनाने में कोई बाधा नहीं है, फिर भी देखना चाहिए कि सुनने वाले की भावना क्या है ! वह तो मागलिक सुनकर अपने सांसारिक कार्य की सफलता ही चाहता है। पर इस तरह सांसारिक पदार्थों के प्रति ममता रख कर मागलिक सुनना तो परमात्मा के नामसंकीर्तन को सांसारिक पदार्थों के बदले में बेचने के समान है। इसलिए आत्मा को निर्मल रखना चाहिए और सांसारिक पदार्थों के प्रति उत्पन्न होने वाली इच्छा को दबा रखना चाहिए। हम लोगों को आत्म-

कल्याण का यह सुयोग प्राप्त हुआ है । इस सुयोग को वृथा न जाने देकर परमात्मा का नामसकीर्तन करके आत्महित साध लेना चाहिए । परमात्मा के नाम-सकीर्तन का महत्व कुछ कम नहीं है । शास्त्र में कहा है :—

तहारूवाण अरिहंताण भगवंताण नामगोयं सवणयाए  
वि महाफल ।

अर्थात्—तथारूप अरिहन्त भगवान् के नाम-गोत्र का श्रवण करने से भी महान् फल प्राप्त होता है । इस महान् फल की प्राप्ति सरलतापूर्वक हो सकती है, पर लोग परमात्मा का नामकीर्तन न करके फिजूल कामों में समय का दुरुपयोग करते हैं । लोग रेल में बैठकर एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं । उस समय रेल में कोई खास काम नहीं रहता । फिर भी लोग क्या परमात्मा का स्मरण करने में वह समय लगाते हैं ? उस समय में परमात्मा का नामस्मरण किया जाये तो क्या हानि हो सकती है ? ऐसा न करने का कारण नामस्मरण के प्रति उनकी लापरवाही है । मैं तुम सबको परमात्मा का नामस्मरण करने का उपदेश देता हूँ । परन्तु जब तक तुम्हारे आत्मा में जागृति न आये तब तक सिर्फ मेरा उपदेश क्या असर कर सकता है ? जमीन में बीजारोपण करने पर वर्षा हो जाये तो बीज उग सकता है । अगर बीजारोपण ही न किया हो तो वर्षा होने पर भी उससे क्या लाभ है ? अतएव मुझे तुमसे यही कहना है कि अपने अन्तरात्मा में परमात्मा का नाम-कीर्तन करने की जागृति उत्पन्न करो । लोभ का त्याग करके परमात्मा का नाम-सकीर्तन करने से आत्मा का कल्याण हुए बिना नहीं रहेगा ।

# एकत्तरवां बोल



## राग-द्वेष-मिथ्यादर्शन-विजय

आत्मा को स्वतन्त्र बनाने के उद्देश्य से ही शास्त्र में सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करने के लिए कहा गया है। सम्यक्त्व में पुरुषार्थ करना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

पराक्रम, शक्ति सामर्थ्य या पुरुषार्थ तो प्रत्येक जीवात्मा में विद्यमान है। मगर उसका उपयोग भिन्न-भिन्न रूपों में हो रहा है। जो पुरुष शस्त्र का प्रयोग दूसरे पर न करके अपने ही ऊपर करता है, उसकी गणना मूर्खों में की जाती है। इसी प्रकार मसार से तिरने के जो साधन प्राप्त हुए हैं, उन साधनों से ससार में डूबने वाला जीव बालजीव कहलाता है।

जब यह बाल-भाव मिटता है तो साथ ही दृष्टि में भी परिवर्तन होता है। इस परिवर्तित दृष्टि को जैनदर्शन सम्यग्दृष्टि कहता है। इस दृष्टि को प्राप्त करने के पश्चात् जो पुरुषार्थ होता है वही सच्चा पुरुषार्थ है।

जीवन का सच्चा पुरुषार्थ स्फुटित करने के लिए

## ३५२—सम्यक्त्वपराक्रम (५)

शास्त्रकारों ने सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन में ७३ उपाय बतलाये हैं , इनमे से सत्तर उपायो पर विस्तार के साथ विवेचन किया जा चुका है । सड़सठवें से सत्तरवें बोल तक कषाय का त्याग करने के लिए कहा गया है । राग, द्वेष और मिथ्यात्व का त्याग किये बिना कषाय का त्याग नहीं हो सकता । इसलिए गौतम स्वामी, भगवान् महावीर से राग-द्वेष-मिथ्यात्व के त्याग के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं :—

### मूलपाठ

प्रश्न—पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएण भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणच्चरित्ताराहणयाए अरुभुट्ठेइ, अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगंठिविमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुब्बोए अट्ठवीसइविह मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ, पंचविह नाणावरणिज्जं, नवविह दंसणावरणिज्जं, पचविहं अन्तराइयं, एए तिसि वि कम्मसे जुगवं खवेइ, तत्रो पच्छा अणूत्तरं कसिणं पडिपुण्ण निरावरण वितिमिर विसुद्धं लोणालोणप्पभाव केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेइ, जाव सजोगी भवइ ताव इरियावहियं कम्म निबंधइ सुहफरिस दुसमयठिइय तं पढमसमए वद्ध विइयसमये वेइय तइयसमये निज्जिण्ण, तं वद्ध पुट्ठं उदीरिय वेइयं निज्जिण्ण सेयाले य अकम्मं यावि भवइ ॥ ७१ ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गौतम ! राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से, सर्वप्रथम तो जीव ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में रुचि बढता है, फिर आठ प्रकार के कर्मों की गाठ से मुक्त होने के लिए क्रमपूर्वक अट्ठाईस प्रकार के मोहनीय कर्मों का क्षय करता है । उसके अनन्तर पाच प्रकार के ज्ञानावरण कर्म नौ प्रकार के दर्शनावरण कर्म और पाच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ क्षय करता है । तत्पश्चात् श्रेष्ठ, सम्पूर्ण, आवरणरहित, अन्धकाररहित, विशुद्ध और लोक अलोक में प्रकाशित केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है । केवलज्ञानी और केवलदर्शनी होने के बाद जब तक सयोगी होता है तब तक ईर्यापथिक कर्म बढता है । उस कर्म का स्पर्श सिर्फ दो समय की स्थिति वाला और सुखकर होता है । वह कर्म पहले समय में बंधता है दूसरे समय में वेदन किया जाता है और तीसरे समय में नष्ट हो जाता है ।

### व्याख्यान

शास्त्र में कहा है—‘रागो य दोसो वि य कम्मबीज’ अर्थात् राग और द्वेष—यह दोनों कर्मबीज हैं । ससार से मुक्त होने के लिए इस कर्मबीज को दग्ध कर देना आवश्यक है । द्वेष को जीतना जितना कठिन है, उसकी अपेक्षा राग को जीतना अधिक कठिन है । ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने में राग, द्वेष तथा मिथ्यात्व, यह तीनों बाधक हैं । यहाँ राग द्वेष और मिथ्यत्व को एक साथ बतला कर उनका कार्य कारण सम्बन्ध प्रकट किया गया है ।

बाह्य दृष्टि से राग द्वेष को जीत लेने से ही यह नहीं

कहा जा सकता कि वास्तव में राग-द्वेष जीत लिए गये हैं। जब सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की आराधना हो तभी समझना चाहिए कि राग-द्वेष पर विजय प्राप्त हो चुकी है। अगर इस रत्नत्रय की भलीभाँति आराधना नहीं होती तो समझना चाहिए कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व को लोक-दिखाऊ हो जीता है—वास्तविक रूप से नहीं।

जिस काम को करने में कोई कष्ट नहीं होता, लोग उसे करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मगर कष्टकारी कार्य करने के लिए लोग तैयार नहीं होते। जैसे एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करना भी शास्त्रसम्मत है, किन्तु एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए जितना पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसकी अपेक्षा बहुत ज्यादा पुरुषार्थ पचेन्द्रिय जीवों की रक्षा के लिए करना पड़ता है और पचेन्द्रियों में भी पशुओं की अपेक्षा मनुष्य की रक्षा करने में सबसे ज्यादा श्रम करना पड़ता है। जीवत्व की दृष्टि से तो एकेन्द्रिय भी जीव है और पचेन्द्रिय भी जीव है, परन्तु पचेन्द्रिय को और उसमें भी मनुष्य की रक्षा करने में राग-द्वेष को अधिक मात्रा में जीतना पड़ता है। इसलिए समस्त प्राणियों में सबसे पहले मनुष्य रक्षा का पात्र है। परन्तु आज तो उलटी गङ्गा बह रही है। आज लोग एकेन्द्रिय जीव की रक्षा करने के लिए तो तैयार हो जाते हैं लेकिन पचेन्द्रिय और मनुष्य की रक्षा करने में उपेक्षा बतलाते हैं। एक बकरे को छुड़ा कर पीज-शपोल में भेज देना सरल है, इस कारण उसकी रक्षा करने के लिए लोग तैयार हो जाते हैं मगर मनुष्य की रक्षा करने का अवसर आने पर विचार में पड़ जाते हैं। बकरे को पीजरापोल में भेज कर लोग अपनी जिम्मेवारी से छूट



जाते हैं लेकिन विचार करो कि राग-द्वेष को अधिक कहा-  
जीतना पड़ता है ? बकरे की रक्षा करने में अधिक राग-  
द्वेष जीतना पड़ता है या मनुष्य की रक्षा करने में ? कदा-  
चित् लोग मनुष्य के प्रति दया दिखलाते भी हैं तो पैसा-  
आधा पंसा देकर अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाते हैं ।  
वे यह नहीं सोचते कि मनुष्य के प्रति हमारी गहरी जिम्मे-  
वरी है । वास्तव में मनुष्य की दया किस प्रकार को जा-  
सकती है और मनुष्य की दया करने की हमारे ऊपर कितनी  
जिम्मेवरी है, यह बात स्पष्ट करने के लिए एक सुना हुआ  
उदाहरण इस प्रकार है :—

कहते हैं, अमेरिका में दो मित्र गिरजाघर जा रहे थे ।  
इस गिरजाघर के बाहर कुछ लूले-लँगड़े भिखारी पड़े थे ।  
इक लँगड़ों को देखकर एक मित्र को दया आई । दया तो  
दोनों के हृदय में उत्पन्न हुई थी मगर एक ने अपनी दया  
सफल करने के लिए जेब से कुछ पैसा निकाल कर भिखारी  
को दे दिये । यह देख कर दूसरे ने कहा— तुमने इस लँगड़े  
भिखारी पर दया तो की, किन्तु यह तो भिखारी का  
भिखारी ही रहा ! हृदय में दया उत्पन्न होने पर भी और  
पैसा देने पर भी भिखारी का भिखारीपन तो मिटा नहीं !

सुनते हैं, बम्बई कलकत्ता आदि बड़े शहरों में लोग  
प्रायः अन्धों को पैसा देते हैं, आँख वालों को बहुत कम देते  
हैं । अतएव अनेक भिखारी अपने बालकों की आँखें इसलिए  
फोड़ डालते हैं कि वह अन्धे हो जाएँगा तो उन्हें ज्यादा  
पैसे मिलेंगे ।

दूसरे मित्र ने पैसा देने वाले से कहा— अगर हमारे  
अन्तःकरण में उस भिखारी के प्रति सचमुच अनुकम्पा हो

तो हमें सिर्फ कुछ पैसे देकर ही झुटकारा नहीं पा लेना चाहिए, वरन् उसका भिखारोपन दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । भिखागी पर दया करके तुमने पैसे का ममत्व त्याग किया है, सो तो ठीक है मगर तुमने सच्ची दया का परिचय नहीं दिया ।

पहले मित्र को इस प्रकार कह कर दूसरा मित्र उस लँगड़े भिखारी को अपने घर ले गया और बनावटी पैर लगाकर उसे इस योग्य बना दिया कि वह चलने-फिरने में समर्थ हो गया । इनके बाद उमे कई काम सिखला कर ऐसा बना दिया कि उसे भीख न माँगनी पड़े ।

इस घटना पर विचार करो । सोचो कि दोनों में से किसकी अनुकम्पा अच्छी और ऊँचा है ? इस प्रश्न का यही निश्चित उत्तर मिलेगा कि जिसने राग द्वेष को जीतने का विशेष पुरुषार्थ किया है, उसी की दया उच्च है । शास्त्र की दृष्टि से एकेन्द्रिय या पचेन्द्रिय प्राणी में जीवत्व की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है । परन्तु जिनकी दया बड़े प्राणियों पर की जाएगी, उतना अधिक राग द्वेष जीतना पड़ेगा ।

कहन का आशय यह है कि लोग रा द्वेष को जीतने की बात तो करते हैं, मगर सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चास्त्र की आराधना होने पर ही माना जा सकता है कि राग द्वेष पर विजय प्राप्त की गई । ऊपर से राग द्वेष को जीतने की बात करना और भीतर-भीतर क्रोध करना या द्वेष से जलना राग-द्वेष जीतने का चिह्न नहीं है । आत्मा भीतर से भी शांत हो और बाहर से भी शांत हो, तभी राग-द्वेष पर विजय पाना कहा जा सकता है ।

एक आदमी ने तीन आदमियों को गाली दी । गाली

सुनकर एक ने सोचा—मैं यही नहीं जानता कि गाली किसे कहते हैं ? गाली देने वाला मुझे गाली नहीं, किन्तु उपदेश दे रहा है । वह मुझे लुच्चा कहता है, अगर मुझ में लुच्चापन है तो मुझे उसका त्याग कर देना चाहिए और सचमुच मुझमें लुच्चापन है और यह आदमी उसकी निन्दा करता है तो क्या बुरा करता है ? इस प्रकार विचार करके पहला मनुष्य शान्त रहा । उसके हृदय में लेशमात्र भी द्वेष उत्पन्न नहीं हुआ ।

दूसरे आदमी ने कहा—यह मुझे गालिया दे रहा है । यह कह कर उसने गाली देने वाले को दण्ड दिया ।

तीसरे आदमी को गालिया असह्य मालूम हुई । पर उसने सोचा— गाली देने वाला बलवान् है और मैं निर्बल हूँ । मैं उससे कुछ कहूँगा तो वह मुझे मार देगा ।

इन तीन तरह के मनुष्यों में से तुम किसे अच्छा और किसे बुरा कहोगे ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जायेगा कि पहले मनुष्य ने पूरी तरह अहिंसा का पालन किया और गाली के विषय में राग-द्वेष जीत लिया है, जब कि तीसरे आदमी ने अहिंसा का सिर्फ ढोंग ही किया है । उसमें वास्तविक अहिंसा नहीं है । उसने दिखावटी तौर पर क्रोध को जीता है, दरअसल नहीं । उसके दिल में क्रोध है, बदला लेने की भावना है, पर अशक्ति के कारण ही वह चुप रहा है । इस प्रकार की अहिंसा या क्षमा तमोगुणी है । पहले मनुष्य ने जिस अहिंसा का परिचय दिया, वह अहिंसा सतागुणी है ।

हृदय में राग-द्वेष उत्पन्न न होना, अपूर्व शांति रहना सतोगुणी क्षमा है । हृदय में जब सतोगुणी क्षमा रहती है

(२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग ।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु में श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु में श्रद्धा होना । अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना । प्रमाद मर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि । कषाय अर्थात् राग-द्वेष । योग अर्थात् मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति । इन पांच कारणों से जीवात्मा कर्म परमाणुओं को ग्रहण करते हैं । अतएव इन कमबन्धन के कारणों को दूर करना उचित है ।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है । किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्याग जाता है ।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दुःखोत्पत्ति का कारण है । यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हें दूर करने से क्या लाभ होता है ?

राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है ।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है । राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमें विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है । जीवात्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र्य अनन्त-वीर्य आदि विद्यमान है किन्तु कर्म के आवरण के कारण

आत्मा की शक्तियाँ तिरोहित हो रही हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारों द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन में निमित्त बनता है । आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है ।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से संबद्ध है । अतएव मूर्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करता है । वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है । वह इस प्रकार हैं—

- (१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म ।
- (२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढँकने वाला कर्म ।
- (३) वेदनीय कर्म—सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म ।
- (४) मोहनीय कर्म—श्रद्धा और चारित्र्य का नाश करने वाला कर्म ।
- (५) आयुष्य कर्म—चार गतियों में भ्रमण कराने वाला कर्म ।

तभी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पर्याय उत्पन्न होते हैं । अतएव अगर तुम सिद्धान्त के अनुसार राग द्वेष को जीतना चाहते हो तो बाहरी तौर पर ही राग-द्वेष को जीतने में मत लगे रहो पर भीतर से भी उन्हें जीतने का प्रयत्न करो । भीतर और बाहर से राग-द्वेष को जीतोगे तो तुम्हारे आत्मा का अवश्य कल्याण होगा ।

कर्म का बन्धन एक महाबन्धन है । जब तक जीवात्मा कर्मबन्धन से बद्ध है, तब तक उसे सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती । शाश्वत सुख प्राप्त करने के लिए आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त होना चाहिए । बन्धन में दुःख और मुक्ति में सुख है ।

कर्मबन्धन के कारण ही प्राणी अनेक प्रकार की सासारिक दुःखपरम्पराएँ सहन करते हैं । प्राणी जिस सुख-दुःख का अनुभव करते हैं, उसका मुख्य कारण शुभ-अशुभ कर्म है ।

कर्म अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक शुभाशुभ व्यापार और उनसे बद्ध होने वाले कर्मण वर्गणा के पुद्गल । प्राणी मन, वचन और काय से शुभ या अशुभ प्रवृत्तियाँ करते हैं और इन प्रवृत्तियों के अनुसार ही शुभ-अशुभ फल-सुख-दुःख उन्हें प्राप्त होता है ।

ससार में कोई गरीब, कोई अमीर, कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई राजा तो कोई रक है । इस विचित्रता का मुख्य कारण कर्म है । जीवात्मा मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मदण्ड से ही दण्डित होता है और फलतः जुदी-जुदी योनियों में भ्रमण करता है ।

कर्म का बड़ा भारी दण्ड ससार के ज्वाल में से मुक्त

न होने देना है । संसार में रहकर अनेक प्रकार की आधि, व्याधि, उपाधि, जन्म जरा, मरण आदि की वेदनाओं वाली अवस्थाएँ प्राप्त करना और दुःसह दुःख भुगतते रहना ही कर्म का महान् दण्ड है ।

यह कर्म-दण्ड प्रत्येक प्राणी को सहन करना ही पड़ता है । कर्म के इस अपराध का दण्ड समभाव से सहन किये बिना कोई भी प्राणी सिद्ध, बुद्ध और मुक्त नहीं हो सकता । शास्त्रकार तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं :—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

अर्थात्— किये कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता ।

कर्मबन्धन के कारण ही जीवात्मा नरकगति, तिर्य्यच-गति, मनुष्यगति और देवगति— इन चार गतियों में तथा चौबीस दण्डों में और चौरासी लाख जीवयोनियों में भ्रमण करता है और शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख का कड़ुवा-मीठा अनुभव करता है ।

इन कर्मबन्धनों का मूल कारण तो राग और द्वेष ही है । अगर राग और द्वेष रूप इन दो कर्मबीजों को निर्मूल कर दिया जाये तो जीवात्मा कर्मबन्धनों से मुक्त हो सकता है । शास्त्रकार फिर कहते हैं :—

रागो य दोसो वि य कम्मवीयं ।

अर्थात्— राग और द्वेष, यह दोनों कर्मों के बीज हैं ।

राग और द्वेष को दूर करने के लिए शास्त्रकारों ने कर्मबन्धन के कारणों को दूर करना आवश्यक बतलाया है । मुख्यरूप से कर्मबन्धन के पांच कारण हैं— (१) मिथ्यात्व,

(२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग ।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु में श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु में श्रद्धा होना । अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना । प्रमाद अर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि । कषाय अर्थात् राग-द्वेष । योग अर्थात् मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति । इन पांच कारणों से जीवात्मा कर्म परमाणुओं को ग्रहण करते हैं । अतएव इन कर्मबन्धन के कारणों को दूर करना उचित है ।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है । किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्याग जाता है ।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दुःखोत्पत्ति का कारण है । यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हें दूर करने से क्या लाभ होता है ?

राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है ।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है । राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमें विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है । जीवात्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र्य अनन्त-वीर्य आदि विद्यमान हैं किन्तु कर्म के आवरण के कारण



आत्मा की शक्तियाँ तिरोहित हो रही हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारों द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन में निमित्त बनता है । आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है ।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से सबद्ध है । अतएव मूर्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करता है । वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है । वह इस प्रकार हैं—

- (१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म ।
- (२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढँकने वाला कर्म ।
- (३) वेदनीय कर्म—सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म ।
- (४) मोहनीय कर्म—श्रद्धा और चारित्र्य का नाश करने वाला कर्म ।
- (५) आयुष्य कर्म—चार गतियों में भ्रमण कराने वाला कर्म ।

(२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग ।

मिथ्यात्व अर्थात् यथार्थ वस्तु में श्रद्धा का अभाव या अयथार्थ वस्तु में श्रद्धा होना । अविरति अर्थात् दोषों से विरत न होना । प्रमाद अर्थात् मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा आदि । कषाय अर्थात् राग-द्वेष । योग अर्थात् मन, वचन और काय द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ति । इन पांच कारणों से जीवात्मा कर्म परमाणुओं को ग्रहण करते हैं । अतएव इन कर्मबन्धन के कारणों को दूर करना उचित है ।

राग और द्वेष का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है । किसी भी वस्तु का स्वरूप समझ लेने के बाद ही उसे स्वीकार किया जाता है या त्याग जाता है ।

राग और द्वेष कर्म के बीज हैं और कर्म-बीज दुःखोत्पत्ति का कारण है । यह बात हम जान गये हैं तो अब यह विचारना चाहिए कि राग और द्वेष किस प्रकार दूर किये जा सकते हैं और उन्हें दूर करने से क्या लाभ होता है ?

राग द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से जीवात्मा को क्या लाभ होता है, यही प्रश्न गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से किया है ।

भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कर्मग्रन्थि भेदने का तथा शाश्वत सुख पाने का मार्ग बतलाया है । राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर ले तो उसमें विद्यमान अनन्त शक्ति-सामर्थ्य प्रगट हो जाता है । जीवात्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र्य अनन्त-वीर्य आदि विद्यमान है किन्तु कर्म के आवरण के कारण

आत्मा की शक्तियाँ तिरोहित हो रही हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि अमूर्त आत्मा मूर्त कर्मों को किस प्रकार ग्रहण करता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे दीपक वत्ती के द्वारा तेल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला के रूप में परिणत करता है, उसी प्रकार जीवात्मा कषाय सम्बन्धी विकारों द्वारा कर्मरूप परिणत होने योग्य परमाणुओं को ग्रहण करता है और उनके कर्मरूप परिणमन में निमित्त बनता है । आत्मा के प्रदेशों के साथ इन कर्म परमाणुओं का सम्बन्ध होना ही कर्मबन्ध कहलाता है ।

यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्त है तथापि अनादिकाल से कर्म से संबद्ध है । अतएव मूर्त सरीखा होकर वह कर्मवर्गणा के परमाणुओं को ग्रहण करता है । वह कर्मबन्ध आठ प्रकार का है । वह इस प्रकार हैं—

- (१) ज्ञानावरणीय कर्म—विशेष बोधरूप ज्ञान को आच्छादित करने वाला कर्म ।
- (२) दर्शनावरणीय कर्म—वस्तु के सामान्य बोधरूप दर्शन को ढँकने वाला कर्म ।
- (३) वेदनीय कर्म—सुख और दुःख का अनुभव कराने वाला कर्म ।
- (४) मोहनीय कर्म—श्रद्धा और चारित्र्य का नाश करने वाला कर्म ।
- (५) आयुष्य कर्म—चार गतियों में भ्रमण कराने वाला कर्म ।

## ३६२-सम्यक्त्वपराक्रम (५)

- (६) नामकर्म — गति, शरीर, आकृति, वर्ण आदि निश्चित करने वाला कर्म ।
- (७) गोत्रकर्म — उच्च-नीच गोत्र (कुल) में जन्माने वाला कर्म ।
- (८) अन्तरायकर्म — दान, लाभ, भोग आदि प्राप्ति में विघ्न डालने वाला कर्म ।

इन आठ प्रकार के कर्मबन्धों से मुक्त होने के लिए जीवात्मा को राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त करना पड़ता है । क्योंकि जब तक जीव इन्हें नहीं जीत लेता तब तक वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की आराधना में उद्योगशील नहीं होता । जब आत्मा इस रत्नत्रय की आराधना में उद्योगशील होता है, तभी वह कर्मग्रन्थि तोड़ने में समर्थ बन सकता है ।

कर्मग्रन्थि को तोड़ने के लिए सर्वप्रथम मोहनीयकर्म को जीतने की खास आवश्यकता है । मोहनीयकर्म का स्थान सब कर्मों में उच्च है । जैसे राजा को वश में कर लेने पर उसका दल-बल सहज ही वश में हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के इस राजा (मोहनीय) को जीत लेने पर शेष कर्म अनायास ही जीते जा सकते हैं ।

जिस वृक्ष की जड़ सूख जाती है, पानी सींचने पर भी वह उग नहीं सकता । इसी प्रकार कर्मोत्पत्ति के मूल कारण मोहनीयकर्म के नष्ट हो जाने पर अन्य कर्म उत्पन्न नहीं होते ।

आठ कर्मों में चार घाती हैं और चार अघाती हैं । घाती कर्म आत्मा के मूल गुणों का घात करते हैं, अतएव

उन्हें सर्वप्रथम जीतना आवश्यक है । मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय, यह चार कर्म घाती हैं । ज्यो-ज्यों इन कर्मों को आत्मा जीतता जाता है, त्यो-त्यो उसके गुणों का विकास होता जाता है । कर्मों के विनाश के साथ आध्यात्मिक विकास होता रहता है । कर्मों का जब सम्पूर्ण क्षय हो आता है, तभी परमपद—मोक्ष की प्राप्ति होती है । जब तक थोड़ा सा भी योग अर्थात् मानसिक, वाचिक या कायिक व्यापार जारी रहता है, तब तक पूर्ण आध्यात्मिक विकास नहीं हो पाता । चौदहवें गुणस्थान में अयोगीपन होता है । बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में योग मीजूद रहता है । घाती कर्मों के क्षय के साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन का आविर्भाव होता है । इस अवस्था में भी योग की विद्यमानता के कारण ऐर्यापथिक ( ईरियावहिया ) कर्म का अस्त्व होता है । मगर वह कर्म प्रथम समय में बँधता है, दूसरे समय में ही वेदन हो जाता है । तीसरे समय में तो उसकी निर्जरा हो जाती है ।

जो वीतराग और वीतद्वेष है, वह शोकरहित है । जैसे कमल की पाखुड़ी जल में रहती हुई भी जल से लिप्त नहीं होती, उसी प्रकार वीतराग ससार में रहते हुए भी सासारिक दुःखप्रवाह से लिप्त नहीं होते । शब्दादि विषय कैसे भी क्यों न हों, उनके मन को लेशमात्र भी न भेद सकते हैं और न विकृत ही कर सकते हैं ।

जिस प्रकार जले हुए बीज से अकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार नष्ट हुए कर्म-बीजों से भवरूपी अकुर उत्पन्न नहीं होता ।

वीतराग और वीतद्वेष पुरुष किस प्रकार कर्मों का

नाश करते हैं, यह बतलाते हुए शास्त्र में कहा गया है कि—

अपने राग-द्वेष तथा मोहरूप सकल्पो का स्वरूप विचारने में उद्यत उन वीतराग पुरुष को क्रमशः समता प्राप्त होती है। फिर विषयो का सकल्प हट जाने पर उनकी काम-गुणो की तृष्णा भी निवृत्त हो जाती है।

इस प्रकार वीतराग होकर कृतकृत्य हुए उन पुरुष के ज्ञानदर्शन को आच्छादित करने वाले तथा अन्य अन्त-रायक कर्म क्षण भर में क्षीण हो जाते हैं और तब वह सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बन जाते हैं।



# बृहत्तर-तेहत्तरवां बोल



## शैलेशी तथा निष्कर्मता

वीतराग पुरुष किस प्रकार मुक्तदशा प्राप्त करते हैं, इस विषय मे भगवान् महावीर ने फर्माया है -

अह आउय पालइत्ता अन्तोमुहुत्ताद्धावसेसाए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरिरं अप्पडिवाइं सुक्कज्झाण भायमाणे तप्प-  
ढमयाए मणजोगं निरुंभइ, वड्ढजोगं निरुंभइ, कायजोगं  
निरुंभइ, आणपाणुनिरोहं करेइ, ईसि पंचहस्सक्खरुच्चारण-  
ट्ठाए य ण अणगारे समुच्छिन्नकिरिय अनियट्ठिसुक्कज्झाण  
भियायमाणे वेयणिज्ज आउयं नामं गोत्तां च एए चत्तारि  
कम्मसे जुगवं खवेइ ॥ ७२ ॥

तस्रो ओरालियतेयकम्माइ सव्वाहिं विप्पजहणाहिं  
विप्पजहित्ता उज्जुसेट्ठिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एससमएणं  
अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झई, जाव  
अन्त करेइ ॥ ७३ ॥

## शब्दार्थ

(वीतराग पुख्ख) आयु पूर्ण करने में जब अन्तर्मुहूर्त जितना समय शेष रहता है तब योग का निरोध करते हैं और अप्रतिपात्ती शुक्लध्यान धर कर सबसे पहले मनोयोग का निरोध करते हैं, तदनन्तर क्रमशः वचनयोग और काय-योग को रोकते हैं और फिर श्वासोच्छ्वास का निरोध कर देते हैं । तत्पश्चात् जितने समय में पाँच लघु अक्षर बोले जाते हैं, उतने समय की स्थिति भोग कर तथा शुक्लध्यान के समुच्छिन्नक्रिया नामक चौथे पाये का ध्यान करके वेदनीय कर्म, आयुर्कर्म, नामकर्म और मोक्षकर्म—इन शेष रहे हुए चार अधाती कर्मों का एक ही साथ क्षय कर डालते हैं ॥ ७२ ॥

उसके बाद औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरों का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त करके, ऊर्ध्व अफुसमान (सीधी) गति करते हैं और साकारउपयोग से युक्त होकर सिद्ध तथा मुक्त होते हैं ॥ ७३ ॥

## व्याख्यान

एकहत्तरवें बोल के साथ बहत्तरवें और तेहत्तरवें बोल का घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इन अन्तिम दोनों बोलों का एक ही साथ विचार किया जाता है ।

७१ वें बोल से ७३ वें बोल में राग-द्वेष तथा मिथ्या-दर्शन के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है, इस विषय में विशेष विचार किया गया है ।

ससार का मूल कारण कर्म है और कर्म का मूल कारण राग-द्वेष है, अतएव राग-द्वेष को निर्मूल कर देने से



ससार-भ्रमण का अन्त होता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार राग-द्वेष तथा मिथ्यादर्शन को जीतने से परवरा से तो मोक्ष की प्राप्ति होती है परन्तु आरम्भ में ही तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है । तेरहवाँ गुणस्थान मोक्ष-महल की अन्तिम सीढ़ी है । वहाँ पहुँचने के बाद अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है ।

बारहवें और तेरहवें गुणस्थान का वर्णन लगभग समान है, क्योंकि दोनों गुणस्थान का वर्णन लगभग समान है, क्योंकि दोनों गुणस्थान क्षाधिक भाव के हैं । मोह का क्षय होने पर ही बारहवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है । अतएव आत्मा का वहाँ से पतन नहीं होता, किन्तु तेरहवें चौदहवें गुणस्थान पर आरूढ़ होकर आखिर मोक्ष प्राप्त करता ही है । इसलिए राग द्वेष जीत लेने के बाद क्या करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई प्रश्न नहीं किया गया है, क्योंकि रागादि को जीतने वाला मोक्ष प्राप्त करता ही है और इसी कारण यही अन्तिम प्रश्न है ।

राग द्वेष पर सम्पूर्ण विजय प्राप्त करने से केवलज्ञान प्राप्त होता है फिर तेरहवें गुणस्थान की जघन्य या उत्कृष्ट-जितनी स्थिति होती है, उसमें से अन्नर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर वे वीतराग पुरुष योग का निरोध करते हैं । सबसे पहले अतिपती शुक्लध्यान का तीसरा चरण धारण करके पहले पहल मनोयोग का निरोध करते हैं । मन सजी पचे-न्द्रिय को होता है । इस मनोयोग में जघन्य योग समझना चाहिए । मनोयोग के असख्यात भेद करके प्रत्येक समय में प्रत्येक भेद का निरोध करते हैं और असख्यात समयों में सम्पूर्ण मनोयोग का निषेध हो जाता है । वचनयोग में भी

जघन्य योग समझना चाहिए । इसी प्रकार जघन्य काययोग के असख्यात भेद करके असख्यात समयों में उसका पूर्ण निरोध करते हैं । इसके पश्चात् पांच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय की स्थिति भोगकर समुच्छिन्नक्रिया नामक शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद का आलम्बन करके शेष रहे हुए वेदनीयकर्म, आयुकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म का क्षय करते हैं ।

मोहनीय कर्म का क्षय होने से तीन घाती कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, पर चार अधती कर्म बाकी बच जाते हैं । इन चारों का एक साथ क्षय करके औदारिक, तैजस और कामण शरीर का त्याग करके, सरलश्रेणी प्राप्त होकर 'अफुसमानगति' से जाते हैं । अर्थात् सिद्ध भगवान् टेढ़ी गति नहीं करते सीधी गति करते हैं । 'अफुसमानगति' का अर्थ यह नहीं है कि वे आकाश के प्रदेशों का स्पर्श नहीं करते । टेढ़ी मेढ़ी गति न करके सीधी गति करना ही इसका अर्थ है ।

टेढ़ी-तिरछी गति कर्म के निमित्त से होती है । वीतराग पुरुष जब मुक्त दशा प्राप्त करते हैं, तब उनके सभी कर्म नष्ट हो चुकते हैं । अतएव वे सीधी और साकार उपयोग-पूर्वक गति करते हैं ।

उपयोग के दो प्रकार हैं—साकार-उपयोग और निराकार-उपयोग । साकार-उपयोग ज्ञान का होता है और निराकार-उपयोग दर्शन का होता है । कुछ आचार्य ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होना कहते हैं, परन्तु शास्त्र के पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि दोनों उपयोग एक साथ प्रयुक्त नहीं होते । सिद्ध होने वाले आत्मा ज्ञानोपयोग

से सिद्ध होते हैं । ज्ञान और दर्शन के उपयोग का समय एक ही नहीं हो सकता । दोनों का उपयोग भिन्न-भिन्न समय में होता है । अतएव ज्ञानोपयोग में ही सिद्ध होते हैं ।

साकार उपयोग में सीधी गति करके मुक्तात्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिपूर्ण अवस्था प्राप्त कर के निरावरण धर्म प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न किया जा सकता है कि आत्मा यदि अकर्म अर्थात् कर्मरहित बन गया है तो फिर गति किस प्रकार कर सकता है ? अगर आत्मा गति करता है तो गति का कारण अवश्य होना चाहिए अर्थात् कर्म होने चाहिए ।

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गति करना तो आत्मा का स्वभाव है । अपने स्वभाव से आत्मा सीधी गति करता है, टेढ़ी-तिरछी गति कर्म के कारण होती है । मुक्तात्मा सीधी गति करता है और ऐसा करना आत्मा का स्वभाव है ।

उदाहरणार्थ—दीपक की शिखा हमेशा ऊपर ही जाती है, क्योंकि यही उसका स्वभाव है । दीपक की शिखा को नीचे की ओर करना हो तो दूसरे प्रयोग से ही सम्भव है । इसी प्रकार आत्मा स्वभाव से सीधी गति करता है और कर्म के निमित्त से टेढ़ी-तिरछी गति होती है ।

लेप वाला तूबा लेप हटते ही ऊपर की ओर आता है । जब तक उस पर लेप चढ़ा रहता है तब तक वह पानी में डूबा रहता है । इसी प्रकार आत्मा जब तक कर्म-युक्त रहता है तब तक टेढ़ी गति करता है । जब कर्मरहित हो जाता है तो सीधी ही गति करता है । कहने का आशय यह है कि आत्मा में गति करने का स्वभाव है । आत्मा

स्वभावतः ऊर्ध्वगमन ही करना है। अतएव आत्मा कर्मरहित होने पर भी सीधे गति करता है।

अद्वैतवादी लोग सब जीवों में एक ही आत्मा होना कहते हैं, परन्तु उनका यह कथन युक्तिमग्न प्रतीत नहीं होता। अगर आत्मा एक ही हो तो एक आत्मा के सिद्ध होने पर समस्त जीवात्माओं को सिद्ध मानना पड़ेगा। इसी प्रकार एक के मुक्त होने पर सभी का मुक्त होना मानना पड़ेगा। पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। सब में एक ही आत्मा है, यह कथन पूर्वोक्त कारणों से तथा अन्य अनेक कारणों से युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। अतएव सबका आत्मा अलग-अलग है, यही मानना उचित है।

शास्त्रकारों ने राग द्वेष और मिथ्यात्व पर विजय प्राप्त करने का फल परम्परा से सिद्धिगति प्राप्त होना बतलाया है। जो अवस्था सिद्ध भगवान् ने प्राप्त की है वही अवस्था प्राप्त करने का हमारा भी प्रयास होना चाहिए। सिद्धिगति प्राप्त करने का दृष्टिबिन्दु सामने रखकर सतत अभ्यास किया जाये तो सहज ही वह प्राप्त हो सकती है। जिन महापुरुषों ने यह अवस्था प्राप्त की है, उन्होंने भी अभ्यास करते-करते ही प्राप्त की है। जो महापुरुष सिद्ध अवस्था प्राप्त करने का अभ्यास कर रहे हैं जिन्होंने राग द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है और जो देह में रहते हुए भी विदेह की भाँति रहते हैं, उन महापुरुषों द्वारा बतलाये मार्ग पर चलने से अग्न भी वह अवस्था प्राप्त कर सकते हैं। हाँ, उस मार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करना अपना काम है। पुरुषार्थ करते रहने से जब सिद्धिगति प्राप्त हो जाती है, तब कोई भी काम करना शेष नहीं रहता।

मार्गदर्शक मार्ग प्रदर्शित कर देता है, मगर उस मार्ग पर चलने का काम तो प्रवासी को ही करना पड़ता है । केवलज्ञानी महापुरुषो ने मोक्ष का मार्ग हमें बतलाया है । उस पर चलने का पुरुषार्थ हमें ही करना पड़ेगा । पुरुषार्थ किये बिना सिद्धि नहीं मिल सकती ।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ही उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषार्थ और पराक्रम का है । श्री उपासकदशागसूत्र के सकडालपुत्र के अध्ययन में इसी सिद्धान्त का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है । गोशालक का मत यह है कि उत्थान आदि कुछ भी नहीं है, जो होनहार है वही होता है । इस मत के विरुद्ध भगवान् का सिद्धान्त यह है कि उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम आदि द्वारा आत्मा सिद्ध होता है । संक्षेप में, भगवान् महावीर पुरुषार्थवादी थे और गोशालक नियतिवादी था ।

एक बार भगवान् महावीर ने सकडालपुत्र से कहा—आत्मा उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम से सिद्ध होता है । इस कथन के उत्तर में सकडालपुत्र ने कहा कि उत्थान आदि द्वारा आत्मा सिद्ध नहीं होता वरन् होने वाला हो तो हो जाता है ।

सकडालपुत्र पहले गोशालक का श्रावक था । इस कारण उसने गोशालक के मत का समर्थन किया । एक दिन सकडालपुत्र ने अपनी दुकान में से मिट्टी के बर्तन बाहर निकाले और धूप में सुखा दिये । तब भगवान् महावीर ने उससे कहा—हे सकडाल ! यह मिट्टी के बर्तन किस तरह बने हैं ?

सकडालपुत्र ने वर्त्तनो के बनने का क्रम बतलाते हुए कहा—जगल से मिट्टी लाया । फिर उसमें दूसरी चीजों का मिश्रण करके मिट्टी का पिंड बनाया । उसे चाक पर चढ़ाया और तब वर्त्तन बनाये हैं ।

भगवान् ने कहा—यह वर्त्तन उत्थान आदि से ही बने हैं न ?

सकडाल—नहीं, होनहार ही होता है ।

भगवान्—अगर कोई तुम्हारे वर्त्तनो को फोड़ डाले तो ?

सकडाल—मेरे वर्त्तन फोड़ने वाले को मैं बिना मारे नहीं छोड़ूंगा । मैं उसके हाथ-पैर तोड़ दूंगा ।

भगवान्—सकडाल ! तुम उसे इतना दण्ड क्यों दोगे ? तुम्हारे हिसाब से तो होनहार ही होता है, फिर तुम दण्ड क्यों दोगे ? तुम्हें अपने मतव्य के अनुसार तो यही मानना चाहिए कि लकड़ी के संयोग से वर्त्तन फूटने वाले थे सो फूट गए ।

भगवान् का यह कथन सुनकर सकडालपुत्र विचार में पड़ गया । इतने में ही भगवान् ने उसके सामने दूसरा उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा—हे सकडालपुत्र ! कल्पना करो, तुम्हारी पत्नी सिंगार करके बाहर निकली और कोई पुरुष उस पर बलात्कार करना चाहता है तो तुम क्या करोगे ?

सकडालपुत्र ने कहा—मैं ऐसे दुष्ट पुरुष के नाक-कान काट लूंगा, यहाँ तक कि उसे प्राणदण्ड देने का भी प्रयत्न करूँगा ।

भगवान्—हे सकडालपुत्र ! तुम्हारे मत के अनुसार तो होनहार ही होता है । फिर तुम्हें उस दुष्ट पुरुष को दण्ड नहीं देना चाहिए ।

भगवान् की युक्तिसंगत वाणी सुनकर सकडालपुत्र को बोध हो गया । उसने भगवान् से कहा—‘ भगवन् ! मैं धर्म श्रवण करना चाहता हूं । ’ भगवान् ने उसे धर्म का श्रवण कराया । भगवान् की धर्मवाणी सुनकर वह बारह व्रतधारो श्रावक बन गया । जब तक सकडालपुत्र धर्मतत्त्व को समझा नहीं था तब तक उसमें मताग्रह था । जब उसे वास्तविक धर्मतत्त्व का बोध हुआ तो उसने नियतिवाद का त्याग करके पुरुषार्थवाद का सत्यधर्म स्वीकार किया ।

सकडालपुत्र कुम्भार था, फिर भी भगवान् ने उसे श्रावक बनाया । क्या ऐसा करना ठीक था ? उन्होंने कुम्भार को श्रावक बना कर ससार के सामने आदर्श उपस्थित किया कि कोई किसी भी वर्ण या जाति का क्यों न हो, शरीर से छोटा या मोटा क्यों न हो, मुझे किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का पक्ष नहीं है । मैं सबका कल्याण चाहता हूँ । भगवान् के इस कथन पर तुम भी थोड़ा विचार करो ।

गोशालक ने सुना कि सकडालपुत्र ने मेरा मत त्याग दिया है । उसे फिर अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए गोशालक उसके पास पहुँचा । गोशालक ने विचार किया— सकडालपुत्र तो महावीर भगवान् का पक्का श्रावक बन गया है । तब उसने भगवान् की प्रशंसा करना आरम्भ किया ।

गोशालक ने सकडालपुत्र से कहा—‘ क्या यहाँ महासाहण, महायान, महानिर्यामिक, महागोप तथा महासार्थवाह आये थे ? ’

सकडालपुत्र ने गोशालक से इन विशेषणों का अर्थ पूछा । गोशालक ने अर्थ समझाया । तब सकडालपुत्र ने कहा— तुमने मेरे गुरु की प्रशंसा की है, इस कारण मेरी दुकान मे ठहरो और पाट आदि जो चाहिए सो ले लो । यह सब मैं तुम्हें गुरु मानकर नहीं देता हूँ वरन् अपने गुरु भगवान् महावीर की प्रशंसा करने के कारण दे रहा हूँ ।

कहने का आशय यह है कि भगवान् महावीर का सिद्धान्त उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषाकार तथा पराक्रम का है । 'जो होनहार है सो होगा' यह नियतिवाद गोशालक का मत है । हम भगवान् महावीर के उपासक हैं, अतएव सिद्ध-गति प्राप्त करने के लिए हमें पुरुषार्थ करना चाहिए ।

भगवान् महावीर का सिद्धान्त भवितव्यता-नियतिवाद का एकान्त निषेध भी नहीं करता । भगवान् के सिद्धान्त का मन्तव्य यह है कि भाग्य के भरोसे बैठकर पुरुषार्थ मत छोड़ो । पुरुषार्थ करते रहो । पुरुषार्थ करने पर भी जो होना होगा सो होगा । मगर होनहार के भरोसे पुरुषार्थ त्याग देना उचित नहीं है । पुरुषार्थ के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती । पुरुषार्थ बिना ही सिद्धगति प्राप्त हो सकती तो शास्त्र की या धर्मोपदेश की क्या आवश्यकता थी ? जो कार्य आप ही हो जाये उसके लिए श्रम करने का उपदेश क्यों दिया जाये ? वास्तव मे प्रत्येक कार्य पुरुषार्थ के अधीन है, अतएव पुरुषार्थ करते रहना चाहिए ।



# उपसंहार

सम्यक्त्वपराक्रम नामक २६ वां अध्ययन समाप्त हो रहा है। इस अध्यायन की समाप्ति करते हुए कहा गया है—

## मूलपाठ

एस खलु सम्मत्तापरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे सम-  
णेण भगवया महावीरेणं आधविए, पन्नविए, परूविए, दसिए,  
उवदंसिए ॥ ७४ ॥ ति वेमि । इअ सम्मत्तापरक्कमे अज्झ-  
यणे समत्ते ।

## शब्दार्थ

इस सम्यक्त्वपराक्रम नामक अध्ययन का अर्थ श्रमण  
भगवान् महावीर ने सामान्य में विशेष और विशेष में  
सामान्य निरूपण करके हेतु, फल आदि के द्वारा प्रकाशित  
किया है, उसका स्वरूप बतलाया है उपदेश दिया है, दृष्ट न्त  
आदि द्वारा समझाया है और उसका उपसंहार किया है ।

## व्याख्यान

इस सूत्रपाठ के साथ ही यह अध्ययन समाप्त होता  
है । इस अध्ययन में सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करने

को कहा गया है । यह बतलाया गया है कि सम्यक्त्वपूर्वक किये गये पराक्रम का फल क्या होता है ? समकित अर्थात् सच्ची श्रद्धा होने पर ही सब पराक्रम सार्थक होते हैं । जैसे एक का अक हो तो ही शून्य का महत्त्व होता है— अकेले शून्य का नहीं, इसी प्रकार समकितपूर्वक किया गया पराक्रम ही मुक्ति के लिए सार्थक होता है । कहा भी है—

एका से शून्य दस गुनी, एका बिन सब शून्य ।

जा घर एका पाइए, वांका भारी पुण्य ॥

अर्थात्—एक (१) अक पर शून्य (०) हो तो वह एक को दस बनाता है, पर अक के बिना अकेले शून्य का कोई महत्त्व नहीं है । इसी प्रकार मोक्षप्राप्ति के लिए किये गये पराक्रमों का मूल्य तभी है जब वह पराक्रम सम्यक्त्व-पूर्वक हो । समकित के अभाव में सभी पराक्रम व्यर्थ हैं ।

एक का अक होने पर भी इस बात का खास तौर पर ध्यान रखना पड़ता है कि शून्य उसके आगे लगाया जाये या पीछे । इसी प्रकार सम्यक्त्व होने पर भी इस बात का विचार करना आवश्यक है कि पराक्रम किस प्रकार किया जाये ? इस अध्ययन में यही विचार किया गया है कि सम्यक्त्व में किस प्रकार पराक्रम करना चाहिए । श्रमण भगवान् महावीर ने अर्थरूप से यह अध्ययन फर्माया है और गणधरो ने सूत्ररूप में इसे ग्रथित किया है । इसमें जो कुछ भी कहा गया है वह सम्यक्त्व में पराक्रम करने के लिए ही । सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद किस प्रकार पराक्रम किया जाये, जिसमें सरलतापूर्वक मोक्ष प्राप्त हो सके, यही अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है ।

प्रत्येक धर्मक्रिया का मूल सम्यक्त्व है । अन्य क्रियाएँ उसकी शाखाएँ हैं । मूल के अभाव में शाखाएँ नहीं हो सकती । साथ ही मूल सूख जाने पर शाखाएँ भी सूख जाती हैं । अतएव मूल का सुरक्षित होना आवश्यक है ।

सम्यक्त्व का सामान्य अर्थ है—श्रद्धा । धर्मक्रिया करने के लिए सर्वप्रथम श्रद्धा होना आवश्यक है । श्रद्धा होने पर ही धर्मक्रिया सफल होती है । इसलिए शास्त्र में कहा है :—

**सद्धा परमदुल्लहा ।**

अर्थात्—श्रद्धा अत्यन्त दुर्लभ है । ससार में अनेक वस्तुएँ दुर्लभ मानी जाती हैं परन्तु शास्त्रकारों ने मुख्यरूप से चार वस्तुएँ दुर्लभ बतलाते हुए कहा है—

**चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो ।**

**माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥**

अर्थात्—ससार में प्राणियों को इन चार वस्तुओं की प्राप्ति परम दुर्लभ है :—( १ ) मनुष्यत्व ( २ ) धर्मश्रवण ( ३ ) धर्मश्रद्धा और ( ४ ) सयम में पराक्रम ।

ससार में सम्पत्ति पाना, सत्ता पाना आदि दुर्लभ माना जाता है, परन्तु शास्त्रकार फर्माते हैं कि यह दुर्लभ मानी जाने वाली वस्तुएँ तो सुलभ हो सकती हैं परन्तु मनुष्यदेह मिल जाना और फिर उसमें मनुष्यत्व प्रकट होना, सत्यधर्म का श्रवण, सत्यधर्म के प्रति श्रद्धा और सयम में पराक्रम, यह चार वस्तुएँ तो अत्यन्त ही दुर्लभ हैं ।

सद्धर्म पर जब सच्ची श्रद्धा उत्पन्न होती है तो धर्म के लिए आत्मसमर्पण करने की भावना का भी उद्भव होता है । जिस कार्य पर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वह भले ही

कठिन हो, फिर भी उसे सम्पन्न किया जाता है । इसके विपरीत जिस पर श्रद्धा नहीं होती वह कार्य सरल होने पर भी भार मालूम होता है । अतएव जो कार्य करना हो, उसके प्रति दृढ श्रद्धा होना अत्यावश्यक है । श्रद्धापूर्ण कार्य के लिए किसी की प्रेरणा की भी आवश्यकता नहीं रहती । उदाहरणार्थ, पुत्र का विवाह करने के लिए कौन प्रेरणा करता है ? पुत्र के विवाह सम्बन्धी कार्यों में कठिनाई पेश आती है, परन्तु उस कार्य में श्रद्धा होने से दूसरे की प्रेरणा के बिना ही वह कठिन कार्य सरलतापूर्वक किया जाता है । जब व्यवहार में श्रद्धा की आवश्यकता है तो धर्म में श्रद्धा की आवश्यकता क्यों न होगी ? व्यावहारिक कार्य भी श्रद्धा के अभाव में सम्पन्न नहीं होते तो मोक्ष सम्बन्धी कार्य बिना श्रद्धा के किस प्रकार सम्पन्न हो सकते हैं ? अतएव भगवान् का कथन ध्यान में रख कर सम्यक्त्वपूर्वक मोक्ष के लिए पराक्रम करना चाहिए । अगर हम पूर्णरूप से भगवान् की वाणी को आचरण में नहीं ला सकते तो भी शक्ति के अनुसार तो उसे स्वीकार करना ही चाहिए । भगवान् की सम्पूर्ण वाणी तो गणधर भी नहीं धारण कर सकते । वे भी भगवद्-वाणी का कुछ अंग ही ग्रहण कर पाते हैं । ऐसी स्थिति में हमारे लिए तो यह सम्भव ही कैसे हो सकता है ? अतः भगवान् की वाणी पर हमें यथ शक्ति अगल करना चाहिए । हम अधिक न कर सकें तो कम से कम उस वाणी पर श्रद्धा तो रख ही सकते हैं । आचरण समान न होने पर भी श्रद्धा तो चौथे गुणस्थान और तेरहवें गुणस्थान वाले की समान ही हो सकती है । पक्षी अपनी चोंच में समुद्र नहीं भर सकते, मगर उस पर श्रद्धा तो सभी पक्षी रख

सकते हैं। इसी प्रकार अगर तुम भगवद्-वाणी का यथावत् पालन नहीं कर सकते तो उस पर श्रद्धा रखो और जितना बन सके उतना पालन करो।

प्रश्न किया जा सकता है कि हमें किस धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए ? आप जो कहते हैं वही दूसरे लोग भी कहते हैं। ऐसी दशा में किस धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पाठशालाएँ अलग-अलग होने पर भी कुछ बातें ऐसी होती हैं जो प्रत्येक पाठशाला में एक समान मानी जाती हैं। उदाहरण के लिए—पाँच और पाच दस होते हैं, यह बात प्रत्येक पाठशाला में समान रूप से सिखलाई जाती है। अन्य बातों में मतभेद हो सकता है मगर इसमें किसी प्रकार का मतभेद सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् के कहे हुए कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सबको समानरूप से मान्य हैं। उनके विषय में किसी का मतभेद नहीं है। दूसरे जो सिद्धान्त हैं उनकी अन्य मतों के सिद्धान्तों से तुलना करके देखो और विवेक-बुद्धि द्वारा उन पर विचार करो। तुम्हें स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा कि वीतराग भगवान् का कथन ही यथार्थ है। वीतराग भगवान् के कथन पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य मतों में भी अगर कोई अच्छी बात है तो वह भी अपने लिए ग्राह्य है। दूसरों के नय की उत्थापना न करके अपने नय की स्थापना करना ही स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद सातों नयों को स्वीकार करता है। वह सातों का संग्रह करके यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करता है। स्याद्वाद किसी नय का निषेध नहीं करता। इससे विपरीत अन्य लोग कोई एक बात पकड़ बैठते हैं और दुराग्रह करते हैं। जैनदर्शन

किसी बात का दुराग्रह नहीं करता । वह सबकी दृष्टि का यथोचित समन्वय करके पदार्थ का निरूपण करता है । अन्य मत जब पदार्थ का निरूपण एक ही दृष्टि से करते हैं, तब जैनदर्शन को सभी दृष्टियाँ मान्य हैं । यह बात समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए । इससे जैनधर्म की विशालता और मौलिकता का पता चलेगा

किसी गाव में एक हाथी आया । उसे देखने के लिए गाव के लोग जमा हो गए । उस गाव में कुछ अन्धे भी रहते थे । वे भी हाथी देखने चले । रास्ते में किसी ने उनसे कहा—तुम्हारे आँखें नहीं हैं, हाथी कैसे देख सकोगे ? अन्धों ने कहा—हम हाथ फेरकर हाथी देख लगे ।

अन्धे हाथी के पास पहुँचे और हाथ फेर कर उसे देखने लगे । एक अन्धे के हाथ में हाथी का दाँत आया । वह कहने लगा—मैं समझ गया, हाथी कैसा होता है ! हाथी मूसल जैसा होता है ।

दूसरे अन्धे के हाथ में हाथी की सूँड आई । वह पहले अन्धे से कहने लगा तेरा कहना गलत है । हाथी मूसल जैसा नहीं, कोट की बाड़ सरीखा होता है ।

तीसरे अन्धे के हाथ में हाथी का पैर आया । उसने कहा—तुम दोनों भूठे हो । हाथी खम्भा सरीखा है ।

चौथे के हाथ हाथी का पेट लगा । वह बोला—तुम तीनों भूठ कहते हो हाथी तो कोठी सरीखा होता है ।

पाचवें अन्धे के हाथ में हाथी के कान आये । वह बोला—तुम सभी भूठे हो । हाथी तो सूँप ( छाजला ) सरीखा है ।

इस प्रकार और भी अन्धे एक-दूसरे को भूठा कहने लगे और आपस में झगड़ने लगे । इतने में वहाँ एक आंख वाला मनुष्य आ पहुँचा । आंख वाले ने उन अन्धों से कहा— तुम लोग आपस में लड़ते क्यों हो ? तुम सब एक-एक अंश में सही कहते हो । पर जब सबकी मान्यताओं का समन्वय करोगे तभी हाथी का परिपूर्ण स्वरूप समझ में आएगा ।

आखिरकार उस आंख वाले पुरुष ने उन अन्धों को हाथी के एक ही अंग को हाथी मान लेने से कैसी भ्रमणा उत्पन्न होती है, यह बात समझाई और यह भी समझाया कि किस प्रकार सबके मन्तव्य का समन्वय करने से पूर्ण वस्तु का पता चलता है ।

इस दृष्टान्त का सार यह है कि जो व्यक्ति अन्धों की तरह वस्तु के एक अंश को स्वीकार करके अन्य अंशों का सर्वथा खंडन करता है और अंश को पकड़ रखने का आग्रह करता है, वह मिथ्यात्व में पड़ जाता है । दूसरे नयों का निषेध करने वाला व्यक्ति स्वयं जिस नय का अवलम्बन करता है, उसका वह नय दुर्नय बन जाता है । अतएव अपनी ही बात का हठ न पकड़कर दूसरों के कथन पर भी सम्यक्प्रकार से विचार करना चाहिए और विवेक के साथ पूर्वापर विचार करके सत्य वस्तु पर श्रद्धा रखनी चाहिए । यही सम्यक्त्व है । पुण्योदय होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है । स्याद्वाद सिद्धान्त किसी किस्म का दुराग्रह न करके यह मानने का उपदेश देता है कि जो सच्चा है सो मेरा, यह नहीं कि मेरा सो सच्चा । अतएव सम्यक्त्व प्राप्त करके मोक्ष की सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करो । सम्यक्त्व में पराक्रम करना ही मोक्षप्राप्ति का राजमार्ग है ।

जो वीतराग हैं उन्हें किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता । इस कारण वीतराग वाणी सदा सत्य, शिव और सुन्दर होती है । सराग और सदांप व्याक्त के वचनों में अपूर्णता हो सकती है, वीतराग देव की वाणी में अपूर्णता के लिए कोई स्थान नहीं । अगर वीतराग-वाणी को यथावत् समझने की बुद्धि तुममें नहीं है तो यही कहो कि वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है वही सत्य है इस प्रकार वीतराग-वाणी को तुम सत्य, शिव और सुन्दर मानोगे तो निश्चित रूप से आराधक बन सकोगे और आत्म-कल्याण साध सकोगे ।

प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् ने जो कुछ कहा है, वह कोई विवाद का विषय नहीं है । वह तो आचरण करने का विषय है । भगवद्-वाणी पर अमल करने वाला पुरुष स्व-पर का कल्याण साध सकता है । अतएव तुम किसी प्रकार वादविवाद में पड़े बिना ही भगवान् की वाणी के अनुसार व्यवहार करो । इसी में तुम्हारा कल्याण है ।

वादविवाद करने से न वस्तु का निर्णय ही होता है और न वादविवाद का अन्त ही आता है । जिसमें जितनी ज्यादा बुद्धि होगी वह उतना ही अधिक वादविवाद कर सकेगा और वाद विवाद करते-करते जीवन ही समाप्त हो सकता है । अतएव वाद विवाद में न पड़कर भगवान् के निर्दिष्ट मार्ग पर चलने में ही सम्यक्त्वपूर्वक पराक्रम करना चाहिए ।

निस्पृह होकर अपने आत्मा की तराजू पर भगवान् की वाणी तोलोगे तो भगवान् के वचन की सत्यता प्रतीत हुए बिना नहीं रहेगी । आत्मा स्वयं ही सत्य-असत्य तोलने के लिए तराजू है । अगर आत्मा कुटिलता का त्याग करके



सरलता धारण करे तो अवश्य ही यह निर्णय करने में समर्थ बन सकता है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है? आत्मा वास्तव में सिद्ध के समान है, मगर इस समय मोह में पड़ा है। इस मोह को हटा देना ही सिद्ध के समान बनने का उपाय है। आत्मा का कल्याण आत्मा के पास ही है। यह बात ध्यान में रखकर सम्यक्त्व के विषय में पराक्रम करो। इससे अवश्य ही स्व-पर का कल्याण होगा।

महावीर भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करके जिस धर्म की प्ररूपणा की है और जिमका वर्णन इस अध्ययन में किया गया है, उसका परिपूर्ण विवेचन तो कोई पूर्ण पुरुष ही कर सकता है। साधारण व्यक्ति के बूते का यह काम नहीं है। फिर भी आकाश का पार न पाने पर भी पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार आकाश में उड़ते ही हैं। 'मैं आकाश का पार नहीं पा सकता' यह सोचकर पक्षी आकाश में उड़ना नहीं छोड़ देता। इसी प्रकार यहाँ अपनी शक्ति और मति के अनुसार सम्यक्त्वपराक्रम अध्ययन का विवेचन किया गया है। अगर सूत्र का विवेचन पूरी तरह तुम्हारी समझ में न आया हो तो भी जितना समझो उतना ही जीवन में उतारो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

सर्वप्रथम वीतराग, देव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा करो यही कल्याण का मार्ग है।



